प्रकाशक
मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
इलाहाबाद।

मूल्य
सात रुपये ५० नये पैसे

मुद्रक
धीरेन्द्रनाथ घोष
माया प्रेस प्राइवेट लिमिटेड
इलाहाबाद।

प्रकाशकीय

कश्मीर के शासक जयापीड के प्रधान मंत्री दामोदर गुप्त कृत 'कुट्टनीमतं काव्यम्' संस्कृत की शृंगारपरक प्रबन्ध-काव्य परम्परा का अमूल्य रत्न है। वैसे तो वात्स्यायन का 'कामसूत्र' तथा अन्य ग्रन्थों के आधार पर विरचित अनेक शृंगार-ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में उपलब्ध हैं परन्तु कुट्टनीमत की अपनी एक निजी विशेषता है जिसके कारण इस ग्रन्थ को इतनी लोकप्रियता प्राप्त हुई। हजार वर्ष से अधिक के अन्तराल के बावजूद इस ग्रन्थ की महत्ता में कोई कमी न आई और आज राष्ट्रीय पुनर्जागरण के इस युग में जब हम उत्तराधिकार में प्राप्त अपनी प्राचीन निधियों के पुनर्मूल्यांकन में संलग्न हैं इस ग्रन्थ का फिर से अध्ययन और मनन करने की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है।

हमारे देश में प्राय आदिकाल से ही एक ऐसा वर्ग रहा है जो कभी प्रतिष्ठित और कभी उपेक्षित एवं बहिष्कृत होते हुए भी हमारे सामाजिक जीवन का अभिन्न एवं अनिवार्य अंग रहा है। संस्कृत साहित्य में तो इसके अगणित प्रमाण हैं ही, बौद्ध और जैन साहित्य में भी इसके प्रमाणों और उदाहरणों की कमी नहीं है। इस वर्ग विशेष की स्थिति, उपयोगिता, अनिवार्यता आदि के सम्बन्ध में हमारे आचार्यों ने बार बार विचार किया है और अपने मत को भी व्यक्त किया है। [illegible] जीवन स्वाभाविक हो अथवा अस्वाभाविक, [illegible] हो अथवा त्याज्य परन्तु प्रत्येक युग में अनिवार्य रूप से इसकी स्थिति रही है और उसने हमारे सामान्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित किया है इसमें कोई सन्देह नहीं।

यह बात भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि प्रायः अनिवार्य रूप से हमारे देश के [illegible] युग के सांस्कृतिक, राजनीतिक और धार्मिक केन्द्र [illegible] जीवन के भी महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहे हैं। बौद्धों की वाराणसी अथवा हिन्दुओं की काशी भगवान शंकर की कृपा से आदि काल से ही महाश्मशानमयी [illegible] के रूप में प्रतिष्ठित रही है परन्तु यही काशी आदि काल से ही [illegible] जीवन का केन्द्र भी बनी रही है। आज भी काशी की यह दशा [illegible] ज्यों की त्यों कायम है।

[illegible] दामोदर गुप्त ने काशी के इस [illegible] जीवन का चित्र तथा गम्भीर अध्ययन एवं विश्लेषण किया था। प्रस्तुत ग्रन्थ का आधार वाराणसी का ही [illegible] है। आरम्भ में ही कवि ने भगवान शंकर की प्रार्थना करते हुये कहा है—

> स जयति संकल्पभवो रतिमुखशतपत्रचुम्बनभ्रमरः।
> यस्यानुरक्तललनानयनान्तविलोकितं वसतिः॥

[जिसका निवास-स्थान अनुराग भरी ललनाओं के नेत्रों के कटाक्ष का [illegible] है, अपनी प्यारी रति के मुखरूपी कमल को चूमने वाला भौंरा संकल्प-रूप मन से उत्पन्न वह (मनोभव) कामदेव विजयी हो]।

[illegible] की प्रार्थना के बाद वाराणसी की [illegible] कवि ने [illegible] के साथ किया। इसके बाद कथा का आरम्भ करते हुए कवि ने कहा कि—

> [illegible] वाराणसी [illegible] इतीरिता [illegible]।
> [illegible] काशी नाम॥

(उस वाराणसी में मनसिज की शरीरधारिणी शक्ति-रूप में समस्त वेश्याओं में भूषण सी मालती नाम की एक वारांगना निवास करती थी)।

मालती सर्वगुणसम्पन्ना थी परन्तु उसको इस बात का क्षोभ था कि वह समुचित रूप से पर्याप्त संख्या में कामुक तरुणों को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाती। मालती ने सोचा कि क्यों न वह इस विषय का सम्पूर्ण ज्ञान रखने वाली वृद्धा कुट्टनी विकराला से जाकर अपनी शंकाओं का समाधान करे और प्रेमियों को आकृष्ट करने का उपाय पूछे। मालती विकराला के घर गई और उसके सामने अपनी समस्या रखी। उत्तर में विकराला ने वैशिक जीवन को सफल बनाने के उपायों से मालती को अवगत कराया। कवि दामोदर गुप्त ने विकराला के मुँह से उदाहरणों और प्रमाणों से पुष्ट जो उपदेश दिलवाये वही इस ग्रन्थ का वर्ण्य विषय है। इसमें कोई संदेह नहीं कि विकराला ने मालती को वैशिक जीवन को सफल बनाने के लिए जो उपाय बताये वे मनोविज्ञान एवं शरीर विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त पुष्ट और स्पष्ट थे। कवि दामोदर गुप्त ने तद्विषयक ग्रन्थों एवं ऋषि-वाक्यों का गंभीर अनुशीलन किया था। इसीलिए विकराला इतनी कुशलतापूर्वक स्त्री पुरुष के यौन-सम्बन्धों और वैशिक जीवन से सम्बद्ध बारीक से बारीक प्रश्नों का उत्तर दे सकी। इस प्रबन्ध काव्य में काव्य का विषय यद्यपि वैशिक जीवन ही है तथापि प्रसंगवश संगीत नृत्य एवं नाट्य कला पर भी सम्यक प्रकाश पड़ा है। काव्य की दृष्टि से तो दामोदर गुप्त की यह रचना अत्यन्त उत्कृष्ट है ही तत्कालीन सामाजिक जीवन पर भी इससे प्रखर प्रकाश पड़ता है और हमारी जानकारी इस सम्बन्ध में बढ़ती है। विकराला जब अपना उपदेश समाप्त कर देती है तो कवि का सर्वमंगलाकांक्षी हृदय यकायक चौंक उठता है। उसे लगता है कि अब तक के रसमयपूर्ण वर्णन से कहीं पाठकगण पथभ्रष्ट न हो जायें और वे वैशिक जीवन के मोहक पाश में आबद्ध होने के लिए लालायित न हो उठें। दामोदर गुप्त को यहीं अपने कवि धर्म की याद आती है और अन्तिम श्लोक में वह कह उठते हैं—

काव्यमिदं यः शृणुते सम्यक्काव्यार्थपालनेनासौ।
नो वञ्च्यते कदाचिद्विटवेश्याधूर्तकुट्टनीभिरिति॥

[इस काव्य को जो व्यक्ति काव्यार्थ का सम्यक प्रकार से पालन करते हुये (रक्षण करते हुये) श्रवण करता है वह कभी भी विट वेश्या धूर्त एवं कुट्टनी से धोखा नहीं खाता]।

यह कुट्टनीमत काव्यम् काव्य की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है। साथ ही तत्कालीन सामाजिक जीवन के अध्ययन की कुंजी भी है। इसमें कथाओं उपकथाओं एवं अन्तर्कथाओं का सहारा लेकर कवि ने शास्त्रीय दृष्टि से इस समस्या पर विचार किया है और विकराला के मुख से विज्ञान सम्मत उपदेश दिलवाये हैं। ग्रंथ की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है इसकी लोकप्रियता निर्विवाद है।

मूल के साथ भाषानुवाद एवं आवश्यक टीका टिप्पणियों के कारण हिन्दी पाठकों के लिए भी यह ग्रंथ बोधगम्य हो गया है। आशा है विज्ञ समाज में प्रस्तुत ग्रंथ समादृत होगा।

—श्रीकृष्ण दास

भूमिका

उपक्रम

कुट्टनी शब्द का विशिष्ट प्रयोग जितना पुराना है यह बतलाना बड़ा कठिन है किन्तु मानव मन में इस वृत्ति का उत्थान मानव इतिहास से जुड़ा हुआ है। यह उतना पुराना अवश्य है जितना पुराना यौन-सम्बन्धी नैतिक मूल्य है, जब कि उन्मुक्त कामाचार पर किसी प्रकार का बन्धन अथवा नियमन स्वीकार कर लिया गया। नैतिक मूल्य सामाजिक चेतना के परिणाम हैं। प्रत्येक जाति और युग का समाज किसी न किसी प्रकार के नैतिक मूल्य को स्वीकार कर लेने के बाद आने को गुह्य एवं गर्हित समझने लगता है। परन्तु आकर्षण उसके भीतर से जाने वाले उन्नत हो जाते हैं। फलस्वरूप मनुष्य की प्रवृत्तियाँ दुर्दम्य तथा परिस्थिति जन्य अर्थात् स्वनिर्मित मार्गों का स्वरूप बनाने के लिए सचेष्ट हो जाती हैं। कुट्टनी कर्म इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण है जिसका कारण कामाचार अथवा वेश्यावृत्ति से है।

व्युत्पत्ति

कुट्टनी अथवा कुट्टिनी शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ क्रमशः

'कुट्टयति नाशयति स्त्रीणां कुलम् इति कुट्टनी'

अथवा 'कुट्ट स्त्रीणां कुलनाशं कर्तव्यतया अति आचा

है। फिर 'कूट' शब्द का एक अर्थ है कैतव। कुट्टनी-कर्म भी इसी कोटि का है। इसके द्वारा नायक-नायिका का संयोग सुगम हो जाता है। इसके पर्यायवाची शब्द हैं शंभली माधवी अर्जुनी कुम्भदासी अपेक्षा और रत्नमाता।

सन्दर्भ

'कथा सरित्सागर' के द्वितीय लम्बक में गुहसेन और देवस्मिता की कथा आती है जिसमें परिव्राजिका योग-करण्डिका की शिष्या सिद्धिकरी का प्रसंग आया है। इस शिष्या के गुण कुट्टनी जैसे हैं, किन्तु यहाँ पर कुट्टनी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। क्षेमेन्द्र के 'कलाविलास'[1] और 'समय मातृका'[2] में यह शब्द आया है। वल्लभ के 'मुग्धोपदेश'[3] में भी इसका प्रयोग मिलता है। विष्णु शर्मा कृत 'हितोपदेश'[4] के मित्रलाभ प्रकरण के अन्तर्गत इस शब्द का प्रयोग देखने में आता है। कोकोक्ति में भी कुट्टनी का प्रयोग हुआ है।[5]

वेश्यावृत्ति

कामाचार और वेश्यावृत्ति में अल्पभेद है। कामाचार में रति सुख प्रधान है, जब कि वेश्यावृत्ति में अर्थोपार्जन प्रमुख है। 'कामसूत्र' में कहा गया है कि पुरुषों की प्राप्ति होने पर वेश्याओं में रति और जीविका नैसर्गिक ही है।[6]

वेश्या का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ

'वेशमर्हति वेशेन दीव्यति आचरति वेशेन पण्ययोगेन जीवति वा' है। इस शब्द के पर्याय हैं रण्डी वार-स्त्री गणिका क्षुद्रा धूर्ता सज्जिका वन्धुरा कुम्भा वर्मटी भोग्या भुजिष्या वार-वधू नगरवधू पतुरिया

---

१ भिक्षुक-तापस बहुविधपुण्यकला द्वीपदर्शनकला च ।
विप्रा कलातिसम्पूर्णा पर्यन्ते कुट्टनीकला वेश्या ॥४।११

२ व्यायामीव कुट्टनी यत्र रक्तपालाभिवैविणी ।
आस्ते तत्र प्रगल्भन्ते जम्बुका इव कामुका ॥१।४१
प्रविष्या कुट्टनीद्विष्मूर्हे लीलया विटाः ।
पाशा पठन्ति नायन्ति व्यवहारविचक्षिताः ॥१।४४
द्वारावहतकर्णासु प्रहृष्टपहृष्टेप्सया ।
कुट्टनीषु तृणापातेष्वप्युन्मुखीषु मुहुर्मुहुः ॥१।११

३ कुट्टन्याः पुनरस्त्रहोत्कर्षभिर्वं तथास्त्यगस्त्यवर्त
मत्प्रायप्रकृतिरेषैव सकलो रत्नाकरः कामिनि ॥११

४ गतानुगतिको लोकः कुट्टनीमुपदेशिनीम् ।
प्रमाणयति नो धर्मे यथा गोघ्नमपि द्विजम् ॥५७

५ कुट्टिन्यश्चतुरकथा जघन्यरोगाः (चतुर्भाणी पृ २५८)

६ वेश्यानां पुरुषाधिगमे रतिवृत्तिश्च सर्गात् ॥१।१

पण्यांगना रूपाजीवा गणिकान्विता स्वैरिणी कामगी धर्षिता कामलेखा नारी विलासिनी और भण्डहासिनी आदि। साधारणत पर-पुरुष-गामिनी नारी को वेश्या कहने की परम्परा है। 'ब्रह्म वैवर्त पुराण' में नारी के भेद का इस प्रकार स्पष्ट किया गया है —

पतिव्रतार्थकपत्नी द्वितीये कुलटा स्मृता।
तृतीये धर्षिणी ज्ञेया चतुर्थे पुंश्चली स्मृता॥
वेश्या च पंचमे षष्ठे युग्मी च सप्तमेऽष्टमे।
अत ऊर्ध्वं महावेश्या साऽस्पृश्या सर्वजातिषु॥ प्र ख ३१ अ०

उत्पत्ति

वेश्यावृत्ति के सन्दर्भ में महाभारत के आदिपर्व की दीर्घतमा वाली परम्परागत कथा का स्मरण हो आता है। इस कथा में वेश्यावृत्ति की उत्पत्ति का विवरण दिया गया है। दीर्घतमा एक अंध ऋषि थे। गर्भावस्था में ही उन्हें काम शिक्षा मिली थी। उनकी माता का अपने देवर से अनुचित सम्बंध था जिसका प्रभाव दीर्घतमा के संस्कार पर पड़ा। जब वे बड़े हुए तो उनका विवाह रूपवती प्रद्वेषी से हुआ। वयस्क ऋषि ने सौरभेय (कामधेनु पुत्र) से पशुवत् कामाचरण करने की शिक्षा प्राप्त की और उसे व्यावहारिक रूप देने लगे। इस आचरण से क्रुद्ध होकर अन्यान्य ऋषि-मुनियों ने उन पर नैतिक नियम भंग करने का आरोप लगाया। इन्होंने यह भी निश्चय किया कि दण्डस्वरूप इन्हें आश्रम से बाहर किया जाय। प्रद्वेषी भी अपने पति से अप्रसन्न हो गई थी। उसने कहा कि पति का धर्म है पत्नी का भरण और पोषण करना। तुम इसे पूरा करने में असमर्थ हो। मैं तुम जैसे जन्मांध का पालन नहीं कर सकती। तुमको अब मैं अपने पास नहीं रखूंगी। इस उक्ति से क्षुब्ध होकर दीर्घतमा ने घोषित किया कि "आज से मैं संसार के लिए यह नियम बनाता हूँ कि जो पत्नी आमरण केवल एक पति की होकर रहती है चाहे पति मर ही क्यों न जाय वह कभी पर-पुरुष का मुँह न देखेगी। किन्तु कुमारी हो अथवा विवाहिता पर-पुरुष के पास जानेवाली अपराधिनी होकर बहिष्कृत होगी। ऐसी स्त्री यदि पर-पुरुष के निकट जाय तो उस पुरुष को चाहिए कि वह विरुद्ध भाग का मूल्य चुकाये।[1]" धन लेकर समर्पण करने की प्रथा का आरंभ उसी दिन से हो गया।

सन्दर्भ

ऋग्वेद में उर्वशी द्वारा काम क्रीड़ा का उल्लेख आया है जिससे वेश्यावृत्ति के अस्तित्व का संकेत मिलता है। किन्तु यह कल्पना कठिन है कि उस कालावार में मनोरंजन का उद्देश्य किस मात्रा में निहित था। इसके अन्यान्य कारण भी हो सकते हैं। इस सन्दर्भ में दास प्रथा का भी नाम लिया जा सकता है। उधर

---

१ Johann Meyer : Sexual Life in Ancient India P 125-26

२ यदा युवा अपाको यस्मा साधारण्येव मरुतो मिमिक्षु।१।१६७।४

ग्रंथ में चार पति[1] तथा अवैध सन्तान[2] की भी चर्चा है। स्मृति ग्रंथों में कामाचार और वेश्यावृत्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं[3] जिनके लिए प्रायश्चित करने का विधान प्रस्तुत किया गया है। समाज की स्थिति इतनी बिगड़ी हुई थी कि कुछ लोग अपनी पत्नी तक का उपयोग वेश्या रूप में किया करते थे। आतिथ्य सत्कार के लिए विविध कलाओं में निपुण नारियों का उपयोग किया जाता था।[4] यह प्रथा अन्यान्य देशों में भी प्रचलित थी।[5] महाभारत के आदि पर्व में गान्धारी के गर्भवती होने पर धृतराष्ट्र के लिए वेश्या की व्यवस्था होने का उल्लेख है।[6] उद्योग पर्व में युधिष्ठिर द्वारा कौरवों की वेश्याओं को शुभकामना भेजने की चर्चा है।[7] उसी पर्व में कौरवों के दरबार में श्रीकृष्ण के आगमन के अवसर पर वेश्याओं द्वारा स्वागत किये जाने का वर्णन है।[8] उद्योग पर्व में ही यह भी कहा गया है कि युद्ध-यात्रा के समय पाण्डवों की सेना के साथ वेश्याएँ भी गई थी।[9] इस सन्दर्भ में वनपर्व और कर्ण पर्व भी द्रष्टव्य हैं। वेश्यागमन के लिए सम्भव 'प्राजापत्य' प्रायश्चित का नियम है। नारद स्मृति में कहा गया है कि यदि शुल्क स्वीकार करने के बाद वेश्या भोग-कर्म करने से इनकार कर दे तो उसे दण्ड का भागी बनना पड़ा।[10] याज्ञवल्क्य स्मृति तथा मत्स्य पुराण[11] द्वारा भी इसका समर्थन होता है। मत्स्यपुराण के ७० वें अध्याय में वेश्या धर्म का उल्लेख है। अन्यान्य कई पुराणों में प्रकारान्तर से वेश्याओं की चर्चा पायी जाती है। स्कन्द पुराण पद्म पुराण वामन पुराण ब्रह्म पुराण और भविष्य पुराण इनमें प्रमुख हैं।

---

१ ऋग्वेद १। ६६। ४; १। ११७।१८; १।१३४। ३

२ वही २। २९। १

३ बौधायन (२) २४—३ मनु ८—३६२ ४—२ ९ ४—२११; ९—२५९ याज्ञ १—८१ २—४८ २—२९०—९२; नारद १२—७८ स्मृतिच ७८—७९; गौतम २२-२७

४ महाभारत २।६१।८

५ Molennan Primitive Marriage, P 96

६ गान्धार्यां क्लिश्यमानायामुदरेण विवर्धता।
धृतराष्ट्रं महाराजं वैश्या पर्यचरत्किल॥ ११५।३९

७ उद्योग पर्व ३ ।३८

८ वही ८६।१५

९ वही १५१।५८

१० शुल्कं गृहीत्वा पण्यस्त्री नेच्छन्ती द्विस्तदाप्नुयात्।
अप्रयच्छंस्तथा शुल्कमनुभूय पुमान् स्त्रियम्॥ वेतनस्यानपाकर्म—१८

११ मत्स्य पुराण २२७।१४४—४५

राजगमनी महिला' में वेश्यावृत्ति को पद के रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु स्मृति ग्रंथों में इसे तिरस्कार के योग्य ठहराया गया है। फिर भी जातकों में हम इसे उपेक्षणीय स्थितियों में नहीं पाते। किसी-किसी वेश्यालय में तो पाँच सौ तक परिचारिकाएँ रखने की चर्चा है[1]। कहीं-कहीं तो इनके प्रति न्यूनाधिक सम्मान भी प्रदर्शित किया गया मिलता है। 'अंगुत्तर निकाय' में सत्त वाणिज्जा का उल्लेख है। बुद्धघोष की व्याख्या के अनुसार इसका अभिप्राय 'मनुष्य विक्रय'[3] से है जिसमें दास-दासियों के साथ अन्य नर-नारियाँ सम्मिलित समझी जा सकती हैं। वज्जियों में नगरवर्ती कन्याओं को गणिका बनाने की प्रथा प्रचलित थी। वास्तव में इसकी परम्परा बहुत पुरानी है। अधिकांश विद्वानों के अनुसार इस वृत्ति का सूत्रपात गणाओं, राजपुत्रों तथा श्रेष्ठियों आदि लोगों से समझा जाना चाहिए जिनके भोग्य से निम्नकुल ह्रास से उक्त वृत्ति को अपनाने के लिए बाध्य थी[4]।

अपितु वेश्याओं का एक तात्पर्य नगरवधुओं की उन सुन्दरियों से भी हो सकता है जिनका सौन्दर्य अधिकतर राज-पुरुषों तथा धन कुबेरों से हुआ करता था। इस सन्दर्भ में वासुदेव हिंडी का 'वसन्ततिलका प्रकरण'[5] तथा वात्स्यायन का कामसूत्र[6] द्रष्टव्य है। मूल सर्वास्तिवाद का 'विनय वस्तु' भी उल्लेखनीय है जहाँ आम्रपाली को पाँचों की गणभोग्या कहा गया है। साधारणतया यहाँ न कन्या की गणिका की चर्चा है जो चौंसठ कलाओं में निष्णात है और शृंगार कला में दक्ष है। वह बहुभाषाविद् है और उस वर्ष गणिका का अभ्यास है। गणिका का वर्णन में बैठकर छत्रधारिणी और चामरधारिणी बनने का भी गौरव प्राप्त था जो राजकीय सम्मान का प्रतीक था। वह वैदिक शिक्षा में भी निपुण हुआ करती थी[7]। इसका प्रसंग मूल सर्वास्तिवाद के 'विनय वस्तु' तथा 'दु नीमन' में भी आया है।

कथा सरित्सागर में ऐसी वेश्याओं का भी परिचय मिलता है जो अपनी पसन्द का मालिक चाहती हैं। 'बहुभाष्या' इसका ... स्वीकार करती है। आत्म विश्वास ने उनमें आत्मगौरव का भाव उत्पन्न कर दिया है। धार्मिक निपुण भी काला

---

१ Law Woman in Budlhist Literature P. 22 f

२ अंगुत्तर निकाय ३ पृ. २०८

३ Law The Life and work of Buddhaghosa

४ Barua Introduction to History of Indian Prostitution by Sinha and Basu

५ पृ. ११ (१) पृ० ८१ २ (७) पृ. १० f

६ प्र सार ६ पृ. १०

७ नई रंगमार पृ. १५६ और आगे का ... अध्याय २१

और उपकोशा ऐसी ही दो गणिकाएँ थीं जिनमें से पहली का प्रेमभाव स्थूलभद्र के प्रति था और दूसरी का वररुचि के साथ। उज्जयिनी की देवदत्ता भी ऐसी ही एक गणिका थी जिसका अनुराग पाटलिपुत्र के युवराज मूलदेव के प्रति था। उसने राजा के पास जाकर यह प्रार्थना की थी कि वे मूलदेव के अतिरिक्त अन्य किसी से सम्बन्ध स्थापित करने को उसे बाध्य न करें। 'मृच्छकटिक' की वसन्त-सेना और 'कथा सरित्सागर' की प्रतिष्ठान निवासिनी मदनमाला भी अपने वैभवपूर्ण जीवन के लिए प्रसिद्ध हैं। इस प्रसंग में बिन्दुमती की कथा भी उल्लेखनीय है जिसने अपनी सत्यप्रियता से गंगा की धारा ही पलट दी थी।

प्रेरणा और प्रभाव

कामाचार के साथ अर्थोपार्जन का लगाव हमारे समाज की उस स्थिति की ओर संकेत करता है जब कि व्यापार अस्तित्व में आ चुका था। आदान-प्रदान का माध्यम द्रव्य बन चुका था। इसलिये असंभव नहीं यदि पूर्वजों ने विदेशी व्यापार-केन्द्रों में जाकर वेश्यागमन सीखा हो। गाथा सप्तशती[1] से भी हमें वेश्या वर्ग का पता चलता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र[2] में गणिकाध्यक्ष का विधान है। काम सूत्रों[3] में तो इनकी चर्चा है ही नीति शास्त्र[4] भी इनके विषय में मुखर हैं। कालान्तर में इनका प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया कि काव्य और कला में भी इन्हें महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। गणिका वृत्त उदाहृत द्रष्टव्य है। बौद्ध और जैन साहित्य भी इससे अछूते न बचे। तब वे समाज में निन्द्य नहीं समझी जाती थीं। 'नगरसाधुली' इनकी एक संज्ञा बन गई। यहाँ तक कि धार्मिक क्षेत्र में भी इन्हें सम्मान प्राप्त होने लगा। देवदासी प्रथा इन्हीं की उपज है।

दासी

स्वयं 'दासी' शब्द का प्रयोग भी विचारणीय है। इसका सामान्य प्रयोग

---

१ धण्णासु गुरुअणुहुरसमाइणवहुआरँ समत्तलोअस्स।
सुरुअं णवणम्मविणिम्मिआइँ वेसाणँ वेम्माइँ ॥२।५६॥
के उव्वरिआ के इह ण खण्डिआ के ण लत्तपुण्णविहूआ।
वहुआईं वेसिणिओ णणन्दाइ एअ महुन्ति ॥५।७४॥

२ अध्याय २७

३ अन्यतोऽपि बहुशो व्यवसितचारित्रा तस्यां वेश्यायामिव
गमनमुत्तमवर्णाभ्यामपि न धर्मपीडां करिष्यति पुनर्भूरियम् ॥
—वात्स्यायन कामसूत्रम् १।५।६

४ राजा वेश्या यमश्चाग्निस्तस्करोबाल याचकौ।
पर दुःखं न जानन्ति अष्टमो ग्रामकण्टकः ॥
—चाणक्य नीति १८।१९

भोगा-गन्या के अर्थ में होता है। 'मेदिनी कोश' में 'दासी दासभुजिष्ययोः' कहा गया है। काश्मीर नरेश जयापीड के प्रधान मंत्री दामोदर की रचना 'कुट्टनीमत' में 'दासी कामुकी मकरन्दमा' सूचित किया गया है। इस ग्रंथ में दासी विषयक अनेक अन्य प्रमाण भी मिलते हैं जो इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं। वैजयन्ती के अनुसार 'वेश्या विलासिनी दासी' कहलाता गया है। कथासरित्सागर की दास्या कामुक द्वारा कदाचित् इसी ओर संकेत है। सुबन्धु कृत 'वासवदत्ता' में 'कामुक अनानुबध्यमान दासी' का भी अभिप्राय कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। राजशेखर प्रणीत 'कर्पूर मंजरी' में विदूषक चेटी को "आ दासीए पुत्त भुरुवस्कदायागागि" कह कर अपना रोष प्रकट करता है। 'मृच्छकटिक' का शकार भी वसन्त सेना के सन्दर्भ में "दासीए धीए गम पणिसन कर" द्वारा अपने मनोभाव व्यक्त करता है। उसी में वसन्त सेना पर क्रुद्ध होकर विदूषक "तं दासीए धीआए पविसिदाए मुहंपि वेक्खिदुं" कह कर अपनी मनोदशा का परिचय देता है। इन जैसे उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट है कि दासी शब्द का प्रयोग 'वेश्या' के अर्थ में अधिकतर किया जाता रहा है।

देवदासी

परन्तु देवदासी का कर्तव्य अत्यावृत्ति तक ही सीमित नहीं रहा है। उसे एक अन्य दायित्व का भी निर्वाह करना पड़ता था। उसे देवालयों में सेवा-कार्य भी करना पड़ता था। नारद स्मृति के अनुसार यद्यपि दासियों का कोई पृथक वर्ग नहीं है तथापि देवदासियों का है। यदि हम भारतीय वास्तु विद्या की विधियों पर विचार करें तो पता चलेगा कि नाट्यशालाएँ मन्दिरों का एक विशिष्ट भाग हुआ करती थीं जो आधुनिक थियेटरों के समान थीं। कालान्तर में यह अनुभव किया जाने लगा कि देव-देवताओं के समक्ष सामान्य पूजा-अर्चन एवं राग भोग के अतिरिक्त अन्य प्रकार की भी व्यवस्था होनी चाहिए। देवदासी प्रथा को किसी ऐसी ही प्रथा का परिणाम समझना चाहिए। लिङ्ग-पुराण के अनुसार शिव-मन्दिरों में बहुसंख्यक वेणु-वीणा वादन में प्रवीण पुरुषों के साथ "उत्तम स्त्री-नृत्यगेय नृत्यगेयविशारदै" की भी व्यवस्था की जानी चाहिए। स्कन्द पुराण के प्रमाण स्वरूप में भी शिव-मन्दिर में गायन वादन के बीच "कान्चीनूपुर शब्देन समायोगं विमलतरम्" का वर्णन आया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी देव दासी का उल्लेख है। इस प्रकार हिन्दू मन्दिरों में इस प्रथा का प्रचलन सम्भव हुआ। इस प्रथा के प्रचलन में बाह्य प्रभाव भी सम्भव हो सकता है क्योंकि यह प्रथा इसी देश की एकान्त विशेषता नहीं है।

पौराणिक सन्दर्भ

देवताओं और वारांगनाओं के सम्बन्ध का उल्लेख महाभारत के वन पर्व में मिलता है। उस स्थान पर उर्वशी द्वारा अर्जुन से कहलाया गया है कि "हम

थी देवताओं की आराधनाएँ हैं तपस्या से ही हमारा रमण संभव है' । अश्वघोष कृत 'सौन्दरानन्द काव्य' के अनुसार देवताओं के यहाँ वेश्याएँ भी रहा करती थी जो 'सदा युवत्यो मदनैक कार्या' जैसे गुणों से सम्पन्न थी। वैसे बौद्ध काल में मन्दिरों का अधिक प्रचलन नहीं रहा है जिस कारण बौद्ध साहित्य में यह सन्दर्भ अति न्यून मात्रा में उपलब्ध है जो कुछ है भी वह अपवाद स्वरूप।

प्रश्न उठ सकता है कि देवताओं के सम्पर्क में रहने वाली देवदासियों का वर्णहीन होना क्यों समझा जाने लगा था। इसका कोई स्पष्ट उत्तर हमारे पास नहीं है फिर भी यह अनुमान करने का आधार मिल जाता है कि वर्ण क्रम में देवदासियाँ वास्तव में दास-कन्याएँ थी। इसलिये उन्हें वह सम्मान सुलभ न हो सका जो आभिजात्य वर्ग की कन्याओं के लिए उपयुक्त समझा जाता था। पुरातन काल म दासी को भोग्य सामग्री समझने की परंपरा थी। महाभारत' म स्पष्ट होकर विदुर ने एक स्थल पर भर्त्सना की है कि "दासीभावेन कृष्णाञ्च भोक्तुकामः सुतास्तव । हेमाद्रि ने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' के दानखण्ड में एक ऐसे मत्र को उद्धृत किया है जिसका उच्चारण दासी-कन्या के ब्राह्मण को भेंट किये और जाते समय करना चाहिए—

इयं दासी मया तुभ्यं भोक्त्री प्रतिपादिता।
तया कर्मकरी भोग्या यथेष्टं ब्राह्मणसुते॥

देवदासी का सर्वाधिक प्राचीन उल्लेख हमें पुराणों मे प्राप्त है। 'पद्म पुराण के सृष्टि खण्ड मे कन्यादान माहात्म्य का वर्णन एक ऐसे ही सन्दर्भ मे किया गया है—

मुनीनां प्रेयसी नारीं युवतीं रूपशालिनीम्।
सालंकारां तन्नम्याऽऽञ्च वस्त्राभरणभूषितां शमेन्॥
अनयोच्य कर्म तुभ्यं युवती कन्ययोरपि।
एकान्तराय शतम्या अपरा ब्राह्मणाय तु॥
क्रीता देवाय शतम्या वीरेण विप्रस्य कर्मणा॥
कन्यकार्थं भवेत् स्वर्गं नृपो दासी महापत्नी।
प्रति जन्म लभेतैव सुपत्नी वरवर्णिनीम्॥५२।९७—१ •

'स्कन्द पुराण' के अवन्त्याखण्ड माहात्म्य के महेश्वर खण्ड मे बतलाया गया है कि—

मनर्तनाख्यो नृपतिर्महीमु देवस्यकाम्।
अवन्त्याधिपतेर्पार्थं कुर्वन्ती सादरोऽभवत्॥
अभवत् कपिमुनो जानी मणिशिखोभितो नृप।
प्राणम्य तां पुनश्चाम्याः प्रासादवनभूभृते॥
ततश्चासमुनो जाता प्रासादारवनाधिप॥६।५४—५६

/

इसी ग्रन्थ में मार्कण्डेय ऋषि से कहलाया गया है कि—

> मया च साम्बपुत्रस्य कृताभ्यासुनिसम्मताः।
> सप्त कन्या वरारोहा पुत्रार्थं विनियोजिता ॥९।१३६

इसी प्रकार राजा कर्णदेव के विषय में कहा गया है कि—

> सोमवर्षप्राप्तिनीरतस्य परिवार वशीपमतः।
> सेवाय सोमनाथस्य दत्तवान् दीपदर्शन ॥२४।१२

भविष्य पुराण में निर्देश है कि—

> वेश्याकदम्बकं यस्तु दद्यात्सूर्याय भक्तितः।
> स गच्छत्परमं स्थानं यत्र तिष्ठति भानुमान् ॥९३।६७

चतुर्वर्ग चिन्तामणि में हेमाद्रि ने 'कालोत्तर तन्त्र' का उद्धरण दिया है—

> योऽलङ्कृत्य स्त्रियं सम्यक् शम्भोस्तस्मै विनिवेदयेत्।
> सोऽग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं शतगुणं लभेत्॥
> सुविनीतां स्त्रियं यस्तु भक्तयार्थं निवेदयेत्।
> नरमेधस्य यज्ञस्य फलं शतगुणं लभेत्॥ पृ ६४१—२

उपर्युक्त उद्धरणों से हमें कुछ निष्कर्ष निकालने का आधार मिल जाता है। 'पद्मपुराण' की रचना लगभग चौथी शताब्दी है और सम्भवतः इसकी रचना महाराष्ट्र में हुई थी। इस पुराण में किसी घटना का ठीक-ठीक पता नहीं चलता किन्तु यह देवदासी प्रथा की मान्यता अवश्य करता है। इसके विपरीत राजतरंगिणी की रचना [illegible] पर पुराण निश्चित घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करता है और उसके समर्थन में परम्पराओं का उल्लेख करता है। हेमाद्रि द्वारा 'कालोत्तर तन्त्र' का प्रस्तुत उद्धरण शैवमतावलम्बियों का परिचायक है। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि 'भविष्य पुराण' वाले उद्धरण का सम्बन्ध सूर्य मन्दिर से है और फिर भी [illegible] दाक्षिणात्यों द्वारा मान्य रहता है। इस प्रथा का उल्लेख कदाचित् [illegible] ने [illegible] निवासियों में बतलाया था [illegible] इस प्रकार की प्रथा प्रचलित थी। इससे दाक्षिणात्यों का [illegible] के कारण [illegible] भी था। यद्यपि [illegible] विद्वानों ने इस पर [illegible] का प्रभाव देखा है। [illegible] कारण से [illegible] कदाचित् इसमे पुराने नहीं हैं जिनमें [illegible] आये हैं। अतएव इसके देवदासी प्रथा के प्रचार का भी समय [illegible] प्रतीत होता है।

[illegible] है कि देवदासी बनने के लिए सभी [illegible] एक प्रकार के [illegible] थी। यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि [illegible] [illegible] किया जाता था। इस सन्दर्भ में [illegible] [illegible] है।

बौद्ध और जैन साहित्य

यह प्रथा दाक्षिणात्यों में बौद्धों एवं जैनों के अतिरिक्त प्रचलित रही है। परन्तु 'धम्मपद' की टीका में बुद्ध कस्सप के प्रतिमा-स्थापन के प्रसंग में एक रोचक वर्णन आता है जिसके अनुसार अगुआ (मुखिया) बनने के निमित्त एक ग्रामीण ने अपने पूरे परिवार को देव-पूजा के नाम पर अर्पित कर दिया। इसी प्रकार देवदत्ता नामक एक कुमारी दासी कन्या ने अपने को जिन की प्रतिमा की सेवा में लगा दिया जिसका उल्लेख पैशाची के महाराष्ट्रीय प्राकृत कथाओं में पाया जाता है। इस कथा का सम्बन्ध उज्जैनी के राजा पज्जोत और उदयन से है। फिर भी सामान्यतः इस प्रकार की किसी प्रथा को ये प्रश्रय देते नहीं जान पड़ते। कदाचित् इसी कारण जैन साहित्य इस प्रश्न पर मौन है।

शिलालेख

ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी की जोगीमारा की गुफाओं के शिलालेखों में भी देवदासी प्रथा के अस्तित्व का पता चलता है। यह गुफा देवदासी सुतनुका के आदेश पर निर्मित हुआ था और इसका उपयोग उनके विश्राम-गृह के रूप में होता था यद्यपि डा काशी प्रसाद जायसवाल इस निष्कर्ष से सहमत नहीं जान पड़ते।

तंजोर के राजमन्दिर में भी एक ऐसा शिलालेख है जिसके अनुसार दसवीं ग्यारहवीं सदी के सुप्रसिद्ध चोलराजा ने शिव-पूजा के निमित्त चार सौ देवदासियों के पालन पोषण के लिए कुछ भूमि दान-स्वरूप भेंट की थी। यह दान महाराष्ट्रीय 'ज्ञानकोश' के अनुसार १ ४ ईसवी में किया गया था। इसी प्रकार 'इपिग्रैफिका कर्नाटिका' में महामण्डलेश्वर चामुण्ड रायरस का उल्लेख है जिन्होंने मल्लेश्वर और मन्दिर से सम्बद्ध कुण्डराज की छोटी बहन बीचा दग्मी को कुछ भूमि दान में दी थी।

ऐतिहासिक सन्दर्भ

ऐतिहासिक तथ्य के रूप में देवदासी प्रथा का प्राचीनतम उल्लेख हमें सातवीं शती के चीनी विद्वान युवान च्वांग के यात्रा-विवरणों में मिलता है। जब वह 'मु—लो—सान—पु—लो' (मुलस्थानपुर—मुल्तान) स्थित सुप्रसिद्ध सूर्य मन्दिर को देखने गया तो वहाँ उसने लगातार गाने वालियों को पाया। ये गाने वालियाँ सम्भवतः देवदासियाँ रही होंगी। 'भविष्य पुराण' में भी इसका समर्थन होता है। इस सन्दर्भ में आठवीं-नवीं शती के अरब भूगोलवेत्ता अल्-इद्रिसी और अबू जैद-अल् हसन आदि के उन वर्णनों का भी स्मरण हो आता है जहाँ पर उन्होंने अरब आक्रमणकारी मुहम्मद बिन कासिम के सिन्ध आक्रमण के प्रसंग में उक्त मन्दिर का उल्लेख किया है। आठवीं शती की रचना 'कुट्टनीमत' में भी ऐसी कन्याओं की चर्चा है। जिन मूर्तियों की पूजा की जाती थी उनको 'बोद' अथवा 'बोड' कहने की प्रथा थी जो बद्ध या बुत का भी समानार्थी हो सकता है। क्योंकि ईरान में बुद्ध मूर्तियों के ही आधार पर बुत कहने की प्रथा

कर मिलती। कल्हणकृत 'राजतरंगिणी' में कश्मीर राजा जलौक का यह वर्णन भी ध्यान देने योग्य है जिसमें उसने प्रसन्न होकर अपने रनिवास के सौ स्त्रियों को देवालयों के सम्मान में नाच-गाने का आदेश दिया था। यही नहीं राजा अभिज्ञानिन्द्र (आठवीं सदी) के सन्दर्भ में भी गुरु वर्द्धमान काल की एनी ही का देवदासियों का उल्लेख है।

मध्यकालीन सन्दर्भ

ग्यारहवीं सदी के मुस्लिम इतिहासकारों ने जो सोमनाथ मन्दिर पर आक्रमण के समय महमूद गजनी के साथ थे लिखा है कि उन्होंने उसी मन्दिर की पाँच सौ नाचने-गाने वाली स्त्रियों को देखा जो मूर्ति के समक्ष बराबर नाची-गातीं थीं। तारीख-ए-अल्फी' में भी इस मन्दिर का वर्णन है जहाँ पर बतलाया गया है कि "इस मन्दिर में तीन सौ गवैये और पाँच सौ नर्तकियाँ सम्बद्ध हैं। यह यहाँ की प्रथा है कि भारत के राजे-महाराजे तक अपनी कन्याओं को मन्दिर सेवा के लिए भेज दिया करते हैं। इस प्रकार एक समय ऐसा भी आया कि दाक्षिणात्य मन्दिरों के प्रभाव में दक्षिण से लेकर उत्तर तक यह देवदासी प्रथा प्रचलित हो गई। इससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रथा का प्रसार अधिकतर शिव एवं सूर्य मन्दिरों तक ही सीमित रहा। दामोदर गुप्त लिखित 'कुट्टनीमत' के आधार पर काशी विश्वनाथ मन्दिर की ऐसी स्थिति तक का परिचय मिल जाता है। वामन पुराण का काशी-वर्णन इस कथन से अद्भुत साम्य रखता है।

परन्तु यहाँ उनका निजी स्वार्थ था मन्दिरों का नहीं जब कि सोमनाथ और इतर आसपास के देव-स्थानों के उनसे सम्बद्ध मन्दिरों का भी इतिहास निहित था जैसा कि अब तक हमने सूचित किया है। फिर भी 'स्मृति कौमुदी' के प्रमाण पर ऐसे कार्यों के लिए केवल स्त्रियों की नियुक्ति नहीं होती थी। पुरुषों की भी भर्ती की जाती थी—

गायिकोऽथ तथागुल्मं वाद्यभेदपर्वतानपि।
योज्यो देवपुरे राजा धर्मार्थकर भीरवा॥ पृ० ७१

के लिए ये उपयुक्त हैं। इनका कल्पित विवाह सम्भवतः जगन्नाथ से हुआ करता था किन्तु व्यवहार में पुजारी वर्ग रात्रिकाल में इनका उपभोग करता था।

फ़रिश्ता ने बहमनी राज्य के संस्थापक सुल्तान अलाउद्दीन बहमनी (चौदहवीं शती) के कर्नाटक विजय के प्रसंग में लिखा है कि उस सुलतान ने चार सौ मुरलियों को हस्तगत किया था। इसमें सन्देह नहीं कि उसने उन्हें अपने हरम में रख लिया होगा।

विदेशी पर्यटक

विदेशी यात्री मार्कोपोलो (तेरहवीं शती) ने लिखा है कि 'मालाबारी नर-नारी" (शिव-शक्ति) के प्रतिमा-पूजक हैं जिन्हें वे अपनी कन्याएँ अर्पित करते हैं जो महन्त अथवा पुजारियों के आदेशानुसार मूर्ति की प्रसन्नता के हेतु नाचती-गाती हैं। इटालियन यात्री निकोलो कान्टी (पन्द्रहवीं शती) ने भी विजय नगर में रथ-यात्रा के समय मूर्ति के समक्ष रखी-सजायी नारियों द्वारा स्तुति-गान करने की चर्चा की है। एक अन्य विदेशी यात्री पैस्पोवाली के अनुसार विजयनगर राज्य के निवासी धार्मिक उमंग में अपने माता पिता द्वारा अर्पित स्त्रियाँ जो मूर्ति पूजा में संलग्न रहती हैं मूर्ति-पूजा की व्यवस्था और अपने भरण-पोषण के लिए अपना शरीर बेचती हैं। विजयनगर के एक स्थान पर ऐसी चार सौ वेश्याएँ निवास करती हैं। इसकी पुष्टि सोलहवीं शती के पुर्तगाली यात्री डोमिंगो पेज के विवरण से भी होती है जिसने कारवार के किसी मन्दिर की चर्चा इस सन्दर्भ में की है। सोलहवीं शती के अंत में फर्म पिटा ड विल और रिनिमो ने सिमूर की उस यात्रा का देखा था जिसमें दीपवाहिनी बीस नर्तकियों का उल्लेख है जो गायकों तथा वादकों के साथ अविवाहितावस्था में मूर्ति-सेवा करती हैं। अन्यत्र यह भी कहा गया है कि इन मन्दिरों की बड़ी आय है जिनमें से कुछ की आय रमणी स्त्रियों की भक्ति भावना के कारण बढ़ जाती है या इस हेतु वेश्यावृत्ति तक में उतर आती हैं। फ्रेंच यात्री बर्नियर (सत्रहवीं शती) ने भी अपनी जगन्नाथ यात्रा के प्रसंग में कुछ ऐसा ही वर्णन किया है।

ज्ञानकोश

महाराष्ट्रीय 'ज्ञानकोश' के अनुसार शाहंशाह औरंगजेब ने औरंगाबाद के प्रवास-काल में सतारा के खंडोबा मन्दिर में प्रचलित हिन्दुओं की मुरली प्रथा (देवदासी प्रथा) के विरुद्ध निषेधात्मक कानून लगा दिया था। इस प्रकार दक्षिण में यह प्रथा उस समय भी प्रचलित रही जब कि उत्तर भारत में इसका विशेष पता नहीं चलता। दक्षिण भारत में कालान्तर विवाहिता के बजाय अविवाहिता कन्याओं को ही देवदासी बनाने की प्रथा चल पड़ी और ये गाने नाचने वाली लड़कियाँ संगीत विद्या की अधिकारिणी समझी जाने लगीं। कहा जाता है कि अठारहवीं शती में टीपू सुल्तान ने माता पिता द्वारा मन्दिरों के लिए बालक

बालिकाओं का अर्पित करने की प्रथा का निषेध कर दिया था। पर बालक बालिकाओं को मालाबार क्षेत्र में कृषि-श्रम करने के लिए खरीद लिया करता था।

प्रसार

बम्बई में देवदासियों का एक नाम 'भाविन' भी प्रचलित रहा है। सार्वजनिक रूप से उनका गाना-बजाना वर्जित रहा है। 'शेज विधि' के अनुसार मूर्ति के साथ कुमारी कन्या का विवाह कर दिया जाता था अर्थात् देवता द्वारा धारण किये हुए किसी कटार के साथ उसका विवाह सम्पन्न होता था। ये अधिकतर मराठा सरदारों की दासियों द्वारा उत्पन्न कन्याएँ होती थीं। इसके विपरीत 'मुरली' मराठा शूद्र जाति की थी। इन्हीं जातियों में भण्डारी, कुनबी, पामड़ और नायक आदि के नाम गिनाए जाते हैं।

असम प्रदेश में देवदासी प्रथा की भाँति 'डोह-पत्नी' अथवा 'देव-पत्नी' प्रथा प्रचलित रही है जिसका सम्बन्ध देव-मन्दिरों से रहा है।

मद्रास में देवदासियों का दीक्षा-संस्कार विचित्र रीति से होता रहा है। आरती द्वारा आरम्भ होकर पुजारी द्वारा हार जैसी किसी वस्तु से दिए जाने से उसका समापन होता रहा है। देव-पूजन के फलस्वरूप उस अंग-अंग और आवास की शिक्षा से मुक्ति मिल जाती रही है। पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार वह एक रात्रि में किसी एक ही 'ठेठ पुजारी' के साथ अंकशायिनी हो सकती थी। उसके द्वारा अर्जित आय का या तो बँटवारा हो जाता था अथवा मन्दिर के अधिकारियों द्वारा वह हस्तगत कर लिया जाता था। यह प्रथा कर्नाटक के गुरुवायूरप्पन दोनों में ही प्रचलित रही है। अस्पृश्यों के होलेय और मद जातियों में इनकी संख्या अधिक रही है। यहाँ पर इन्हें 'बसवी' कहने की परम्परा है। इसी प्रकार तेलंगाना में वे 'कसबी' कहला कर प्रसिद्ध हैं। वेंकटगिरि (कर्नाटक) के कई अन्य जातियों में यह प्रथा रही है कि वे अपनी ज्येष्ठ कन्या को मनौती होने के पूर्व ही किसी मन्दिर को भेंट कर दिया करते थे।

इस सन्दर्भ में यह एक रोचक तथ्य है कि हिन्दुओं की देखा देखी कतिपय मुस्लिम सम्प्रदायों ने भी देवदासी प्रथा को किसी-न-किसी रूप में अपना लिया जिसे समाज में 'अकूती' कहते रहे हैं। उनका स्मारक स्वरूप उस समय की एक पत्नी 'अकूती' कहला कर प्रसिद्ध है।

उपर्युक्त विस्तृत विवरण तथा विवेचन से यह भ्रान्ति कदापि न होनी चाहिए कि कुट्टनी-कर्म अथवा वेश्यावृत्ति चाहे वह धार्मिक क्षेत्र से ही क्यों न रही हो भारतीय समाज की एकमात्र विशेषता है। इसके विपरीत संसार के अधिकांश भू भाग में यह प्रथा किसी-न-किसी रूप में आज भी प्रचलित है जो उसके अपने देश के सामाजिक एवं धार्मिक रूप की एक विशेषता है।

श्री सत्यव्रत शास्त्री ने दामोदर कृत 'कुट्टनीमत काव्यम्' का भाष्यानुवाद

हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया है और पाद टिप्पणी तथा अनुवादकीय द्वारा अन्य ज्ञातव्य बातों को सूचित कर दिया है। जिज्ञासु पाठक इससे अवश्य ही लाभान्वित होंगे। मैंने अपनी भूमिका द्वारा उन तथ्यों का उद्घाटन करने का यत्न किया है जिनकी पृष्ठभूमि में विषय-बोध सुगम हो सकेगा। हमें आशा करनी चाहिए कि इस अनुवाद द्वारा देश के सामाजिक तथा सांस्कृतिक अध्ययन को नयी दिशा एवं प्रेरणा मिलेगी। भूमिका तैयार करने में जिन रचनाओं से मुझे सहायता मिली है उन सभी के लेखकों के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ।

नागपंचमी
२ १७

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

काव्य रसिक
डॉ० नगेन्द्र को
सप्रेम

अनुवादक की ओर से

कुट्टनीमत आठवीं शताब्दी के कश्मीरी कवि श्री दामोदरगुप्त का एकमात्र उपलब्ध रचना है। कल्हण की 'राजतरंगिणी' के अनुसार दामोदर गुप्त कश्मीर के राजा जयापीड़ (७७९—८१३ ई.) के आश्रित कवि और प्रधान मंत्री थे। जयापीड़ के कुछ दुर्गुण और अन्त में वह विलासिता में डूब गया था। यह सब ये स्थितियाँ कवि के मन पर विशेष प्रभाव डालतीं, स्वाभाविक था और कुट्टनीमत के निर्माण का यह कारण नहीं समझा जा सकता है। जैसा कि इस काव्य के कथा-विषय है उससे विदित होता है कि तत्कालीन भारतीय समाज और विशेष कर कश्मीर अत्यन्त विलासी हो गया था। विलासिता जब अपनी चरम स्थिति में पहुँच जाती है तब उसमें दुराचार, व्यभिचार, अनाचार आदि सबसे ऊपर उभर कर सामाजिक जनजीवन का ह्रास कर देते हैं। ऐसी स्थिति में किसी भी समाजसेवक का कर्तव्य हो जाता है कि वह विकृत हुए समाज को सुधार और जनजीवन को उन्नत करने का प्रयत्न करे। कुट्टनीमत काव्य के निर्माण की पृष्ठभूमि प्रायः यही हो सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि इतना प्रतिभाशाली कवि होने के नाते समाज के विकृत वातावरण का चित्र में चित्रित करना उसका कर्तव्य था। ऐसी स्थिति में अपने कर्तव्य का पालन बता कर पथविचलित समाज को सचेत करना उसे अभीष्ट था। फलतः कुट्टनीमत की रचना हुई।

काव्य आखिर काव्य होता है। समाज-शास्त्र नहीं। समाज के सामने काव्य के माध्यम से जो कुछ रखा जाता है वह निश्चय ही समाज शास्त्र का भी लक्ष्य होता है परन्तु दोनों के माध्यम में मूलतः अन्तर है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने इसीलिए काव्य को 'कान्तासम्मित उपदेश' माना है प्रभुसम्मित और सुहृत्सम्मित उपदेश काव्य के विषय नहीं। इस दृष्टि से आदि से अन्त तक इस काव्य में काव्यत्व की रक्षा की गई है और पर्यन्त में सिर्फ यह कह कर समाप्त कर दिया है कि—

काव्यमिदं यः शृणुते सम्यक् काव्यार्थपालनेनासौ।
नो वञ्च्यते कदाचिद् विटवेश्याधूर्तकुट्टनीभिरिति॥

अर्थात् इस काव्य को काव्यार्थ का सम्यक् पालन करते हुए जो श्रवण करेगा वह विट वेश्या धूर्त और कुट्टनी से कभी वञ्चित नहीं होगा।

सचमुच एक ओर अपने काव्यत्व की पूर्णता में और दूसरी ओर निदर्शनत्व की क्षमता से कुट्टनीमत एक प्रकार का विलक्षण निर्माण है। यह आकाश-दीप की भाँति संस्कृत-साहित्य के स्फीत आकाश में अपनी विभिन्न मोहक रश्मियों को लिए जगमगाता हुआ एक ओर सहृदय को अपने कान्तिभार से आकृष्ट भी करता है दूसरी ओर उसे सजग और सतर्क भी बना देता है।

काव्य का आरम्भ भगवान् अमोघवीर्य कामदेव की मङ्गलकामना से हुआ है और दूसरे ही श्लोक में कवि अपना विनय करने के बहाने सहृदयों से काव्य के चरित्र आदि दोषों की ओर ध्यान न देकर गुणलेश की ओर दृष्टि देने के लिए प्रार्थना करके प्रस्तुत चर्चा में लग जाता है। इसमें प्रयुक्त एकमात्र छन्द आर्या है जो छन्द शास्त्र के अनुसार बहुभेदवती होने पर भी यहाँ परिमित ही प्रयुक्त है।

कुट्टनीमत के प्राप्त होने और प्रकाश में आने का इतिहास भी यहाँ उल्लेखनीय है। यह ग्रन्थ सदियों से अप्राप्त होने के कारण यत्र-तत्र के उद्धृत श्लोकों मात्र से विद्वानों को विदित था। यह पीटर्सन महाशय को १८८१ ई० में गुजरात के पाटनस्थित शान्तिनाथ मन्दिर के पुस्तक भाण्डार में ताड़पत्र पर आनुमानिक चतुर्दश शताब्दी में लिखित प्राप्त हुआ। भक्षिका की चिरभुक्ति के बाद जर्जरित होकर भी यह 'अपूर्ण एवं अशुद्ध' होने के कारण विद्वानों के लिए गम्भीर चिन्ता का विषय बना रहा। १८८७ ई० में जयपुरीय महामहोपाध्याय दुर्गाप्रसाद ने इस ग्रन्थ के और भी प्राप्त दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर निर्णयसागर प्रेस बम्बई से 'काव्यमाला' के तृतीय गुच्छक में इसे प्रकाशित किया यद्यपि कि पूर्वोक्त त्रुटियाँ इस संस्करण में उपसंहृत न हो पाईं। पीटर्सन को प्राप्त पाण्डुलिपि में ग्रन्थ का नाम 'शम्भलीमतम्' था लेकिन अन्य प्रतियों में 'कुट्टनीमतम्' शीर्षक पा जा स्वीकृत हुआ। क्योंकि 'राजतरंगिणी' में कल्हण ने इस काव्य को 'कुट्टनीमतम्' के नाम से ही स्मरण किया है और बाद में प्राप्त हुई पुष्प एवं गुरु

पाण्डुलिपि में यही शीर्षक मिला। कोश के अनुसार 'कुट्टनी' और 'शम्भली' दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। 'कुट्टनीमत' आदि अर्थात् कुट्टनी (परपुरुष के साथ गमन करने के स्त्रियों का शील हरण करने वाली) स्त्री द्वारा दी हुई मन्त्रणा या उपदेश।

१८९७-९८ ई॰ में महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री ने नेपाल यात्रा की और वहाँ उन्हें ११७२ ई॰ में प्रतिलिपित इसकी एक पूर्ण पाण्डुलिपि नेवारी लिपि और प्राचीन बंगला अक्षर में प्राप्त हुई। उनके कथनानुसार इससे पुराना कोई आधार प्राप्त नहीं हुआ है। उन्होंने इस ग्रन्थ को बंगाल के एशियाटिक सोसाइटी को दिया जहाँ से एक कश्मीरी विद्वान् शिष्य श्रीमधुसूदन कौल के सम्पादकत्व में यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ।

तब बम्बई के एक विख्यात गुजराती विद्वान् श्री तनसुखराम मनसुखराम त्रिपाठी ने एशियाटिक सोसाइटी के संरक्षण तीन प्रतियाँ काव्यमाला व पण्डित मंगलदत्त और काशी के पण्डित रत्नगोपाल भट्ट द्वारा रचित 'रसदीपिका' नाम की टीका का अवलम्बन करके एक सम्पूर्ण सटीक संस्करण की रचना की। अब इन प्राप्त संस्करणों में यह ग्रन्थ सबसे उत्तम और समग्र कहा जा सकता है।

इसके रचयिता श्री दामोदर गुप्त ने अपना परिचय कहीं नहीं दिया है। केवल 'राजतरंगिणी' का यह श्लोक इस सम्बन्ध में थोड़ा सा निर्देश करता है—

स दामोदरगुप्ताख्यं कुट्टनीमतकारिणम्।
कविं कविं बलिरिव धुर्यं धीसचिवं व्यधात्॥४९६

और कुट्टनीमत के अन्त में यह लिखा है—

इति श्रीकाश्मीरमहामण्डलमहीमण्डन राजजयापीड-धीसचिववर दामोदरगुप्तविरचितं कुट्टनीमतं समाप्तम्।

इन दोनों से इतना ही विदित होता है कि कुट्टनीमत के रचयिता श्री दामोदर गुप्त कश्मीर के राजा जयापीड के मंत्री थे। कल्हण ने कवि के जीवन की घटना का कोई उल्लेख नहीं किया है। वल्लभदेव ने अपनी 'सुभाषितावली' में दामोदर गुप्त के नाम से चार श्लोकों को उद्धृत किया है जो कुट्टनीमत में नहीं मिलते। सम्भव है कवि ने कोई अतिरिक्त निर्माण भी किया हो। इसमें सन्देह नहीं कि कुट्टनीमत कवि की परिपक्व वयस् की रचना है क्योंकि इसमें कवि ने विभिन्न शास्त्रों के अपने व्यापक पाण्डित्य का परिचय दिया है।

कल्हण के अनुसार जयापीड का राज्यकाल ७५१ ई॰ से ७८२ ई॰ तक ठहरता है। लेकिन आधुनिक शोध के अनुसार यह काल नितान्त सन्दिग्ध है। उसका राज्यकाल ७७९-८११ ई॰ तक था जैसा कि स्टेन साहब ने राजतरंगिणी की भूमिका में बताया है। श्री दामोदर गुप्त के इस समय में विद्यमान होने में कोई सन्देह नहीं होना चाहिए।

वामन—अलंकारसूत्र के रचयिता और काशिकावृत्ति [illegible]।

राहुलक, घटक और सन्धिमान—इनका [illegible]।

श्रीदामोदर गुप्त ने कुट्टनीमत में प्रसंगवश इन [illegible]।

कोहल (८२, ८७१)—संगीत और नाट्य के [illegible]। संगीत [illegible] में शार्ङ्गदेव ने इनका उल्लेख किया है। इनकी रचना अब [illegible] है।

ब्रह्मा (७५)—नाट्य के प्रथम रचयिता।

नारद (७५)—संगीत के आचार्य। नारदी शिक्षा और संगीत [illegible] भी नारद की कृति के रूप में समझे जाते हैं किन्तु इनसे हम नारद की [illegible] ठीक नहीं।

वात्स्यायन (७७, १२१)—कामसूत्र के रचयिता।

दत्तकाचार्य (७७)—कामसूत्रकार, इनकी रचना अज्ञात है।

भरत (८२, १२४, ८७१, १ [illegible] १)—नाट्यशास्त्रकर्ता।

मधुनोदय, दत्तक, विटपुत्र और राजपुत्र (१२१)—कामशास्त्र [illegible] अज्ञातचरित आचार्य।

---

१ [illegible]बिम्बाधरविधेयाम्प्राप्य [illegible]।
बुधं [illegible] वृद्धि [illegible] ॥४८९॥
[illegible] [illegible] प्राप्य [illegible]।
[illegible] भूमिवर्तु [illegible] ॥४९५॥
मनोरथ [illegible] सन्धिमांस्तथा।
[illegible] कामशास्त्र [illegible] ॥४९७॥

चिरातिस (१२८)—प्रकाशों के लेखक। काव्यालकार-सूत्रवृत्ति (१। ३।७) में इनका उल्लेख है।

दत्तिल (१२४)—संगीतशास्त्र के रचयिता। इनकी कोई रचना अभी तक प्राप्त नहीं। ये कोहल के शिष्य कहे जाते हैं। शार्ङ्गदेव के संगीतरत्नाकर की टीका में चतुर कल्लिनाथ ने इनकी रचना से उद्धृत किया है।

व्यास (२४७)—महाभारत और अष्टादश पुराण के कर्ता।

मतंग (८७७)—संगीतशास्त्र के एक पुराने रचयिता। शार्ङ्गदेव और दूसरे लेखों द्वारा उल्लिखित।

इनके अतिरिक्त कवि ने हर्षदेव (श्रीहर्ष) का नाम लिया है (८) और जिनकी सुप्रसिद्ध रचना रत्नावली के प्रथम अंक को आर्या छन्दो में अभिनय के रूप पर प्रस्तुत किया है (८८१—९२८)।

अपने निर्माण के पश्चात् कुट्टनीमत प्रकार प्रसार की दृष्टि से किसी से कम न था। मध्ययुग के कविगण और साहित्यकार इस काव्य से पूर्ण परिचित हो चुके थे। आचार्य मम्मट ने अपने प्रतिष्ठित निर्माण 'काव्यप्रकाश' में इस काव्य के दो श्लोकों (१ व ९९७) को सराहनीय स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त सुभाषितावली कविकण्ठाभरण धन्यालोक दुर्घटवृत्ति मंखकोश टीका कवि वचन-समुच्चय सूक्तिमुक्तावली अलंकार सर्वस्व क्षीर स्वामी की अमर कोष टीका आदि ग्रन्थों में इस काव्य के श्लोक उद्धृत मिलते हैं। इन ग्रन्थों में कहीं दामोदरदेव कहीं भट्ट दामोदर गुप्त कहीं कविदामोदर इत्यादि नामो से कवि का परिचय दिया गया है। पचमी या पयचीशान नामक बौद्धपण्डित (१ म ११ श शतक) के 'नामरसर्वस्व' नामक कामशास्त्रीय ग्रन्थ में भी कुट्टनीमत का उल्लेख है।

बाद चल कर सम्भवतः तेरहवी शताब्दी से इस ग्रन्थ का मूल अस्तित्व तिरोहित हो चला क्योंकि काव्य प्रकाश के तत्कालीन टीकाकार माणिक्यचन्द्र आदि ने उद्धृत श्लोकों के रचयिता का नाम अथवा कोई परिचय नहीं दिया है और अनेक टीकाकारों ने इन्हें अन्य कविकृत कह कर भूल भी की है।

कुट्टनीमत की कथा

वाराणसी की मालती नामक गणिका ने किसी के कथनानुसार अपने को कामुक जनों के हृदय हरण करने में असमर्थ अनुभव करके विकराला नाम की कुट्टनी के पास जाकर उपाय पूछा। विकराला मालती के सौन्दर्य गुण की प्रशंसा करके बोली कि वह भट्टपुत्र (चिन्तामणि?) को आकृष्ट करने का प्रयत्न करे। गणिका को चाहिए कि कामुक के मन में विद्यमान इस धारणा को कि वे ठग होती है, उनका राग कृत्रिम होता है दूर करे और इस उद्देश्य से भट्टपुत्र का सविधि सत्कार करके मालती यह कथा सुनाए—

कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) के पुरन्दरसेन नामके एक ब्राह्मण का लड़का सुन्दरसेन अपने मित्र गुणपालित के साथ देशाटन के उद्देश्य से निकला और अपनी यात्रा के प्रसंग में अर्बुदाचल (आबूपर्वत) पर पहुँचा। उस पर्वत की रमणीयता से मोहित सुन्दरसेन ने वहाँ एक उद्यान में हारलता नाम की एक सुन्दरी गणिका को देखा। दोनों के बीच तत्काल नयनसम्पात के फलस्वरूप दोनों एक-दूसरे को अपना दिल दे बैठे। सुन्दरसेन उस गणिका के साथ एक वर्ष तक आनन्दपूर्वक रहा। गुणपालित न चाहते हुए भी मित्र के प्रति गाढ़ सौहार्द के कारण उसके साथ रहा। तत्पश्चात् पिता के भेजे हुए दूत ने सुन्दरसेन को पत्र दिया जिसमें उसकी कमजोरी के प्रति तिरस्कार के साथ शीघ्र लौट आने और परिवार का बोझ सम्हालने के लिए निर्देश था। पिता की आज्ञा मान कर सुन्दरसेन अपने मित्र के साथ चला। उसके साथ कुछ दूर तक वियोग-विह्वल हारलता चली। नगर के बाहर जब वह हारलता से विदा हुआ और कुछ दूर चला गया तब पीछे से आते हुए किसी पथिक ने पूछने पर बताया कि कोई महिला बरगद के पेड़ के नीचे निष्प्राण पड़ी है। हारलता के निष्प्राण हो जाने के इस समाचार से रोता-पीटता वह लौटा और उसके मृत शरीर के समीप पहुँच कर देर तक विलाप करता रहा। अन्त में उसके शरीर का अग्निसंस्कार सम्पन्न कर मित्र के साथ सन्यासी होकर निकल गया।

विकराला ने कहा कि इस कथा से गणिकाओं के राग का प्रमाणित करके तू अपने को भट्टपुत्र से उसके परिचारकों के बीच रख लेने की प्रार्थना करना। इस प्रकार जब उसका विश्वास तुझ पर जम जाय तब विविध प्रकार की मानसूचक ईर्ष्या की बातें करना। जब वह तुझ पर अनुरागी हो जाय तब अपनी माता के साथ मिथ्याकलह करना। माता तुझसे कहे कि पैसे खरचने वालों का छोड़ इसके पीछे क्यों पड़ी है! गणिका जनों के लिए राग शोभा नहीं देता। तू माता की बात न मानना और अपने प्रिय के लिए सब-कुछ छोड़ देने को उद्यत हो जाना। ऐसा करने से वह तुझे अपना सर्वस्व अर्पित करके सम्पूर्ण करने का निश्चय करेगा तेरे विविध कामवर्धक उपचारों को सराहेगा।

इतना होने पर यदि वह प्रभावित न हो तब तू यह प्रकट करना कि तेरे सारे गहने चोरों ने मार्ग में लूट लिए। यह प्रपञ्च रचना भी यदि वृथा सिद्ध हो तब तेरे आदमी से प्रेरित हो बनिया आकर यह कहे कि तुमने हार जो गिरवी रखी है उसे पैसा वापस करके लौटा लें। तू कहना कि हार किसी विश्वास के ठहराये दाम पर तू ही रख ले और जो पैसा बचता उसे पीछे दे दूँगी।

यह कपट रचना भी जब व्यर्थ सिद्ध हो तब कहना कि जब तुम बीमार पड़ गए थे तब मैंने देवी को बलि चढ़ाने की मनौती मान ली थी। लेकिन सामग्री के अभाव में जो पूजा नहीं कर पायी हूँ उसके कारण मन में व्यथा बनी रहती है।

यह भी व्यर्थ हो तब अपना घर खाली करके उसमें आग लगा देना और यह कहना कि मेरा सब कुछ जल गया।

इन उपायों से कामुक को खोखला कर डालना और तब उसके छोड़ने के उपाय (पतपातस्थार) काम में लाना। बहुत कहने पर भी यदि वह आदमी के आकार वाला पशु नहीं समझे तब कहना कि मेरा दिल तुममें ही लगा होता है लेकिन क्या करूँ माता की बात टाल नहीं सकती। इसलिए कुछ दिनों के लिए तुम चले जाओ फिर आना तो तुम्हारे ही साथ रह कर दुनिया के मजे लूँगी। यह कहने पर वह चला जाय और कुछ दिनों के बाद उसके पास धन एकत्र हो जाय तब पुनः उसे मिला लेने का प्रयत्न (मिलसमस्थान) करना।

इसी प्रसंग में विकराला ने मालती को एक कथा सुनायी—

राजा सिंहभट का लड़का राजकुमार समरभट अपने परिचारकों के साथ स्वामी विश्वनाथ के दर्शन के पश्चात् वहाँ वेश्याओं नाट्याचार्यों कवियों तथा अन्य विविध प्रकार के लोगों से मिला। सभी लोगों ने उसे सम्मानित किया। वहाँ उसने नृत्योपदेशक आचार्य से स्थानीय संगीत के सम्बन्ध में प्रश्न किया। उसने गणिका जनों की व्यापार-परायणता के विविध उदाहरण देते हुए हर्षदेवलिखित 'रत्नावली' के अभिनय करने वालियों में मञ्जरी नामक वेश्या का परिचय कराया। राजपुत्र ने मञ्जरी को स्नेहयुक्त भरी निगाह से देखते और 'क्या यह है!' कहते हुए विस्मय से स्पर्श किया। इसी प्रसंग में उसके सचिव ने वेश्याओं का तिरस्कार करते हुए परकीयाप्रेम की प्रशंसा की। तब मञ्जरी की माता ने अपने पक्ष के समर्थन के वाग्जाल का प्रयोग किया। नर्तकाचार्य ने राजपुत्र से 'रत्नावली' का एक अंक देखने के लिए प्रार्थना की। उसकी स्वीकृति के बाद पूरा प्रथम अंक खेला गया। राजपुत्र ने उस नाट्य को बहुत पसंद किया और रत्नावली की भूमिका निभाने वाली मञ्जरी के प्रति अनुरक्त हो गया। फलतः उस गणिका ने अपने विविध विलासों से उसे फाँस कर उसका सब कुछ ले लिया और उसे रसपरित्यक्त करके छोड़ दिया।

यह कथा सुना कर कुट्टनी विकराला ने कहा कि जो कुछ मैंने कामुक से धन एंठने के उपाय बताये उनके प्रयोग से तू महती समृद्धि प्राप्त करेगी।

मालती ने यह उपदेश श्रवण कर विकराला का चरण-स्पर्श किया और सन्तुष्ट हो अपने घर गई।

कवि अन्त में लिखता है कि इस काव्य को जो काव्यालापपालन पूर्वक श्रवण करेगा वह कभी विट वेश्या धूर्त और कुट्टनी से वञ्चित नहीं होगा।

इस साधारण और बहुत कम से मद और क्षीण कथानक को कवि ने अपने कौशल का जामा पहना कर बहुत ही मजेदार और दिलचस्प बना दिया है। गुण की दृष्टि से प्रसाद और माधुर्य को सफलता से निभाया है और यत्र-तत्र

श्लेषानुबद्ध परिसंख्या उपमा व्यतिरेक आदि अयत्नसिद्ध आलंकारिक प्रयोगों का पुट देकर इसके गाम्भीर्य की सुरक्षा भी कर दी है। यद्यपि इस काव्य के रसास्वादन में इन प्रयोगों के कारण बाधा-सी महसूस होती है किन्तु इनकी सरलता और स्वाभाविकता के कारण इस काव्य के प्रति कुछ ऐसा प्रलोभन पैदा हो जाता है कि सहृदय का मन नहीं खीझता। पाश्चात्य ढंग के आलोचकों ने इस काव्य को Erotico-comic (अर्थात् प्रेम-हास्य-सम्बन्धी) काव्य कहा है और बहुत अंश में Satiric (व्यंग्यपूर्ण) कहा है। वस्तुस्थिति ऐसी ही है। हम कह सकते हैं कि कवि को इस काव्य में एक खास ढंग की सफलता मिली है जिसका दूसरा उदाहरण संस्कृत-साहित्य में नहीं है। क्षेमेन्द्र आदि ने भी इसी विषय पर विविध रचनाएँ (समयमातृका आदि) की किन्तु कुट्टनीमत की सफलता अपूर्व है।

वैशिक जीवन का मौलिक वैचित्र्य इस काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। इस जीवन और कला से सम्बद्ध शास्त्र का निर्माण वात्स्यायन के कामसूत्र (षष्ठ-प्रकरण) और भरत-मुनि के नाट्यशास्त्र में बहुत पहले हो चुका था। वात्स्यायन ने षष्ठ 'वैशिक-अधिकरण' को बारह प्रकरणों में विभक्त किया —(१) सहाय-गम्यागम्य चिन्ता (२) गम्यचारण (३) उपावर्तनविधि (४) कान्तानुवर्तन (५) अर्थागमोपाय (६) विरक्तलिंग (७) विरक्तप्रतिपत्ति (८) निष्कासन-प्रकार (९) विशीर्णप्रति सन्धान (१) लाभविशेष (११) अर्थानर्थानुबन्धसंशयविचार और (१२) वेश्याविशेष।

इन विषयों में से बहुत को कवि ने काव्य की व्यावहारिक भूमि में लाकर उन्हें व्यक्त रूप में समझा दिया है। समाज में वेश्याजीवन के आरम्भ के सम्बन्ध में कोई निश्चित तथ्य प्रस्तुत करना कठिन है। स्कन्दपुराण आदि में वेश्याओं की उत्पत्ति के कथानक मिलते हैं लेकिन उन्हें वैज्ञानिक युग के मान्य तथ्यों के अनुसार अविश्वसनीय समझा जाता है। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि वैशिक व्यापार, जो मुख्यतः नृत्य-संगीत पर आश्रित माना जाता है स्वर्ग में निवास करने वाली अप्सराओं के अनुकरण पर यहाँ के विलासिता प्रधान जीवन में आरम्भ हुआ होगा और आगे चल कर इसमें विविध समाजविरोधी वासनात्मक तत्त्व शामिल होते गए। आचार्य भरत ने वेश्याओं की निम्न और उच्च कोटि की चर्चा में कहा है जो वेश्या कलाओं से अभ्यर्चित और रूप-शील-गुणान्विता होती है वह 'गणिका' इस नाम से अभिहित होकर जनसमाज में स्थान प्राप्त करती है—

आभिरभ्यर्थिता वेश्या रूपशीलगुणान्विता।
लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंसदि।।

बुद्धकाल में गणिकाओं के व्यावहारिक जीवन में बहुत कुछ संशोधन हुआ प्रतीत होता है। उनके लिए पालिसाहित्य में 'जनपदकल्याणी' शब्द प्रयुक्त

हुआ है। अस्तु कुट्टनीमत उन्हीं वेश्याजीवन के समाजविरोधी तत्त्वों को मार्मिक रूप में प्रस्तुत करता है।

इसका कवि कथानक के उतार चढ़ाव में नहीं उलझता, बल्कि वस्तुस्थिति को काव्य के रूप पर प्रस्तुत करने के लिए निरन्तर जागरूक रहता है। यद्यपि यह अपनी प्रवहमान प्रतिभा को रोककर कथानक में आ जाता है तथापि फिर वही बात हो जाती है। आरम्भ से अन्त तक इस काव्य में वैशिक जीवन के विविध उपादानों को हम मौलिक रूप में उपनिबद्ध पाते हैं। कुट्टनी, कुट्टनी के गृह पर स्थित जनसमुदाय, कामुक, कामुक का वैभव-विलास, उसके आकर्षण के विविध उपाय और, मानुषमात्र पत्नोपचार, मिलनस्थान, वक्रोक्ति प्रयोग, अभिनय-प्रयोग आदि आदि। इसके अतिरिक्त वैशिक जीवन में उपस्थित होने वाले कामुकों के विविध चरित्र, वेश्याओं की परस्पर बातचीत, उनका परस्पर ईर्ष्याभाव और कलह ये सब इस काव्य के अपने ही वैनोदिक प्रसंग हैं।

आचार्यों द्वारा परिलक्षित काव्य के प्रकार में कुट्टनीमत को लघुकाव्य या खण्डकाव्य कहा जा सकता है। कथावस्तु की दृष्टि से आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में इसे 'निदर्शनकथा' माना है[1]। इस काव्य में सूक्तियों की भरमार है और कामोक्तियाँ भी यत्र-तत्र चमत्कारपूर्ण बन गई हैं। एक उदाहरण लीजिए—

कौमारकं विहृतं रतिसमये मदनसेनायाः।
इच्छामि किन्तु तस्या मात्रात्वीय प्रसारितं वदनम् ॥१५ १॥

कोई विट कहता है कि मैं चाहता हूँ कि रति-समय में मदनसेना के कौमार्य (क्वाँरपन) का हरण करूँ, लेकिन उसकी माता ने मुँह ज्यादा फैला दिया है। 'मुँह का ज्यादा फैला देना' यह वैशिक जीवन का खास प्रयोग था जो अब भी हिन्दी में सुरक्षित है।

जीवन की गहराई तक पहुँचने वाले पद्यों की इस काव्य में कमी नहीं है। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' की एक उक्ति से प्रभावित गणिका के मुख में चिन्ता और मिश्र रूप में कवि ने प्रस्तुत किया है—

यौवनकाननमेतत् सम्यावृत्ति कौतुकं भवतात्।
यत् कुसुमवर्णितं तस्य स्थाने निपतत् तारः ॥४६१॥

और वहीं गणिका अपनी ओर से यह उपस्थित करती है—

सौभाग्ये ईदृशि वाराः अपि माद्रेय समस्ते।
निमुनारजीवनरता शरीरपरवृत्तयो वास्यः ॥६४१॥
येऽपि धनलवलोभे कम्पित बहु विलासिनीऽक्षये।
प्रच्छन्नास्ते भवता विस्मृतवन्मिथुनया वाराः ॥६ २॥

---

१ निरत्ययामनिरत्ययं वा चेष्टाविषयं कार्यमकार्यं वा निदर्शने तत्त्वं तत्त्वारितम् पूर्वापर जीवन-मधुर-मार्गादिप्रकाशं निदर्शनम्।

गणिका के सफल होने के लिए कुट्टनी का सबसे मुख्य उपदेश है कि वह किसी को अपना दिल न दे बैठे, रागहृत न हो जाय, क्योंकि इसका परिणाम उसके पक्ष में बुरा होता है—

सद्भावभावानुरक्तिर्न हि धर्म्यं पण्यनारीणाम् ॥

इसलिए वह धनरहित व्यक्ति का तिरस्कार कर दे, अधिक सम्पत्ति वाले पुरुष का गौरव करे, क्योंकि उसके रूप का निर्माण ही धन-सिद्धि के लिए हुआ है—

अवधीरय धनविकलं कुरु गौरवमधिकसम्पदः पुंसः।
अस्मादृशां हि मुग्धे धनसिद्ध्यर्थं वपुर्निर्माणम् ॥२०८॥

इसमें सन्देह नहीं कि दरिद्र पुरुष से भी दिल से अनुराग करने वाली गणिका नहीं रह जाती, रूपाजीवा होकर भी वसन्तसेना ने दरिद्र सार्थवाहपुत्र चारुदत्त से अनुराग किया और इसी प्रकार के निःस्वार्थ अनुराग का कुट्टनीमत में हारलता और सुन्दरसेन के कथानक के रूप में उज्ज्वल उदाहरण पेश किया गया है, फिर भी इसमें मात्र आदर्श है, आकस्मिकता है। यौवनकाल में रागहृत होने वाली गणिका अन्त परिणाम में बहुत कष्ट उठाती है, यहाँ तक कि गली-दर-गली भीख माँगती है—

बाल्ये तावद्योग्या तरुणत्वेऽपि गृहजनपरिभूता।
तारुण्ये रागहृता अपि गणिका भवतु तद् भिक्षाम् ॥ ५१४ ॥

हम कह चुके हैं संस्कृत में अन्य कई काव्य ग्रन्थ गणिका जीवन पर स्वतन्त्र रूप से लिखे गए हैं। दशरूपकों में 'भाण' विशेष रूप से गणिकाओं के जीवन से सम्बद्ध साहित्य है। 'चतुर्भाणी' के नाम से प्रसिद्ध भाणसंग्रह भाण-साहित्य का उल्लेखनीय निर्माण है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने समयमातृका, देशोपदेश, नर्ममाला और कलाविलास आदि काव्य प्रधान रूप से गणिकाओं के सम्बन्ध में लिखे हैं। इन ग्रन्थों में भारतीय गणिका जीवन के अध्ययन करने वालों के लिए पुष्कल सामग्री विद्यमान है। ये ग्रन्थ सामग्री की दृष्टि से पुष्कलतर चतुर्भाणी और कुट्टनीमत से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इनके अतिरिक्त जल्हण का मुग्धोपदेश भी एक सफल काव्य है। संस्कृत के महाकाव्यों, सप्तशतियों और विविध प्रकार के सुभाषितों में स्फुट रूप से गणिका जीवन सम्बन्धी पद्य बहुत लिखे गए हैं जो मार्मिक, हृद्य एवं आकर्षणीय हैं। इधर एक विद्वान् ने सामग्रियों को विषय की दृष्टि से विभक्त करके चयन के रूप में 'गणिकावृत्तसंग्रह' नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किया है।

कुट्टनीमत के काव्यमाला संस्करण, जर्मन, फ्रेंच और अंग्रेजी अनुवाद बहुत पहले हो चुके हैं, साथ ही क्षेमेन्द्र की समयमातृका के भी अनुवाद हो चुके हैं। अध्यापक श्री विश्वनाथराय ने कुट्टनीमत का अपना अनुवाद 'हिन्दी-साहित्य मन्दिर' कलकत्ता से प्रकाशित किया है। हमारा प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद

सहित संस्करण मुख्यतः तनसुखराम त्रिपाठी के बम्बई वाले संस्करण के आधार पर तैयार किया गया है। हिन्दी अनुवाद में कवि के वक्तव्य को हिन्दी की प्रकृति के अनुसार तदनुरूप प्रयोग में उपस्थित करने का प्रयत्न है। भाव के निखार के लिए उर्दू के प्रचलित प्रयोगों को भी निःसंकोच भाव से रखा गया है। विशेष कर टिप्पणियों में कवि के शास्त्रीय और लोकीय संकेतों को बोधगम्य बनाने का प्रयत्न है और विषय को सम्यक् और स्पष्ट करने के लिए मैंने उर्दू के मान्य लेखक मिर्ज़ा रुसवा (मरहूम) लिखित उपन्यास 'उमराव जान' को यत्र-तत्र उसी रूप में उद्धृत किया है। उमराव जान अदा लखनऊ की एक विदुषी गणिका थी जिसके जीवन की घटना को उसी से सुनकर उसी के शब्दों में मिर्ज़ा रुसवा ने यह अनमोल ग्रन्थरत्न प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में भी कुट्टनीमत के समान ही वेश्याजीवन के शाश्वत तथ्यों और विविध उपादानों का काव्यात्मक और व्यावहारिक चित्रण है।

प्रस्तुत हिन्दी संस्करण में मैंने विभिन्न प्रतियों के पाठ-भेदों को उद्धृत करना इसलिए आवश्यक नहीं समझा कि अब प्रायः तनसुखराम के संस्करण को बहुत कुछ प्रामाणिकता मिल चुकी है जो इस संस्करण का आधारभूत है। आवश्यक पाठभेद को मैंने प्रायः नहीं छोड़ा है।

कुट्टनीमत के अनुवाद करते समय जहाँ जहाँ जो मुझे कठिनाई हुई है वहाँ अपनी सीमाओं के कारण तर्क-वितर्क प्रस्तुत करना मैंने उचित न समझा। किसी प्रामाणिक वृत्ति के अभाव में 'जीवनदान' का आश्रय लेना पड़ा है और थोड़े में टिप्पणी में कठिनाइयाँ व्यक्त कर दी हैं। इसके बावजूद मेरा जहाँ तक विश्वास है यह संस्करण कुट्टनीमत के स्वरूप तक पहुँचने का एक उपयोगी और अपरिहार्य माध्यम होगा। मुझे प्रसन्नता होगी कि कोई सहृदय विज्ञ जन मेरी त्रुटियों का संशोधन मुझे सूचित करने का कष्ट करेंगे। जहाँ मेरी गाड़ी अटकी है उसके उद्धार का भार विज्ञों पर है।

मैं अपने आदरणीय मित्र श्री रामशंकर जी भट्टाचार्य का अतिशय अनुगृहीत हूँ जिनके कारण यह कार्य पूरा करने का शुभ अवसर मिला। इसके लिए उन्हें धन्यवाद देना औपचारिकता मात्र होगा। भट्टाचार्य जी ने वामनपुराण के और कुट्टनीमत के वाराणसी वर्णन को बहुत अंश में मिलता-जुलता दिखा कर मुझे चमत्कृत कर दिया इस सूचना के लिए उनका मैं उपकृत हूँ। वाराणसी के विश्वनाथ पुस्तकालय के अध्यक्ष पं० श्री कृष्णचन्द्र जी साहित्याचार्य ने अनुग्रह करके तनसुखराम की टीका वाले दुर्लभ संस्करण को मेरे इस काम के लिए बहुत काल तक सुलभ किया इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। सहसराम के मेरे अभिन्न मित्र

श्री सीताराम पाठक ने अनुवाद की पाण्डुलिपि तैयार करने में अपेक्षित सहयोग दिया है, मैं उनका आभारी हूँ।

मैंने इसमें जिन टीकाकारों (विशेषरूप से उमसुखराम मनसुखराम त्रिपाठी) विद्वानों और कवियों के श्रम का उपयोग किया है उनका मैं ऋणी हूँ।

डाल्टनगंज (पलामू)
२—९—११

जगन्नाथ पाठक

श्रीगणेशाय नमः

कुट्टनीमत काव्यम्



स जयति संकल्पभवो रतिमुखशतपत्रचुम्बनभ्रमरः ।
यस्यानुरक्तललनानयनान्तविलोकितं वसतिः ॥१॥

जिसका निवास-स्थान अनुराग-भरी ललनाओं के नेत्रों के कटाक्ष का निरीक्षण है, अपनी माया रति के मुख रूपी कमल को चूमने वाला भौंरा, सङ्कल्प-रूप मन से उत्पन्न वह (जगत्प्रसिद्ध कामदेव) विजयी हो¹ ॥१॥

१—प्रस्तुत काव्य के प्राचीन भारतीय वेश्या जीवन पर आधारित होने के कारण प्रथम में देवता भगवान् अथवा गणेश के बजाय कामदेव के प्रति कवि-कृत यह जय जयकार सर्वथा प्रासंगिक है और समुचित भी। क्षेमेन्द्र आदि कवियों ने भी अपने श्रृंगारिक काव्यों में कामदेव की ही वन्दना की है।

'अनुरक्तललनानयनान्तविलोकितम्'—यहाँ 'ललना' शब्द विशेष रूप से यौवन चरणा या युवती स्त्रियों का वाचक है अर्थात् वराङ्गनाएँ। क्योंकि इन्हीं के कटाक्षों में काम का निवास स्पष्ट रूप से अभिलक्षित होता है। बेचारी प्रकृति-मात्र अनपढ़ वधुओं के 'अभिलाषाभिज्ञ' लोचनों में प्रीति की स्निग्धता के सिवा और क्या मिल सकता है?

अवधीर्य दोषनिचयं गुणलेशे संनिवेश्य मतिमार्याः ।

कुट्टन्या मतमेतद्दामोदरगुप्तविरचितं शृणुत ॥२॥

सज्जनो, आप अवगुणों पर ध्यान न देकर एवं गुणों का लेश मात्र भी हो उसमें अपनी मति को प्रवृत्त कर दामोदर गुप्त द्वारा विरचित 'कुट्टनी के मत' (उपदेश) रूप इस काव्य को सुनें ॥२॥

अस्ति खलु निखिलभूतलभूषणभूता विभूतिगुणयुक्ता ।

युक्ताभियुक्तजनता नगरी वाराणसी नाम ॥३॥

समस्त भू-मण्डल की अलङ्कारभूता, ऐश्वर्य के गुणों से युक्त बुद्धिमानों और विद्वानों से सेवित वाराणसी नाम की नगरी है ॥३॥

अनुभवतामपि यस्यामुपभोगान्कामतः शरीरवताम् ।

शशधरखण्डविभूषितदेहलयः किल न दुष्प्रापः ॥४॥

जिस नगरी में शरीरधारी इच्छानुसार समस्त उपभोगों का अनुभव करते हैं तथापि उन्हें चन्द्र-खण्ड से विभूषित शरीर (अर्थात् भगवान् शङ्कर) में लीन होना दुर्लभ नहीं है[2] ॥४॥

चन्द्रविभूषितदेहा भूतिरता सद्भुजंगपरिवारा ।

वारस्त्रियोऽपि यस्यां पशुपतितनुतुल्यतां याता ॥५॥

१-'कुट्टयति स्त्रीणां शीलं या सा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो मध्यस्थ होकर पराई स्त्रियों या पर-पुरुषों के साथ संयोजन करके शीलहरण करती है वह स्त्री 'कुट्टनी' कहलाती है । सम्भवतः यह प्रचलित द्रव्य शब्द है । कुट्टनी का दूसरा पर्याय 'शम्भली' है अर्थात् सुख की सामग्री की बात करने वाली नारी (शं सुखं भलते)। ग्रन्थकार के अनुसार इस काव्य को 'शम्भलीमत' भी कहते हैं । माधवी, रत्नमाला, मधुसी, कुम्भदासी, गणेयका, सम्भली, कुम्भिका, समयमातृका आदि भी कुट्टनी के पर्यायवाची शब्द-कोशों में और अन्य-अन्य काव्यों में प्रयुक्त मिलते हैं ।

२-वाराणसी के सम्बन्ध में यह धार्मिक विश्वास बहुत प्राचीन-काल से इस देश में प्रचलित है कि यहाँ के निवासी सांसारिक सुख भोगते हुए मुक्ति का लाभ करते हैं तथा मृत्यु के बाद भगवान् शिव में लीन हो जाते हैं । कवि ने इसी प्रचलित धार्मिक मान्यता को इस श्लोक में उपनिबद्ध किया है ।

चन्द्र से विभूषित शरीर वाली, भूति में रत भुजङ्गों के परिवार से युक्त वाराङ्गनाएँ भी जहाँ शिव जी की देह का सादृश्य लाभ करती हैं[1] ॥५॥

प्रतितुङ्गसुरनिकेतनशिखराग्रग्रथितपवनचलिताभिः ।
मंजरितमिव विराजति यत्र नभो वैजयन्तीभिः ॥६॥

जहाँ बहुत ऊँचे देव-मन्दिरों के शिखरों पर फहराती हुई और हवा से लहराती हुई वैजयन्तियों (पताकाओं) से आकाश मञ्जरित हुआ जैसा शोभित होता है ॥६॥

अविरतसंचरदबलाचरणगलितालक्तकद्रवारुणितम् ।
व्यक्तकमलवनोलक्ष्मीं बिभर्ति वसुधातलं यत्र ॥७॥

जहाँ पृथ्वीतल निरन्तर चलती-फिरती हुई अबलाओं के चरणों-तलों के आलता के द्रव से अरुणित होकर स्पष्ट कमलों की वनश्री की शोभा धारण करता है ॥७॥

यत्र च रमणीभूषणरवबधिरितसकलदिङ्नभोभागे ।
शिष्याणां नाचार्यैरपपाठमवधार्यते पठताम् ॥८॥

और जहाँ रमणियों के गहनों की आवाज से समस्त दिग्भाग और आकाश इस प्रकार भर जाते हैं कि आचार्यगण गलत उच्चारण करते हुए अपने शिष्यों का धारण नहीं कर पाते[2] ॥८॥

विन्ध्यधराधरभूरिव या राजति मत्तवारणाकलिता ।
बहुलनिशीथवतीव प्रोज्ज्वलधिष्ण्योपशोभिता या च ॥९॥

जो नगरी विन्ध्य पर्वत की वन-भूमि के समान शोभित है विन्ध्याचल की वन-भूमि मतवाले हाथियों (मत्तवारणों) से भरी है और यह मत्तवारणों अर्थात्

१-शिव जी की देह चन्द्र से विभूषित है वेश्याएँ 'चन्द्र' नाम के वस्त्र से विभूषित देह वाली हैं; शिव भूति अर्थात् भस्म रमाते हैं वेश्याएँ भूति अर्थात् ऐश्वर्य में रत रहा करती हैं; शिव के शरीर पे भुजंगों (सर्पों) का परिवार बना रहता है वेश्या के यहाँ भुजङ्गों (विटों) का जमघट रहता है।

२-इस प्रसङ्ग में 'वामन पुराण' अध्याय तीन के वाराणसी-वर्णन का शब्द, अर्थ और अलङ्कारों की दृष्टि से समता देख कर आश्चर्य होता है। सम्भव है कुट्टनीमत के रचयिता ने भिन्न छन्द में परिवर्तन करके वहीं प्रसंग यहाँ ले लिया है। उदाहरण के लिए यह श्लोक पर्याप्त होगा-

विलासिनीनां रशनास्वनेन श्रुतिस्वराः माघरुद द्विजानाम्।
शुचिस्वरस्तं गुरवो निशम्य हास्यान्विताः स्त्रि मुहुर्मुहुस्ताः ॥११॥

(इस सूचना के लिए मैं अपने सहृदय मित्र श्री राम शंकर भट्टाचार्य का अनुगृहीत हूँ।)

चन्द्रों से युक्त है तथा जो कृष्ण-पक्ष की रात्रि के समान शोभित है, रात्रि चमचमाते हुए नक्षत्रों से और यह दीप्यमान भवनों से जगमग कर रहा है ॥९॥

यतिगणगुणसमुपेता या नित्यं छन्दसामिव प्रचितिः ।
धनपंक्तिरिव सशाला तुरुष्कसेनेव बहुलगन्धर्वा ॥१०॥

जो नगरी छन्दों की प्रचिति (छन्दशास्त्र) के समान है, छन्दों की प्रचिति यतियों (पाद विच्छेद के यथानुकूल स्थलों), गणों (जगण-मगण आदि गणों) के (समुचित स्थानों में उपयोग आदि) गुणों से युक्त है और यह यति-गणों (सन्त-महात्माओं आदि) के गुणों (शान्ति आदि गुणों) से युक्त है। जो नगरी वनपंक्ति के समान है, वनपंक्ति शाल नामक वृक्षों से युक्त है और यह शालाओं (भवनों) से युक्त है, एवं तुरुष्कों अर्थात् तुर्कों की सेना के समान है, तुरुष्क-सेना में बहुत से गन्धर्व अर्थात् घोड़े होते हैं और यहां गन्धर्व अर्थात् गायक जनों का बाहुल्य है ॥१०॥

तारागणोऽकुलीनः प्रियदोषा यत्र कौशिकाः सततम् ।
गद्ये वृत्तच्यवनं परगृहरोधस्तथाऽक्षेषु ॥११॥

जहां (सब लोग कुलीन अर्थात् खानदानी हैं) केवल तारागण अकुलीन (कु=पृथ्वी पृथ्वी में लीन या स्थित नहीं) हैं। जहां (कोई दोषों=दुराइयों में प्रेम करने वाला नहीं है) केवल उल्लू पक्षी (कौशिक) दोषा (रात्रि) के प्रेमी हैं। (जहां कोई व्यक्ति वृत्त अर्थात् सदाचार का भङ्ग नहीं करता) केवल गद्य में वृत्त (=छन्द) का भंग होता है। तथा जहां दूसरों के घर पर कोई रोध या रोक नहीं लगता केवल अक्ष क्रीड़ाओं (पासा फेंक कर जुआ के खेलों) में दूसरों के घर अर्थात् खानों, खाने का रोध होता है ॥११॥

शूलभृतो व्यालस्था पर्ववेदिषु यत्र धातुवादित्वम् ।
सुरतेष्वबलाक्रमणं दानच्छेदो मदच्युतो करिणाम् ॥१२॥

ध्यानी लोग जहां शूल (त्रिशूल) धारण करते हैं (न कि कोई शूल रोग धारण करता है)। जहां केवल वैयाकरण लोग भू आदि धातुओं के सम्बन्ध में विवाद करते हैं (कोई भी यहां स्वर्ण आदि धातुओं के सम्बन्ध में वाद-विवाद नहीं करता)। जहां केवल सुरत के प्रसङ्ग में अबलाएँ आक्रान्त होती हैं (न कि कोई बल के अभिमान में अबला-स्त्रियों पर आक्रमण करता है)। जहां मद के उतर जाने पर केवल हाथियों के दान (मदजल) का भङ्ग होता है (न कि कोई दान-भाव का भंग करता है) ॥१२॥

तीव्रकरत्वं भानोरविवेको यत्र मित्रहृदयानाम् ।
योगिषु दण्डग्रहणं सन्धिच्छेदः प्रगृह्येषु ॥१३॥

जहाँ केवल सूर्य के कर (किरणें) तीव्र (तीक्ष्ण) होते हैं (न कि राजा के कर = देय भाग तीव्र अर्थात् ज्यादा होते हैं)। केवल मित्रजनों के हृदयों के सम्बन्ध में विवेक (किसी प्रकार का भेदभाव) नहीं है (पर लोगों में विवेक या विचार है)। जहाँ केवल योगी लोग दण्ड ग्रहण (यष्टिधारण) करते हैं (न कि निरपराध प्रजाजन कोई दण्ड प्राप्त करते हैं)। जहाँ केवल प्रगृह्यों (संस्कृत व्याकरण के प्रगृह्य संज्ञा वाले शब्दों) में सन्धि (अच् आदि सन्धि) का भंग होता है (न चोरों द्वारा सन्धिच्छेद अर्थात् घरों में सेंध का मारना होता है न लोगों में मैत्री का भंग होता है) ॥१३॥

छन्दःप्रस्तारविधौ गुरवो यस्यामनार्जवस्थितयः ।
वीणायां परिवादो द्विजनिलयेष्वप्रसन्नत्वम् ॥१४॥

छन्दों की प्रस्तार विधि (लघु, गुरु वर्णों के जानने के निमित्त बनाए गए विधान) में केवल गुरु (गुरु वर्ण) जहाँ अनार्जव ऋजुतारहित – इस प्रकार की टेढ़ी स्थिति में रहते हैं (परन्तु वहाँ के निवासी आर्जव-ऋजुता-युक्त रहते हैं)। वीणा में ही जहाँ केवल परिवाद (वीणा बजाने का अंगूठीनुमा तार, मिजराब) होता है (परन्तु लोगों में परिवाद अर्थात् अपवाद-निन्दा नहीं होता)। जहाँ केवल ब्राह्मणों के घरों में अप्रसन्नता (अर्थात् प्रसन्न = मदिरा का अभाव) रहती है (न कि किसी में अप्रसन्नता दिखाई देती है) ॥१४॥

अनुरूपवृत्तघटना सत्कविकृतरूपकेषु लोके च ।
रमणीवचने यस्यां माधुर्यं काव्यबन्धे च ॥१५॥

जहाँ सत्कवियों द्वारा रचित रूपकों (दृश्यकाव्यों) में अनुरूप वृत्त की घटना अर्थात् वस्तुकार्य के पात्रों के अनुरूप अभिनय होता है और लोगों में अनुरूप वृत्त घटना अर्थात् एक रूप व्यवहार होता है। और जहाँ माधुर्य (मिठास, अथवा माधुर्य नामक गुण) रमणियों के वचन में और काव्य में होता है ॥१५॥

यस्यामुपवनवीथ्यां तमालपत्राणि युवतिवदने च ।
मुरजप्रहाररणितं संगीतवाद्येषु सुरतकलहेषु ॥१६॥

जहाँ तमालपत्र (तमाल के पत्ते अथवा मस्तक के तिलक चित्र) उपवन की वीथि में और युवतियों के मुख में रहते हैं। मुरजों के प्रहार की झंकार वीणा आदि तन्त्री वाद्य और सुरत के कलह दोनों में होती है ॥१६॥

नन्दनवनाभिरामा विबुधवती नाकवाहिनीजुष्टा ।
अमरावतीव यान्या विश्वसृजा निर्मिता जगति ॥१७॥

इन्द्र की नगरी अमरावती जिस प्रकार नन्दन वन से अभिराम, विबुधों (देवताओं) से सम्पुष्ट, नाकवाहिनी (देवसेना) से सेवित है उसी प्रकार यह नगरी आनन्दमय वनों से अभिराम, विबुधों (विद्वानों) से सम्पुष्ट, नाकवाहिनी (स्वर्ग की नदी गङ्गा) से सेवित होने से विधाता के द्वारा संसार में मानो दूसरी अमरावती बना दी गई है ॥१७॥

समुवास वारराम मानसवसतेः शरीरिणी शक्तिः ।
निःशेषवारयोषिद्विभूषणं मालती नाम ॥२०॥

उस वाराणसी में मनसिज की शरीर धारिणी शक्ति रूप में समस्त वेश्याओं में भूषण सी मालती-नाम की एक वाराङ्गना[1] निवास करती थी ॥

तस्यां स्मरपतितनुरिव विलासिनीहृदयशोकसंजननी ।
आकृष्टेश्वरहृदया प्रालेयनगाधिराजतनयेव ॥१८॥

जिस प्रकार कामदेव की देह को देख कर विलासियों (शिव में निवास करने वालों अर्थात् गणों) के हृदय में शोक उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार उसे देख-कर विलासी जनों (कामुकों) का हृदय शोक-सन्तप्त हो जाता है। जिस प्रकार, हिमालय की पुत्री पार्वती ने ईश्वर (शिव जी) के हृदय को आकृष्ट कर लिया था उसी प्रकार उसने भी ईश्वरों (धनवानों) के हृदय आकृष्ट कर लिये थे ॥१८॥

संसक्तभोगिनेत्रा मन्दरधरणीभृतो यथा मूर्तिः ।
उपरि गता शूलानामन्धासुरगात्रलेखेव ॥१९॥

(समुद्र के मन्थन के समय जिस प्रकार मन्दराचल भोगी (सर्प, वासुकि नाग) रूप नेत्र (मन्थन की डोर) से समाकृष्ट (बंधा) था उसी प्रकार भोगी (विलासी) जनों के नेत्र उसके प्रति समाकृष्ट रहते थे। जिस प्रकार अन्धासुर की गात्र लेखा (शिव जी के तीन शूलों वाले आयुध) के ऊपर स्थापित थी उसी प्रकार यह शूलाओं (वेश्याओं) की सिरमौर थी ॥१९॥

1 वार अर्थात् समूह की स्त्री। गणिका वेश्या रूपाजीवा आदि शब्द भी उसके पर्यायवाची हैं। इसके अतिरिक्त [illegible] शब्द भी [illegible] के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। ये सब एक प्रकार [illegible] हैं। वाराङ्गनायें जिस घर या मकान में निवास करती हैं उसे [illegible] कहते हैं ([illegible]) '[illegible]' भी [illegible] कहलाती है। 'रूपाजीवा' अर्थात् रूप के द्वारा जीविका चलाने वाली स्त्री। वेश्या को 'पण्य स्त्री' अर्थात् बाजारू स्त्री भी कहते हैं अर्थात् जो धन का विषय की वस्तु होती है।

पेशलवचसां वसतिर्लीलानामाकरः स्थितिः प्रेम्णः ।
भूमिः परिहासानामावसथो वक्रकथितानाम् ॥२१॥

वह भी सुन्दर वचनों की वसति, लीलाओं का आलय, प्रेम की स्थिति, परिहासों[1] की भूमि और वक्रोक्तियों[2] का निवास-स्थान ॥२१॥

सा शुश्राव कदाचिद्धवलालयपृष्ठदेशमधिरूढा ।
केनापि गीयमानां प्रसङ्गपतितामिमामार्याम् ॥२२॥

किसी समय जब वह धवल उत्तम भवन की छत पर बैठी हुई थी तभी उसने किसी के द्वारा अवसर पर गाई जाती हुई प्रसङ्ग प्राप्त इस आर्या को सुना ॥२२॥

'यौवनसौन्दर्यमदं दूरेणापास्य वारवनिताभिः ।
यत्नेन वेदितव्याः कामुकहृदयार्जनोपायाः ॥२३॥

"अपने यौवन और कमनीयता के मद को दूर ही से त्याग कर वेश्याओं को कामुकों के हृदय आकर्षित करने के उपाय मालूम करने चाहिएँ।" ॥२३॥

श्रुत्वाथ विपुलजघना मनसि मालती चकार चिरम् ।
प्रतिसाम्प्रतमुपदिष्टं सुहृदेवानेन साधुना पठता ॥२४॥

विशाल जघनों वाली इस मालती आर्या को सुन कर देर तक मन में यह गुनती रही कि आर्या को पढ़ते हुए इस भले आदमी ने मित्र की तरह ठीक मौके पर उपदेश दिया है ॥२४॥

१—हँसी मजाक की बातचीत को 'परिहास' कहते हैं। 'भावप्रकाशन' में शारदातनय लिखते हैं —

अन्यमुखे दुर्वादो यः प्रियवक्त्रे स एव परिहासः ।
इतरेन्धनजन्मा यो धूमः सोऽगुरुभवो धूपः ॥१२॥

अर्थात् दूसरे के मुख से जो 'दुर्वचन' कहा जाता है वही अगर प्रिय के मुख से निकले तो 'परिहास' की संज्ञा ग्रहण करता है।

२—सीधी सीधी बात न कह कर घुमा फिरा कर कही गई बात को 'वक्रोक्ति' कहते हैं। किसी बात का वाक्यात्मक ढंग से कहना जो अनोखी चमत्कार उत्पन्न करती है उसे काव्य का प्राण कहा है (वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्)। इस शैली को उर्दू में 'पेचीदगी' कहते हैं।

तदगत्वा पृच्छामो विकरालां कलितसकलसंसाराम् ।
यस्या कामिजनौघो दिवानिशं द्वारमध्यास्ते ॥२५॥

तो सखार के वृत्तान्तों को जानने वाली उस विकराला से जाकर पूछती हूँ जिसके द्वार पर रात-दिन कामुक जनों की भीड़ लगी रहती है ॥२५॥

इति मनसि सा निवेश्य द्रुततरमवतीर्य वेश्मनः शिखरात् ।
विकरालाभवनवरं परिजनपरिवारिता प्रययौ ॥२६॥

इस प्रकार मन में सोच भवन के शिखर से झट उतर, परिजनों से घिरी वह विकराला के घर गई ॥ २६॥

अथ विरलोन्नतदशनां निम्नहनुं स्थूलचिपिटनासाग्राम् ।
उल्वणचूचुकलक्षितशुष्ककुचस्थानशिथिलकृत्तितनुम् ॥२७॥

मालती ने आसन्दी (गद्देदार आसन) पर बैठी हुई विकराला को देखा। उसके दाँत प्रायः गिर गए थे और आगे के बचे हुए दाँत मुँह से बाहर निकल आए थे, ठुड्डी मुड़ी हुई थी, नाक का अग्र भाग मोटा और चिपका हुआ था, बड़े बड़े चूचुकों से उसके सूखे हुए स्तनों का पता लगता था जिनके स्थान का चर्म झूल रहा था ॥२७॥

गम्भीरारक्तदृशं निर्भूषणलम्बकर्णपाली च ।
कतिपयपाण्डुरचिकुरां प्रकटशिरासन्ततायतग्रीवाम् ॥२८॥

उसकी आँखें भीतर धँसी हुई और लाल-लाल थीं। उसके कानों की लटकी भूषणहीन और लम्बी थी। कतिपय केश पक गए थे। गर्दन की नसें दिखाई पड़ती नसों से भरी और अधिक पैसी हुई थी ॥२८॥

सितधौतवसनयुगलां विविधौषधिमणिविनाभगलसूत्राम् ।
तन्वीमङ्गुलिमूले तपनीयमयीं च वालिकां दधतीम् ॥२९॥

उसके दोनों वस्त्र उज्ज्वल और धुले हुए थे। उसने अनेक प्रकार की औषधियों और मणियों से बना गले सूत्र तावीज़ के रूप में डाल रखा था तथा वह अंगुलिमूल में सोने की बनी पतली मुदरी पहने थी¹ ॥२९॥

१–आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी 'समयमातृका' में ठीक इसमें मिलता-जुलता बुढ़िया का चित्र खींचा है—

'भग्निसुप्तशिरासन्ततम्पी लीला चोदरशोषिता ।
शुष्कपयोधरस्तड्‌गादातीव करपूतमा ॥'

गणिकागणपरिकरिता कामिजनोपायनप्रसक्तदृशम् ।
आसन्द्यामासीनां विलोकयामास विकरालाम् ॥३०॥

वह गणिकाओं से घिरी थी। उसकी आँखें कामुकजनों द्वारा अर्पित उपहारों में लगी हुई थीं ॥३०॥

अवलोक्य सा विधाय क्षितिमण्डललीनमौलिना प्रणतिम् ।
परिपृष्टकुशलवार्ता समनुज्ञातासनं भेजे ॥३१॥

मालती ने विकराला को ज़मीन पर सिर रख कर प्रणाम किया। विकराला ने कुशलक्षेम पूछा। फिर मालती ने विकराला की आज्ञा से आसन ग्रहण किया ॥३१॥

अथ विरचितहस्तपुटा सप्रश्रयमासनं समुत्सृज्य ।
इदमूचे विकरालामवसरमासाद्य मालती वचनम् ॥३२॥

तब मालती अवसर पाकर अपना आसन छोड़ हाथ जोड़ विनय पूर्वक विकराला से बोली ॥३२॥

विदधासि हरिमकौस्तुभमहरिं हरिमगजनायममरेन्द्रम् ।
अद्रविणं द्रविणपतिं नियतं मतिगोचरे पतितम् ॥३३॥

निश्चय ही तुम्हारे बुद्धिजाल में आकर पड़े हरि अपने कौस्तुभ रत्न को, सूर्य अपने रथ के घोड़ों को, इन्द्र अपने ऐरावत को और कुबेर अपने धन को हार बैठते हैं ॥३३॥

अयमेव बुद्धिविभवं हृतविभवस्ते पटच्चरावरणः ।
कामुकलोकः कथयति सत्रागारेषु भुञ्जानः ॥३४॥

यही कामुक जन अपने विभव के (तुम्हारे द्वारा) हर लिए जाने से फटे

वहन्ती मुण्डकुञ्चितं शरीरं चर्मबन्धनम् ।
अन्तर्गतगलद्ध्यामसिराराञ्जितपञ्जरम् ॥
भुग्नाग्रदीर्घोद्दशना मीनपक्षाक्षितिः ।
अधरावनद्धमग्न संस्थितास्थिरता युनी ॥
उन्नतस्कन्धा अधमग्रीवा मार्जारलोचना ।
निर्मिता प्राणिनामग्रे रिव निस्पर्शनाश्मिनाम् ॥
(चतुर्थ समय)

पुराने ग्रन्थों में ध्यान लगा कर अन्न के सत्रों (सत्रागारों)[1] में भोजन करते हुए तुम्हारे बुद्धिविभव की प्रशंसा करते हैं ॥३४॥

उपसंहृतान्यकर्मा धनवर्मा नर्मदाङ्घ्रियुगलस्य ।
सकलसमर्पितसंपद्यदुपेतः पादपीठत्वम् ॥३५॥

जो कि धनवर्मा अन्य काम-काज छोड़ अपने घर की सारी सम्पत्ति अर्पित कर नर्मदा (नाम की गणिका) के दोनों चरणों का पादपीठ[2] बन चुका है ॥३५॥

यदुपगतो नयदत्तः सागरदत्तस्य मध्यमः पुत्रः ।
प्रीणाति मदनसेनां विधाय पितृमन्दिरं रिक्तम् ॥३६॥

जो कि सागरदत्त का मंझला लड़का नयदत्त पिता का घर सूना करके मदनसेना की खुशामद करता है ॥३६॥

यल्लीलार्पितचरणो मञ्जर्यां भट्टपुत्रनरसिंहः ।
परितोषं व्रजति परं मृदु मृद्नन्पाणियुगलेन ॥३७॥

जो कि भट्ट का पुत्र नरसिंह मञ्जरी के लीला से अर्पित चरणों को अपने हाथों से धीरे-धीरे सहलाता हुआ परितोष का अनुभव करता है ॥३७॥

यन्निर्लोपितविभवो दीक्षितभवदेवपुत्रशुभदेवः ।
निर्भर्त्सितोऽपि नोज्झति केशवसेनागृहद्वारम् ॥३८॥

जो कि भवदेव दीक्षित का लड़का शुभदेव अपना धन दौलत फूंक कर दुत्कारे जाने पर भी केशवसेना का दरवाजा नहीं छोड़ता ॥३८॥

अन्या अपि कामिजनं साधारणयोषितो यदाक्रम्य ।
विदधति सर्वस्वशेषं विजृम्भितमेतत्तवोपदेशानाम् ॥३९॥

जो कि साधारण स्त्रियाँ भी कामुकजनों को पकड़कर उन्हें सर्वस्वशेष (जिन के तन पर केवल कपड़ा और शरीर ही बचा हुआ) कर डालती हैं यह सब तुम्हारे उपदेशों का ही चमत्कार है ॥३९॥

1—सत्रागार—भुक्ति शाला। (अन्न का सत्र ...) प्राचीन काल में इस प्रकार के दान के लिए 'सत्रागार' बने होते थे। वाराणसी में ये सैकड़ों में मिलते हैं।

2—पादपीठ—एक प्रकार की चौकी जिस पर पैर रखे जाते थे। यह पलंग के नीचे रखी जाती थी। कामुक धनवर्मा मानो नर्मदा गणिका को सब धन देकर उसका पादपीठ बन चुका है। अर्थात् पलंग पर अब उसके साथ बैठने का अवसर नहीं रहा बल्कि वह पादपीठ के स्थान पर पड़ा रहता है।

ज्ञातान्वयअभिमानो गुणहीना रोगिणो निराकृतयः ।
उपसेविता मयापि प्रकटीकृतरागसौष्ठवं पुरुषाः ॥४०॥

मैंने भी नीच कुल में उत्पन्न गुणहीन पापी और [illegible] पुरुषों की सदा प्रेम का [illegible] करके की है ॥४० ॥

मातः किं विदधामो हतधातुर्वामताभियोगेन ।
नासादयाम इष्टं निजतनुपण्यप्रसारकेणापि ॥४१॥

हे माता, क्या करूँ मुझ विधाता की इतनी उल्टी चाल है कि अपनी तन को बाजार में (बिक्री के लिए) सजाने पर भी हमें इष्ट का लाभ नहीं होता ॥४१॥

तत्कुरु मातरनुग्रहमभिधत्स्व ममापि वहिनो भोग्यान् ।
उपायं च वेशचेष्टितमर्मासिजशरजालपातनोपायान् ॥४२॥

सो हे माता मुझ पर अनुग्रह करो मुझ भी धीर पुरुषों की तथा [illegible] पद और आचरण एवं कामदेव के बाणों के जाल में उन्हें गिराने के उपाय बताओ ॥४२॥

इति गिरमुदीरयन्तीं सप्रेमामृश्य पाणिना पृष्ठे ।
गर्धिरवचो विकराला अधिराहतिमालतीमूचे ॥४३॥

तब विकराला मनोहर आकृति वाली मालती से प्रसन्नता से उसकी पीठ [illegible] करके बोली ॥४३॥

प्रथममेव [illegible]मानस्मरनिर्गमधूममर्मनिकाकारः ।
चिकुरभरस्तव सुन्दरि कामिजनं विभरीतुरते ॥४४॥

"सुन्दरी [illegible] हुए कामदेव के शरीर से निकली हुई धूमलता की आकार वाला तेरा यह बालों का [illegible] कामीजन को अपना दास बना लेता है ॥४४॥

प्रथममेव ते भ्रुवोरपि मन्दोल्लसितभ्रुविभ्रमाधारः ।
प्रथयीयगीति धीरा मधुरस्मितसुभगवाञ्छितविशेष ॥४५॥

हे धीर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मन्द स्मित [illegible] [illegible] सुन्दर चेष्टाओं से भरी मीठी मुस्कान [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] सौन्दर्य [illegible] जनों का [illegible] [illegible] है ॥४५॥

इयमेव दशनकांती रतिकान्ताकुसमतितरा कुरुते ।
श्रुतिपथमप्युपयाता नियतं तव कामिनां मनसि ॥४६॥

यही तेरे मुख की कान्ति की कथा श्रवण करके कामुकजन मदनाकुल हो जाते हैं (देखने के बाद की स्थिति क्या होगी पता नहीं) ॥४६॥

इयमेव दशनपंक्ती रुचिराचिरकान्तिधाम समकांति ।
उत्पादयति नितान्तं तव मन्मथबाहुवेदनां पुंसाम् ॥४७॥

सुन्दर बिजली की लड़ी के समान कान्ति वाली यही तेरी दन्तपंक्ति पुरुषों की कामजनित बाहुवेदना को अधिक-अधिक उत्पन्न करती है ॥४७॥

इदमेव समुल्लपितं लीलावति विजितपरभृतध्वनितम् ।
तव निःशेषभुजंगव्याकर्षणसिद्धमंत्र उच्चरित ॥४८॥

हे लीलावती वाली, कोकिल के स्वर को पराजित कर देने वाली यही तेरी आवाज समस्त भुजङ्गों (सर्पों रलेष से विटजनों) को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए उच्चरित सिद्ध मंत्र है[1] ॥४८॥

इदमेव मकरकेतननिकेतनं स्तनयुगं तवाभोगि ।
भोगवति भोगसाधनमपरोपायग्रहा व्यर्थे ॥४९॥

हे विलासशील, कामदेव का निवासभूत यही तेरा विशाल स्तनयुगल सुखों का साधन है, अब दूसरे उपायों को ग्रहण करना व्यर्थ है ॥४९॥

इदमेव बाहुयुगलं मृणालतनुसुन्दरं तवाभोगि ।
यस्य न जनयति मदनं कनकाङ्गदभूषणं सुतनु ॥५०॥

हे भेष्ठ भोगों वाली हे सतनु, कमलनाल की भांति कोमल, वलयधारी यही तेरा बाहुयुगल किसके काम की उत्पन्न नहीं करता ? ॥५० ॥

मयमेव मध्यदेश कन्दर्पविशकरणचतुरस्ते ।
प्रकृशोऽपि शरीरवती दशमीं प्रापयति मन्मथावस्थाम् ॥५१॥

कामदेव की आज्ञा के पालन में चतुर यही तेरा कटिभाग अधिक क्षीण होकर भी शरीरधारी को काम की दशम अवस्था (अर्थात् मृत्यु) तक पहुँचा देता है ॥५१॥

१—अर्थात् जिस प्रकार आहितुण्डिक या सपेरा मन्त्रोच्चारण के द्वारा सर्पों को आकृष्ट कर लेता है उसी प्रकार यह तेरी आवाज विटजनों को आकृष्ट कर लेती है।

इयमेव रोमराजि संकल्पजचापयष्टिगुणशोभाम् ।
दधती विदधाति तव स्मरसायकशल्यविह्वलान्यून ॥५२॥

कामदेव की धनुर्यष्टि के गुण (डोरी) की शोभा धारण करती हुई यही तेरी रोमपंक्ति युवाओं को कामदेव के बाणों से व्याकुल कर डालती है ॥५२॥

इदमेव च पृथुजघनं कनकौतशिलातलाभिरमणीयम् ।
तव तरुणि वशीकरणं यतिसंयतिनाशकारि करभोरु ॥५३॥

हे करभ (हाथ का कनीनिका की ओर का हथेली का किनारा या सूंड़) के समान ऊरु वाली, सुवर्ण के शिलातल की भांति रमणीय एवं विशाल यही तेरा जघन युवानों का वशीकरण और यतिजनों के संयम को भंग करने वाला है ॥५३॥

इदमेव तवोरुयुगं रम्भास्तम्भोपमं मनोहारि ।
वद सुन्दरि नाभिमतं मदनज्वरशान्तये कस्य ॥५४॥

हे सुन्दरी तू ही कह केले के खम्भे जैसा मन को हर लेने वाला यह तेरा ऊरुयुगल कामज्वर के ताप के शमनार्थ किसे अभीष्ट नहीं है ! ॥५४॥

यौवनकल्पतरोस्ते कनकलताविभ्रमं सुवृत्तमिदम् ।
जंघायुगलं नेच्छति कामफलप्राप्तये क इह ॥५५॥

तेरे यौवनरूपी कल्पवृक्ष की कनकलता रूप गढ़ पर चढ़े हुए तेरे जंघायुगल को यहाँ काम रूप फल की प्राप्ति के लिए कौन नहीं चाहता ! ॥५५॥

निर्जितदाडिमरागं विजितस्थलकमलिनीविलासमिदम् ।
तव चरणसरोजयुगं कस्य न मानसमलंकुरुते ॥५६॥

हे तरुणी, दाडिम की लाली को जीत लेने वाला एवं स्थलकमलिनी के विलास को पराजित कर देने वाला यह तेरा चरणयुगल किसके मन का अलंकरण नहीं करता ! (अर्थात् सब तेरे चरणों को अपने मन में धारण करते हैं) ॥५६॥

१—५३ से ५५ तक के तीन पद्यों में जघन ऊरुयुग और जंघा इन का वर्णन है। 'जघन' स्त्री का कटिप्रदेश (करधनी पहनने का स्थान) होता है अर्थात् जो कटि या कमर नीचे पुट्ठोंवाला प्रदेश है वह 'जघन' कहलाता है। 'ऊरु' पैर के मोड़ वाले स्थान के ऊपर का भाग है और उसके नीचे का गुल्फ पर्यन्त भाग जंघा कहलाता है।

ह्लेपयति वारणेन्द्रं हंसं हसति प्रयातमिदमत्र ।
तव लीलावति ललितं यूना हृदयानि मथ्नाति ॥५७॥

हे लीलावती वाली यही तेरा गमन ऐरावत को लज्जित करता है, हंस की खिल्ली उड़ाता है और जवानों के हृदय को मथ डालता है ॥५७॥

तदपि यदि ते कुतूहलमवधानं संविधाय तनुमध्ये ।
आकर्णय कथयामि स्वबुद्धिविभवानुसारेण ॥५८॥

हे क्षीण कटिभाग वाली। तथापि यदि तुझे कुतूहल है तो ध्यान देकर सुन, मैं अपनी बुद्धि के विभव के अनुसार कहती हूँ ॥५८॥

स्वीकुरु तावत्प्रथमं नृपसेवकभट्टसूनुमतियत्नात् ।
स्वाधीनामतिविपुलां यदि सम्पन्मीहसे सुतनु ॥५९॥

हे सुतनु यदि तू अतुल धन-सम्पदा का उपभोग करना चाहती है तो पहले राजकर्मचारी भट्ट के लड़के को कोशिश करके अपना ले ॥५९॥

प्रत्यासन्नग्रामे स्वयं प्रभु पितरि नित्यकटकस्थे ।
भट्टसुतश्चिन्तामणिराकृष्टो भवति नियमेन ॥६०॥

(उसका) पिता भट्ट हमेशा राजा की छावनी में रहा करता है और पास नजदीक के गाँव में खुद मालिक बन गया है (इसलिए) वही भट्ट पुत्र रूपी चिन्तामणि निश्चय ही खिंच आयगा[1] ॥६०॥

शृणु तस्य चारुहासिनि वेषग्रहणं च चेष्टितं चैव ।
निपतति स यथा तूर्णं प्रियसुरभिकुसुमशरासनप्रसरे ॥६१॥

हे सुन्दर हंसने वाली, जिससे फिर वह भट्टपुत्र शीघ्र ही वसन्त के सखा कामदेव के धनुष के मोह में आ गिरेगा उसके वेष और आचरण कहती हूँ सुन ॥६१॥

स्थूलस्थापितपुलकपथागुल्ममानकेशविन्यास ।
लम्बश्रवणनिवेशित [illegible] दन्तपंक्तिश्च ॥६२॥

[illegible] मोटी और भारी [illegible] उसके कान परिमाण में [illegible]

[1]-चिन्तामणि का आशय है कि भट्टपुत्र को हासिल करना उस चिन्तामणि का पाना है जिससे सारी इच्छायें पूरी हो जाती हैं। यहाँ चिन्तामणि भट्टपुत्र का नाम है।

मैस (भारानुभ) यम हुए हाथों वाला 'पंक्ति' नाम का अलंकार लगाए रहता है ॥६२॥

करशाखार्पितमुद्रिकचामीकरकण्ठसूत्रिकाभरणः ।
परिमृष्टगात्रकुंकुमविचित्रपिञ्जरितसर्वाङ्गः ॥६३॥

हाथ की उँगलियों में अँगूठी और कण्ठ में सुवर्णमय कंठा पहनता है, अंगों में कुंकुम के उबटन लगा होने के कारण उसके सारे अंग हल्के-से पिञ्जरित (रंगीन) रहते हैं ॥६३॥

प्रविलम्बिकुसुमदामकगलमण्डनजानरूपकृतशोभ
मन्तर्निविष्टसिक्थकतीरप्रिकर्मूर्म्मिकाञ्चिचरणान ॥६४॥

पुष्पों की माला उसके गले में लटकती रहती है एवं सुवर्ण के गहने से शोभित रहता है। उसके उपानह के भीतर मोम और मूंगा जड़ी नगरी पनी नाम आदि वस्तुएँ हैं ॥६४॥

नानावर्णविवेष्टितबहलस्थापाशबद्धनतकश
एकस्मिन्सखोटकमपरस्मिन्नीसपत्रकं कर्णे ॥६५॥

रंग-बिरंग सूतों को बट कर बनाये गये बन्धन से उसने अपने केश बांध रखा है। उसके एक कान पर 'दन्तखोटक' तथा दूसरे कान पर 'सीसपत्रक' नाम का अलंकार है[२] ॥६५॥

उच्चण्डकनकगर्भितकुंकुमपिञ्जरितवस्त्रपरिधान ।
स्थूलतरकाचवर्तयमाना च गले दधानेन ॥६६॥

उसका कपड़े का पहनावा चमत्कार सुनहला और कुंकुम के कारण पिञ्जरित (लाल-पीला) रहता है। उसके पीछे-पीछे टहलता नाई उस बाला का अनुकूल गन्ध की माला धारण किये हुए रहता है ॥६६॥

---

१ अथवा 'गुच्छक' अथवा 'आदक' नाम से प्रसिद्ध निशान उसके गला निर्मित करनेवाला 'नीर पक्ष' है अथवा 'महाव्युत्पत्ति' के अनुसार भूषण विशेष जिसमें बना हुआ लगा भूषण वाली 'नीर पक्ष' पद से अभिप्रेत है।

२- ये दोनों कर्णाभरण का प्रसिद्ध हो चुके हैं। सम्भवतः दन्तखोटक कान के बाले जैसा और सीसपत्रक किसी पत्ते के रूप जैसा अलंकार हो। निश्चय ही ये दोनों दन्तक्रीड़ा के ऐसे नाम हैं।

वृश्चिककर्तरिजितकरजकरमूलनिबद्धशंखचक्रेण ।
प्रथमवयस्त्वं भजता ताम्बूलकरङ्कवाहिनानुगतः ॥६७॥

उसके नख मेंहदी¹ (वृश्चिक) लगाने से लाल रहते हैं और वह अपने बाहुमूल में शङ्ख-चक्र बांधे रहता है ॥६७॥

श्रेष्ठिवणिग्विटकितवप्रधानरङ्गस्य सुमहतो मध्ये ।
शूलापालस्थापितकतिपयवध्योत्पीठिकासीन ॥६८॥

मुख्य रूप से सेठों बनियों विटों और धूर्तों की बड़ी महफ़िल के बीच में वेश्याध्यक्ष (शूलापाल) द्वारा लाकर रखे हुए मोटे-मोटे गद्दे पर वह मठ का पुत्र बैठता है² ॥६८॥

उत्सङ्गार्पितखड्गैर्यथातथभाषिभिर्मदोद्धत्यम् ।
बिभ्राणैरनुजीविभिरधिष्ठितः पंचषैः पुरुषैः ॥६९॥

उसके पास पांच छः आदमी अपनी कमर में तलवार खोंसे, व्यर्थ की बकवास करते एवं अभिमान में चूर खड़े रहते हैं ॥६९॥

१—तनसुखराम ने इसे छुरक माना है। काव्य-प्रमाण के अभाव में सिर्फ एक अर्थ होने से छुरक को 'वृश्चिक' मानना कठिन है। एक पुनर्मंत्र से भी इसकी पहचान उसी प्रकार है। मेंहदी के अर्थ में वृश्चिक का यह प्रयोग अर्थ के सङ्गत होने पर भी निःसंदिग्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मेंहदी का प्राचीन साहित्य में उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः मेंहदी मुसलमानी युग में भारत में आया विदेशी पौधा है।

२—यहाँ से कामुक की महफ़िल का एक चित्रण आरम्भ है। इसमें उपस्थित होने वाले दो प्रकार के लोग हैं एक तो व्यापारी जैसे सेठ वणिक और दूसरे वेश्यागृहों के चालिस रहने वाले जैसे विट, कितव आदि। दोनों का अभिप्राय कामुक की चोर-गुप्तता का धन लूट लेना है। मठपुत्र के वर्णन से यह लगता है कि यह प्राचीन काल के भ्रष्टाचारी रसिकजनों का प्रतिनिधित्व करता है। इस श्लोक के 'शूलापाल' शब्द का अर्थ तनसुखराम के अनुसार 'वेश्याध्यक्ष' है। इसका आगे भी इसी ग्रन्थ में उल्लेख है किन्तु अन्य टीकाकार श्री त्रिदिवनाथ राय ने इसे 'वेश्यागाध्यक्ष' कहा है। सही समझ में यह व्यक्ति कुमार की तैयारी में अपनी ओर से सजावट-बनावट करने वाला है जो ठीक पर सब वेश्यालयों में पहुँच कर सब की सब तरह की भोग सामग्री प्रस्तुत करने का काम करता है।

चतुरतरसेवकार्पितपृष्ठपरिक्षिप्तपूर्वदेहांशः ।
अन्तश्च तताम्बूलस्थोच्छूनकपोलकल्पितकरपर्णः ॥७०॥

वह चालाक नौकर के दिये हुए तकिए पर आधे शरीर को डाले रहता है। मुख के भीतर ताम्बूल रखने से उसके कपोल अधिक फूले रहते हैं फिर वह अपने हाथ मलता है ॥७०॥

अनपेक्षितप्रसङ्गः पुनः पुनः पठति सोऽयतभ्रूः ।
गाथां श्लोकमार्यां भावितचेता यथातथाधीताम् ॥७१॥

प्रसंग का ख्याल न करके आनन्दमग्न हो भौंहें उठाकर अंटसंट अधीत गाथा-छन्द के श्लोकों को बार-बार पढ़ता है ॥७१॥

विस्मयलोलितमौलिः पार्श्वगतांस्ताडयन्नसावेगात् ।
हा कष्टं साध्विति वादैरन्तरयति परसुभाषितश्रवणम् ॥७२॥

आश्चर्य से सिर हिलाता है, बगल वालों को रसावेश के कारण ठोंकता है और 'हा' 'कष्ट' 'साधु' आदि वचनों से सुभाषित श्रवण करते हुए दूसरों को विघ्न पहुँचाता है ॥७२॥

इदमुक्तो रहसि मया तातेन नृपो नृपेण तातोऽपि ।
इति पितुरपि विप्रकुरुते महीभृतः प्रणयविश्वासौ ॥७३॥

पिता जी ने एकान्त में राजा से यह कहा और राजा ने भी पिता जी से कहा इस प्रकार अपने पिता और राजा के प्रति परस्पर प्रेम और विश्वास प्रकट करता है ॥७३॥

पत्रच्छेद्यमजानञ्जानन्वा कौशलं कलाविषये ।
प्रकटयति जनसमाजे बिभ्राणः पत्रकर्तरीं सततम् ॥७४॥

पत्र काट कर चित्रकारी करने की कला (पत्रच्छेद) को जानता अथवा न जानता हुआ यह अपने हाथ में हमेशा काटने की कैंची लिए हुए यह लोगों में प्रकट करता है कि यह कला के विषय में कुशलता रखता है ॥७४॥

ब्रह्मोक्तनाट्यशास्त्रे गीते मुरजादिवादने चैव ।
अभिभवति नारदादीन्प्रावीण्यं भट्टपुत्रस्य ॥७५॥

भट्टपुत्र का कौशल ब्रह्मा के द्वारा[1] कहे गए नाट्य-शास्त्र में, गान में एवं मृदंग आदि वाद्यों के बजाने में नारद आदि गान्धर्व शास्त्र के रचयिताओं को अभिभूत करता है ॥७५॥

वसुनन्दचित्रचण्डकमुक्तायुधखड्गधेनुबन्धेषु ।
त्यजति पुरतोऽस्य नित्यं भार्गवतां परशुरामोऽपि ॥७६॥

वसु,[2] नन्द, चित्र, चण्डक (आदि कुश्ती के दाव-पेंचों में तथा) चक्र आदि मुक्तायुध और तलवार, छुरी आदि (अमुक्तायुध) के प्रयोगों में इसके सामने निश्चय ही परशुराम अपने भार्गवत्व (भृगुवंश में उत्पन्न होने का अभिमान) छोड़ देते हैं ॥७६॥

वात्स्यायनमयमबुधं धाष्ट्र्यं दूरेण दत्तकाचार्यम् ।
गणयति मन्मथतन्त्रे पशुतुल्यं राजपुत्र च ॥७७॥

यह कामशास्त्र में वात्स्यायन को अशिक्षित दत्तक आदि आचार्यों[3]

१—यद्यपि नाट्य शास्त्र के रचयिता भरत मुनि हैं तथापि मूल रूप में यह शास्त्र ब्रह्मा जी से ही भरत को प्राप्त हुआ जैसा कि स्वयं नाट्य शास्त्र में भरत ने कहा है—

'नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम् ।'

२—परिक्रम अथवा पैतरे अर्थात् द्वन्द्व युद्ध के पैंतरे के अर्थ में वसु आदि का उल्लेख करते हुए शब्दकल्पद्रुम ने कोई प्रमाण उद्धृत नहीं किया है। इनका पारी-भेद के अर्थ में भी उल्लेख प्रमाणित नहीं है।

३—वात्स्यायन (मल्लनाग) कामशास्त्र के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं दत्तक (दत्तिल ?) कामशास्त्र के वैशिक अधिकरण के कर्ता माने जाते हैं और राजपुत्र कोई प्राचीन कामशास्त्रकार थे।

७७ वें और ७८ वें श्लोक के बीच एक और श्लोक दो अन्य पाण्डुलिपियों में प्राप्त होता है—

"स प्रार्थितोऽपि यत्नात्कृपणो राज्ञा सुतोऽददातिस्म ।
अपिचिन्तित वसुवर्षैस्त्याग गुणं हरति सत्यायम् ॥"

इसका अर्थ यह है—

राजा के पुत्र जिस कर्ण ने यत्नपूर्वक प्रार्थना करने पर अपना कवच दान में दे दिया, बिना सोचे-विचारे धन की वर्षा करने वाला वह भट्टपुत्र उसके त्याग गुण का अपहरण करता है।

को दूर भगा ही मारता और राजपुत्र को पशु जैसा करार देता है ॥७७॥

प्रपलायनैकहृदये यो विक्रममातनोति हरिणेऽपि ।
सिंहस्य तस्य शौर्यं त्रपाकरं भट्टपुत्रस्य ॥७८॥

और जो भागने पर तुले हरिण जैसे प्राणी पर भी जो अपना पराक्रम दिखाता है उस सिंह का शौर्य भट्टपुत्र के लिए लज्जित करने वाला होता है[1] ॥७८॥

आखेटकेऽपि कौतुकमस्त्येव जयश्च चंचले लक्ष्ये ।
भट्टभयेन न खेलति भट्टसुतः किन्त्वतिप्रकटम् ॥७९॥

शिकार खेलने में भी इस शौक है तो, चंचल निशाने को साधने का भी शौक है, किन्तु यह अपने पिता भट्ट के डर से प्रकट होकर नहीं खेलता है ॥७९॥

इति निजसेवकनिगदितरमणीयवचश्रवणपरितुष्टः ।
अन्तर्मुदितो ब्रूते मामेव खलीकरोतीति ॥८०॥

इस प्रकार अपने सेवक जन के रमणीय वचनों से परितोष अनुभव करने पर मन-ही-मन खुश होता है लेकिन कहता यह है कि यह मेरी झूठी तारीफ कर रहा है[2] ॥८०॥

1—कवि ने चाटुकारी के द्वारा यह कहला कर कि पलायमान हरिण पर पराक्रम करने वाले सिंह का शौर्य उसके लिए लज्जाकर था व्याजस्तुति द्वारा भट्टपुत्र की भीरुता सूचित की है।

2—हम कह चुके हैं कि भट्ट का पुत्र के रूप में हमें प्राचीन 'रसिक' का यह चित्र देखने को मिला है। ठीक इसी ढंग के रसिक (नवाब) का उल्लेख सागिका 'गुजरात पाम' में किया है—'घर में सुख। आखिर मरहूम इनके रिश्ता बताने के वास्ते से एक बड़ा इलाका इनके खर्च के लिए जागीर कर छोड़ गये थे प्यार करने वाला पुत्रपेशानी (सुमुख के बराबर मुस्कराता) मकान में पहरी कहना साथ रहता था। फाल बढ़ाया गया घूघर बनाया गया। जुल्फेदार टोपी सर पर रखी गई। ऊँची चोली का अंगरखा पहना। कम पायचों का पाजामा पहना गया। यह सब बातें रसिकों की दरबारदारी के लिए किया गया था।

खाने के हाल में भी आपको कमाल था। कुर्मालियाँ खुद बनाते खुद ही उन्हें पका कर खाते थे। खुद ही साग बनाते खाते थे। और जो भी कुछ था वह था, मुँह से तबला खूब बजाते थे। पाँवों में खूब ही नाम किया था।

कतमत्कतमस्मात् प्रस्थानं का च नर्तकी भद्रा ।
विटसटक का नृत्यति कोहलभरतोदितक्रियया ॥८१॥

कौन कौन प्रस्थान (नाट्यादि शास्त्र का विषय) मालूम हैं, कौन नर्तकी[1] भद्र (या साध्वी) है, नाट्याचार्य कोहल और भरत के कहे हुए प्रकार के अनुसार विटसटक[2] (शठरूप!) में कौन नाचती है ॥८१॥

वतन से थोड़ा-थोड़ा रुपया चला आता था। दामोदर के पिता सुरापोकाम, पुरापसन्द, मुफ़्तखोरे आपके साथ रहते थे।

'रसमदन भाण' में रसिक होने के लिए अपेक्षित सामग्री का अच्छा चित्र है जो महापुरुष के वर्णन के बहुत अनुकूल है—

आपादलम्बिविधृत कञ्चुकोज्ज्वलाय ङ्ग वाससी विशद कोमल सूक्ष्म सूत्र ।
करा च गुल्मचतुरसनतुः पटोऽयं ह्यसो विचित्रपरिधि नैकधुकुममौः ॥
कस्तूरिका तिलकमाहित माननान्त हस्ता च साधु रचिता कनकाङ्गुलि सार्धे ।
पाटीर पङ्कसरसे च मुखाम्बराल जातोऽस्मि हन्त रसिकस्य हमम गरया ॥

१—नर्तकी का लक्षण भरत ने इस प्रकार लिखा है—

भावनादि गुणोपेता नृत्यगीत विचक्षणा ।
मग्ना प्रगल्भा च तथा रूपलावण्यभाषितभसा ॥

समागतासु नारीषु रूपयौवन कान्तिषु ।
न दृश्यते गुणस्तुल्या नर्तकी-सा प्रकीर्तिता ॥ (२४।२३-२४)

२—विटसटक (या भटक) —विटसटक सम्भव है कोई नृत्य का परिभाषिक शब्द हो परन्तु संस्कृत टीकाकार तपस्वी राम ने प्रमाण न मिलने के कारण इसका शब्दार्थ यह बताया है कि वह नृत्यभद जो विटों (लम्पटों) द्वारा 'सटक' अर्थात् आकांक्षित हो। प्रमाण के अभाव में इसी अर्थ पर सन्तोष करना पड़ता है। टीकाकार 'श्रृङ्गाटक भी पाठान्तर' है श्रृङ्गाटक शब्द के समरूप होने से इसका अर्थ 'चौराहा' करना और यह कहना कि चौराहे पर कौन नाच सकती है? यह अर्थ भी कथञ्चित् मान्य है। श्री शाह ने दूसरा पाठ 'श्रृङ्गाटक' ही माना है और उसे एक प्रकार का [illegible] कहा है और प्रमाण उद्धृत करते हैं कि यह समगोत्रक प्रवीण विशिष्ट एक उदाहरण प्रकार—

'संस्था समय पर्युदुङ्गता पुष्प गुम्फत ।
मध्ये च कश्चिद् पूर्तपारतम् शृङ्गाटकस्तु सः ॥' (काव्यानुशासन)

कोऽयंस्त्वं लयमार्गे धेनुकरचिते च भाणके कोऽयम् ।
प्रेङ्खणकादावेवं पृच्छति नृत्योपदेशकं यत्नात् ॥८२॥

वह इस प्रकार यत्नपूर्वक नृत्य के उपदेशक आचार्य से पूछता है कि तुम लय के मार्ग में धेनुक के द्वारा रचित लास्य में तथा प्रेङ्खणक आदि में कैसे हो¹ ? अर्थात् तुम्हारी उनमें कहाँ तक पहुँच है ? ॥८२॥

सुमनोमालां कण्ठात्सादरचेता ददाति नर्तक्यै ।
अपनीय स ताम्बूलकमनवसरे साधुवादं च ॥८३॥

आदर युक्त चित्त वाला वह ताम्बूल वाली फूल की माला को कण्ठ से निकाल कर नर्तकी को अर्पित करता है और बिना अवसर के 'साधु साधु' कहता है ॥८३॥

भुजपतनगात्रसंस्थितिलालित्योद्वहनपार्श्ववलितानि ।
अनयैव निर्मितानि स्थानकशुद्धिश्च चातुरस्यं च ॥८४॥

भुजपतन, गात्र संस्थिति, लालित्य, उद्वहन पार्श्ववलित स्थानक शुद्धि और चातुरस्य नृत्य के इन प्रकारों को इसी ने तो बनाया है² ॥८४॥

१—लयमार्ग (लयमार्गे ?) नृत्य के प्रसंग के आधार पर 'लय' का 'लास्य' बनाया गया है, जो उचित है। 'लय' ताल के बीच का शून्य समय और विश्रान्ति काल है। 'ताल' बजने के समय गाना बजाना की क्रिया का काल से माप या निर्धारण है।

धेनुक—यह कोई नृत्यकार आचार्य थे।

प्रेङ्खणक—यद्यपि उपरूपक के भेद के अर्थ में यह प्रसिद्ध है तथापि प्रस्तुत में नृत्य की कथा के कारण सम्भवतः इसका यौगिक अर्थ 'नृत्य' किया है जिसमें झूलने का वर्णन हो जहाँ।

२—भुजपतन—विशेष नियमों से हाथों का संचालन करना। गात्रसंस्थिति—नर्तकी की विभिन्न स्थितियाँ कभी कभी नृत्य में किसी वस्तु को सिर पर रख कर नाचते हैं इसका यह होता है कि नृत्यकाल में भी अङ्गों की स्थिरता के कारण वह वस्तु गिर नहीं पाती। लालित्य—'मालविकाग्निमित्र' में मध्यलय इसे ही 'सौष्ठव' कहा है—

'ततः प्रविशत्याचार्याभ्यां परिगृह्यमाणा साष्ठवा मालविका'

जैसा कि उसका लक्षण कहते हैं—

चतुष्पर्णोपगलतामगामौ समपादताम् ।
प्रतिपूर्वं शीर्षमभ्युत्थानं सममपाकृताम् ॥

प्रविभक्तै र्भावरसैरभिनयभङ्ग्या या परिक्रमैश्चित्रै ।
रम्भामप्यतिशेते किमुतेतरनर्तकीलोकम् ॥८५॥

यह अपने अलग-अलग भावों और रसों से नई भङ्गियों (मुद्राओं) से तथा आश्चर्य करने वाले आवर्तनों (परिक्रमों) से रम्भा को भी अभिभूत करती है फिर दूसरी मृत्युलोक की नर्तकियों की बात ही क्या ! ॥८५॥

इत्यपसारकविरताव विरतमुरजानुकम्ठमत्युच्चै ।
वर्णयति भावितात्मा लक्षितपदमाश्रया पात्रम् ॥८६॥

इस प्रकार भावुक मन वाला वह नृत्य के अवसान में[1] हमेशा जोर से कण्ठ को उठाकर सिर्फ ताल-मात्रा को लक्षित करके नर्तकी की प्रशंसा करता है ॥८६॥

प्रायेण भट्टतनयो भवतीरूपस्वरूपचेष्टितो भद्रे ।
तं मदनवागुरान्त पातयसि यथा तथा ब्रूम ॥८७॥

हे भद्रे प्रायः करके भट्टपुत्र का यह रूप और आचरण है, उसे जिस प्रकार तू काम के पाश में गिरायगी उस प्रकार कहती हूँ ॥८७॥

रम्भा प्रतीक विभान्ति-सुरतस्य समुपस्थित ।
अम्यासोप सितामाहः सौष्ठवे नृत्य वेदिनः ॥

उद्घट्टन—पेयपादन् मस्कन पद नृत्य में पंजों के ऊपर खड़ा होने की प्रक्रिया है प्रायः नृत्य में ऐसा होता है कि सारे शरीर के बोझ को एक हाथ पर रख लेते हैं। पार्श्वचलित—बगली कदम पर मुड़ना, (Side Movement)। न्यासक—शुद्धि—प्रधान विशुद्धता दोषरहित। चतुरस्र—चौकोरपूर्वक पंजों का संस्थान। नृत्य के आरम्भ में यह स्थिति आती है जैसा कि कहा है—

"अंगस्य चतुरस्रत्वं समपादौ सताकरौ ।
आरम्भ सर्वनृत्तानामेतत् सामान्य मिष्यते ॥ (अभिनवभारती)।

१—यहाँ 'अपसारक' का प्रयोग सम्भव है नृत्य के विराम होने पर विराम सूचक या नर्तकी के निगमनसूचक अंतराम्य हो।

चतुरा प्रागल्भ्यवती परचित्तज्ञानकौशलोपेता ।
योज्या तस्मिन्दूती वक्रोक्तिविभूषिता प्रयत्नेन ॥८८॥

जो दूती चतुर, ढीठ, दूसरे के चित्त को जानने में निपुण और कुटिल बातें करने वाली हो, उसे प्रयत्नपूर्वक उसके पास लगा देना चाहिए[1] ॥८८॥

समुपेत्य तयाऽवसरे ताम्बूलं सुमनसश्च दत्त्वेत्थम् ।
अभिधातव्य सुन्दरि मकरध्वजदीपकैर्वचनैः ॥८९॥

हे सुन्दरी, वह दूती उसके पास समय से पहुँच कर ताम्बूल और फूल के उपहार अर्पित कर इस प्रकार कामोद्दीपक वचन बोले ॥८९॥

जन्मसहस्रोपचितैः पुण्यचयैरद्य फलितमस्माकम् ।
यत्त्वं नयनानन्दन नयनाऽध्वसरं समेतोऽसि ॥९०॥

हमारे हजारों जन्मों के संचित पुण्यसमूह आज फलित हुए कि जो हे नयनानन्दन, तुम आँखों के सामने हुए हो ॥९० ॥

चाटुक्रममनुरागं प्रणयरुषं विरहजनितशोकार्तिम् ।
प्रकटयति वाररमणी नटीव शिक्षाभियोगेन ॥९१॥

(अभिनय करने वाली) नटी के समान वेश्या-शिक्षा में निपुणता के द्वारा प्रशंसापूर्वक अनुराग, स्नेह, क्रोध और वियोग से उत्पन्न शोक के कष्ट प्रकट करती है ॥९१॥

प्रवयसि यौवनशालिनि हीनकुले सत्कुलप्रसूते च ।
रोगिणि चरुशरीरे समचित्ता योषितश्च गणिकाश्च ॥९२॥

वृद्ध और जवान में, नीच और कुलवान में, रोगी और स्वस्थ शरीर

१—दूती के गुण—

पटुता धृष्टता चैवेङ्गितज्ञत्वं प्रतारणम् ।
देशकालज्ञता चैव दूतीष्वेते गुणा मताः ॥

मालती माधव में दूतियों के गुणों का उल्लेख इस प्रकार है—

शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्च बोधः प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी ।
कालानुरोधः प्रतिभानवत्त्वमेते गुणाः कामदुधाः क्रियासु ॥ ३।११

मामले में साध्वी और गणिकाएं दोनों बराबर निरपवाद (अर्थात् भेदभाव रहित) होते हैं ॥६२॥

उपचरिताप्यतिमात्रं पण्यवधूः क्षीणसम्पदः पुंसः ।
पातयति दृशं व्रजतः स्पृहया परिधानमात्रेऽपि ॥६३॥

अधिक मात्रा में (अभ्यादि द्वारा) सेवित होकर भी वेश्या (पण्यवधू) जाते हुए, क्षीण सम्पत्ति वाले पुरुष के शरीर के वस्त्रमात्र पर भी ललचाई नजर रखती है ॥६३॥

इत्थं दृढतरवासितमनसां पुंसामसाम्प्रतं पुरतः ।
वेश्याविलासवतीनामशरीरशरव्यथाकथनम् ॥६४॥

ऐसी स्थिति में उन पुरुषों के आगे जिनका मन दृढ़तर वासनाओं में वासित है वेश्याजनों की कामजनित व्यथा के सम्बन्ध में कहना असामयिक है ॥६४॥

केवलमगणितलाघवदूरपरित्यक्तधीरताभरणा ।
मुखरयति मां दुराशा दग्धसखी तेन कथयामि ॥६५॥

केवल दुराशा नाम की दग्ध सखी जो हल्कापन की परवाह न करके धैर्य के गहने को बिल्कुल त्याग चुकी है मुझे वाचाल कर रही है इसलिए कहती हूँ ॥६५॥

हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापबाणेन ।
चरमं रमणीवल्लभ लोचनविषयं त्वया भजता ॥६६॥

मालती के हृदय में पहले कामदेव अधिष्ठित हुआ, बाद में हे रमणीवल्लभ ! उसके लोचन गोचर होते हुए तुम अधिष्ठित हुए ॥६६॥

क्षणमुत्कम्पिताङ्गी क्षणमुल्बणदाहवेदनायस्ता ।
क्षणमुपजातोत्कम्पा स्वेदार्द्रवपुः क्षणं भवति ॥६७॥

क्षण ही में उसके अङ्गों में रोमाञ्च हो आता है, क्षण ही में तीव्र दाह की वेदना को व्यग्र हो उठती है क्षण ही में कंपकंपी होने लगती है और क्षण ही में वह पसीने से तर-बतर हो जाती है ॥६७॥

मुहुरविभावितकार्या मुहुरुज्झितधीरभावमत्युच्चैः ।
रोदिति गायति च पुनः पुनश्च मौनावलम्बिनी भवति ॥९८॥

कभी तो उसको कुछ भी दिखाई नहीं देता, कभी धीरता को छोड़कर ज़ोर से रोने लगती है, फिर गाने लग जाती है और फिर चुप हो जाती है ॥९८॥

पतति मुहुः पर्यङ्के मुहुरङ्के परिजनस्य मुहुरवनौ ।
किसलयकल्पिततल्पे मुहुरम्भसि मुहुरनङ्गसंतप्ता ॥९९॥

काम से संतप्त वह कभी पलंग पर, कभी परिजन की गोद में, कभी ज़मीन पर, कभी पल्लव की बनी सेज पर और कभी जल में पड़ जाती है ॥९९॥

महिषीव पङ्कदिग्धा हंसीव मृणालवलयपरिवारा ।
सुभगमयूरीवासौ भुजंगविद्वेषिणी जाता ॥१००॥

हे सुभग (चन्दन-कपूरादि का लेपन करके) वह कभी कर्दमलिप्ता महिषी की भाँति, कभी कमलनालों के वलय (कटक) का परिधान करके (कमलनाल के समूह में विचरण वाली) हंसनी की भाँति और कभी (विरहिणी) भुजङ्गों से द्वेष करने वाली मयूरी की भाँति हो जाती है ॥१००॥

कर्पूरचम्पकचन्दनपङ्केरुहनीरहारघनसारम् ।
सुन्दरशशधरकान्तिर्नो शान्त्यै मदनहुतभुजस्तस्याः ॥१०१॥

हे सुन्दर कर्पूरी, चन्दन, कमल, जल, हार, कपूर, चन्द्रकान्त मणि सब उसकी मदनाग्नि को शमन नहीं कर पाते[1] ॥१०१॥

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥१०२॥

दिन-रात वह बाला इस प्रकार प्रलाप करती रहती है—सखी 'कपूर हटाओ, हार दूर करो, कमलों से काम क्या? कमलनाल व्यर्थ हैं ॥१०२॥

१—श्री [illegible] ने 'सुन्दर' शब्द को शशधरकान्त या चन्द्रकान्तमणि का विशेषण माना है, वस्तुतः इसे ऊपर के 'सुभग' शब्द की भाँति सहृदय का सम्बोधन होना चाहिए। अन्यथा श्लोक में अपदपार्थता का दोष निरंकुशता दोष प्रसक्त होगा।

संकल्पैरुपनीतं त्वामन्तिकमुल्लसन्मनोवृत्तिः ।
स्वप्नालिंगनि पश्चात्स्वभुजापीडेन याति वैलक्ष्यम् ॥१०३॥

कल्पनाओं के बल से तुम्हें नजदीक लाकर वह भीतर मन में प्रफुल्ल हो तुम्हें आलिङ्गन-पाश में कस लेती है, पीछे जब अपने हाथों का संपीड़न होता है तब वह लज्जित हो जाती है ॥१०३॥

कुसुमामोदी पवनः पिककूजितभृङ्गसार्थरसितानि ।
इयमियती सामग्री घटिता कामेन तद्विनाशाय॥१०४॥

फूलों की सुगन्ध वाली हवा, कोकिल की कूक और भ्रमर-समूह की गुंजार इतनी सामग्री मदन ने उसके विनाश के लिए ही रची है ॥१०४॥

अबला बलिना नीता दशामिमां मकरकेतुना रक्ष ।
आपत्पतितोद्धृतये भवति हि शुभजन्मनां जन्म ॥१०५॥

बलवाली कामदेव ने उस अबला को इस दशा तक पहुँचा दिया है। तुम उसकी रक्षा करो। क्योंकि विपत्ति में पड़े प्राणियों के उद्धार के लिए ही शुभजन्मा पुरुष जन्म लिया करते हैं ॥१०५॥

नो गृह्णन्ति यथार्थां भव्यजनैर्निगदिता गिरः प्रायः ।
मालत्या गुणलेशं शृणु धृष्टतया तथापि कथयामि ॥१०६॥

प्रायः भव्य जनों की यथार्थ बातें लोग ग्रहण नहीं करते हैं तथापि धृष्टता-पूर्वक मालती के गुणों का किञ्चित् उल्लेख करती हूँ (कृपा करके) सुनो ॥१०६॥

आस्फालयतो नूनं धनुरतनोः कौसुमं रजः पतितम् ।
संगृह्य सा सुगात्री विश्वसृजा निर्मिता तेन ॥१०७॥

निश्चय ही कामदेव जब अपना धनुष आस्फालन करने लगा तब उसके पुष्प की धूल गिरी और ब्रह्मा ने उसे बटोर कर उस शोभन अङ्गी मालती का निर्माण किया ॥१०७॥

उपहसति गिरिसुताया लावण्यं येन सततलग्नेन ।

न द्रवतामुपनीतं भोगीन्द्रविभूषणस्य वक्षोऽर्धम् ॥१०८॥

यह (मालती) पार्वती के लावण्य की हँसी उड़ाती है, जो (लावण्य) हमेशा लगा रह कर सर्पराज के गहने धारण करने वाले शिव जी के आधे शरीर को द्रवित नहीं कर सका[1] ॥१०८॥

शशधरबिम्बार्धगतां छायामिव सैंहिकेयवदनस्य ।

अलिकुलनीलकुटिलामलकावलिमलिकसंनिधौ वहति ॥१०९॥

यह राहु के मुख की चन्द्रबिम्ब के आधे भाग पर पड़ी छाया की भाँति अपने ललाट के समीप भ्रमर-समूह जैसी नील कुटिल अलकावलि धारण करती है ॥१०९॥

सरसिजमस्थिरशोभं विभ्रमरहितं च मण्डलं शशिनः ।

केन समस्तु समत्वं हृदयप्रिय मालतीवदनम् ॥११०॥

कमल की शोभा स्थिर नहीं रहती और चन्द्र के मण्डल में विभ्रम (विलास) का अभाव है, तो फिर हे प्यारे, किसके साथ मालती का मुखड़ा अपनी समता रखे ॥११०॥

अलिरुपरि तदीक्षणयोर्भ्रान्त्वा सौगन्ध्यसूचितविशेषः ।

निपतति कर्णाम्बुरुहे निर्गुणताप्यवसरे साध्वी ॥१११॥

भौंरा उसकी कमल सदृश आँखों पर मँडरा कर जब उस सुगन्धि की विशेषता मालूम होती है तब (मालती के) कान में लगे कमल पर जा बैठता है, समय पर गुणरहित होना भी अच्छा है ॥१११॥

१—स्त्री के शरीर के अंगों में मुक्ताफल के भीतर झिलमिलाते हुए पानी की तरह जो मालूम पड़ता है उसे ही 'लावण्य' कहते हैं—

मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥

'लोचन' में आचार्य अभिनव गुप्त लिखते हैं—

लावण्यं हि नाम अवयवसंस्थानाभिव्यङ्ग्यमवयवव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव ।

प्रिमाणेऽणिमाणं सहर्षं जितबन्धुजीवरुचिमधरे ।
यदलक्तकविन्यसनं ततस्या मण्डनक्रीडा ॥११२॥

अपने स्वभावतः लाल बन्धुजीव (दुपहरिया) की शोभा को जीत लेने वाले अपने अधर पर जो वह आलता लगाती है वह उसकी प्रसाधनलीला मात्र है ॥११२॥

चित्रमिदं यदि कृशता नस्या वलिपरिगृहीतमध्यस्य ।
अथवा नो विधिविहिता महताप्यपनीयते तनुता ॥११३॥

आश्चर्य तो यह है कि त्रिवलि (त्रिवलि, श्लेष से बलवान्) के द्वारा वेष्टित मध्य भाग बिलकुल क्षीण हो गया है (उसे तो बलिपरिगृहीत होने के कारण बलयुक्त होना चाहिए था।) अथवा बात यह है कि जब विधाता ही क्षीण कर चुका है तो कोई बड़ा भी उस क्षामता को दूर कर नहीं सकता ॥११३॥

आस्तामपरस्तावत्तस्याः स्मरवसतिपृथुतरनितम्बः ।
क्षपयति कपिलमुनेरपि स्वपथपतितः समाधानम् ॥११४॥

दूसरे अङ्ग की बात छोड़िए उसका जो कामदेव का निवास-स्थान भूत विशाल नितम्ब है वह दृष्टिपथ पर आकर कपिल मुनि की समाधि को भी क्षीण कर देने वाला है ॥११४॥

तस्या रम्भावपुषो रम्भोपममूरुयुगलमवलोक्य ।
मकरध्वजोऽपि सहसा निजसायकलक्ष्यतां याति ॥११५॥

रम्भा के सदृश शरीर वाली उस सुन्दरी का रम्भा सदृश ऊरु युगल देख कर सहसा कामदेव भी अपने ही बाण का निशाना बन जाता है ॥११५॥

जघनभरालसयाता नायाता या विलोचनप्रसरम् ।
तिष्ठति सैन मनोहर हारजमा सह्यपयण ॥११६॥

हे मनोहर जघन के भार से अलसाकर मन्द चलने वाली वह (मालती) नहीं है इसी कारण कोकिला भी [illegible] आज तक ब्रह्मचारी बन रहे ॥११६॥

यदि कथमपि मधुमथनः पश्यति तामसमबाणसर्वस्वम् ।
तदसारभार भूतामिव लक्ष्मीमुरसि विनिहितां मनुते ॥११७॥

यदि किसी प्रकार विष्णु कामदेव के सर्वस्व उस मालती को देख लें तो छाती पर पड़ी लक्ष्मी को व्यर्थ की भारभूत जैसी मानने लग जाँय ॥११७॥

यदि पतति सा कथंचिन्नेत्रविषये हरस्य तदवश्यम् ।
त्रिभुवनमशिवं कुरुते वामेतरदेहभागमासाद्य ॥११८॥

यदि वह (मालती) किसी प्रकार शिव जी के दृष्टिपथ में आ जाय तो (वह) उनके दाहिने अर्धांग को पाकर (क्योंकि पार्वती उनके बायें अर्धांग में रहती हैं) त्रिभुवन को अशिव (शिव जी से रहित) बना डाले ॥११८॥

सौन्दर्यं तत्तादृशमशेषयोषिद्विलक्षणं सृजतः ।
यन्निष्पन्नं धातुस्तन्मन्ये काकतालीयम् ॥११९॥

उसका सौन्दर्य इस प्रकार का समस्त स्त्रियों से विलक्षण बन गया है उसे विधाता की आकस्मिक घटना (काकतालीय) मानती हूँ (अन्यथा विधाता में यह शक्ति कहाँ कि ऐसे विलक्षण सौन्दर्य का निर्माण करे) ॥११९॥

सहजविलासनिवासं तस्या वपुरनभिवीक्षमाणस्य ।
मन्ये नाकाधिपतेः सहस्रमपि चक्षुषां विफलम् ॥१२०॥

स्वाभाविक विलासों का निवास-स्थान उसके शरीर को न देख पाने वाले स्वर्गाधिपति इन्द्र की हजार आँखों को भी मैं विफल मानती हूँ ॥१२०॥

शिथिलयतु कुसुमचापं क्षिपतु शरान्वाणधौ मनोजन्मा ।
संसारसारभूता विचरति भुवि मालती यावत् ॥१२१॥

कामदेव अपने पुष्प के धनुष को चाहे ढीला कर दे, बाणों को तरकश में डाल दे जब तक संसार की सारभूता मालती पृथ्वी पर विलसित है ॥१२१॥

वात्स्यायनमन्नोन्यन्तदविन्ध्यस्तराजपुत्राद्यैः ।
उच्छ्वसितं यन्निश्चितं तस्या हृदयदशामभ्यास्ते ॥१२२॥

वात्स्यायन, मन्नोन्य ग्रंथ का रचयिता, दत्तक निपुण राजपुत्र

आदि आचार्यों ने जो कुछ कहा है वह उसके हृदय में अधिष्ठित रहता है ॥१२२॥

भरतविशाखिलदन्तिलवृक्षायुर्वेदचित्रसूत्रेषु ।
पत्रच्छेदविधाने भ्रमकर्मणि पुस्तसूदशास्त्रेषु ॥१२३॥

भरत का नाट्यशास्त्र विशाखिल का कलाशास्त्र दन्तिल का संगीत शास्त्र, वृक्षायुर्वेद, चित्रकला, सूची शिल्प पत्रच्छेद-विधान भ्रमकर्म (यन्त्रकला) पुस्तकर्म (काष्ठ, मृत्तिका, चर्म अथवा धातु के निर्माण पुत्तलिका-बनाना) सूदशास्त्र (पाक शास्त्र) ॥१२३॥

आतोद्यवादनविधौ नृत्ते गीते च कौशलं तस्याः ।
अभिधातुं यदि शक्तो वदनसहस्रेण भोगिनामीशः ॥१२४॥

आतोद्य (वीणा मुरज वंशी कांस्य आदि चतुर्विध वाद्य) के बजाने की विधि, नृत्त और गीत इत्यादि में उसके कौशल को शायद हजार मुखों से शेषनाग कह सके ॥१२४॥

परिगलदालोलांशुकमपर्यन्तमुरसि मालती रभसात् ।
निपतति नाऽपुण्यवतां रतिलालसमानसा रहसि ॥१२५॥

जो पुण्यवान् नहीं हैं उनके वक्ष पर मालती एकान्त में चञ्चल सरकते वस्त्र एवं बिना किसी प्रयास के वेग से नहीं आ पड़ती ॥१२५॥

रतिरसरभसास्फालनचलवलयनिनादमिश्रितं तस्याः ।
तत्कालोचितमणितं श्रुतिपथमुपयाति नाऽप्यपुण्यस्य ॥१२६॥

रतिजनित आनन्द के वेग से परस्पर रगड़ खाते चञ्चल कंगनों की खन-खनाहट से मिला हुआ उस मालती के तत्काल उचित लगने वाला मणित (रतिकाल की आवाज) पुण्यरहित व्यक्ति के कानों तक नहीं पहुँचता ॥१२६॥

इत्यमभिधीयमानः शुभमध्ये यदि भवेदुदासीनः ।
एवं ततोऽभिधेयः संदर्शितकोपया दूत्या ॥१२७॥

हे सुन्दर कटिभाग वाली इस प्रकार कहने पर (भी) यदि वह उदासीन रहे तब क्रोध दिखा कर दूती को यह कहना चाहिए ॥१२७॥

किं सौभाग्यमदोऽयं यौवनलीलाभिरूपतादर्प ।
सहजप्रेमोपनता मालतिकां न बहु मन्यसे येन ॥१२८॥

क्या यह तुम्हें अपने सौभाग्य का घमंड हो गया है अथवा यौवन की लीला का अहङ्कार, जिससे सहज प्रेमभाव से पास आई मालती को स्वीकार नहीं करते हो ॥१२८॥

गणयति या कुलीनान्द्रविणवतः शास्त्रवेदिनः प्रणतान् ।
भवदर्थे शुष्यति कुस्थाननिवेशितं धिगनुरागम् ॥१२९॥

जो मालती अपने सामने सिर झुकाए कुलीनों, धनिकों और शास्त्र जानने वालों का कुछ भी नहीं समझती, वह तुम्हारे लिए सूखती जा रही है। धिक्कार है उस अनुराग को जो गलत स्थान में हो ॥१२९॥

कमलवती तीव्ररुचौ बहुभस्मनि शम्भुशिरसि शशिलेखा ।
सा च त्वयि पशुकल्पे यदभिरता तेन मे कृशता ॥१३०॥

तीखे किरणों वाले सूर्य में कमलवनी राख की ढेर लगे शिव के सिर में चन्द्रलेखा और पशु-सरीखे तुममें वह जो अनुरक्त है उसी कारण (शोक से) मैं दुबली हो गई हूँ ॥१३० ॥।

प्रसरलमरसं कठिनं शुष्कमस्निग्धमाश्रिता खदिरम् ।
यदुपैति वाच्यपदवीं मालतिका तत्किमाश्चर्यम् ॥१३१॥

सरलता रहित, नीरस कठोर, कष्ट से प्राप्त एवं रूखा खदिर वृक्ष को पाकर मालती (चमेलीलता) जो निन्दित होती है उसमें क्या आश्चर्य ? ॥१३१॥।

अथवा कः खलु दोषो मदतुल्यतमोपजनितवैलक्ष्यः ।
स्वाधीनामपि सरसां परिहरति मृणालिकां ध्वांक्षः ॥१३२॥

अथवा क्या दोष, कि जो बराबरी में न आने के कारण लज्जित हो कौआ अपने अधीन और सरस कमलिनी को भी छोड़ देता है ॥१३२॥।

मान्न करिष्यसि रोषं निष्ठुरमुक्तोऽसि यन्मया सुभग ।
यूनो हि रक्ततरुणीसुहृदभिहितपरुषमाभरणम् ॥१३३॥

हे सुभग, मैंने तुम्हें जो कड़ी बात कहीं उसका बुरा मत मानना,

क्योंकि अजाना के लिए अनुरक्त सुन्दरी की भगी की कहीं बात (शामा तेन वाला) आभरण होती है ॥१३३॥।

चन्द्रमसेव ज्योत्स्ना कंसासुरवैरिणेव वनमाला।
कुसुमशरासनलतिका कुसुमाकरवल्लभेनेव ॥१३४॥

चाँद से चाँदनी की भाँति कृष्ण से वनमाला¹ की भाँति वसन्त से तथा कामदेव से कामलता की भाँति ॥१३४॥

मदलीला हलिनेव स्तनयुगलेनेव हारलता।
रम्यापि सा सुगात्री रम्यतरा भवतु संगता भवता ॥१३५॥

हलधर बलराम से मदलीला की भाँति स्तनयुगल से हारलता की भाँति, तुमसे संगम प्राप्त कर वह शोभन अंगों वाली भामिनी रम्या होकर भी रम्यतरा हो जाय ॥१३५॥।

किं बहुना यदि यूनामुपरि विधातुं समीहसे चरणम्।
तत्कुरु रमणीरत्नं प्रेमोज्ज्वलमंकतास्तूर्णम् ॥१३६॥

बहुत कहने से क्या यदि तुम जवानों के सिर पर चरण रखना चाहते हो तो प्रेम की चमक वाले उस रमणीरत्न² को शीघ्र अंक में ले लो ॥१३६॥

अथ नवघनश्रवणप्रविजृम्भितमदनमट्टदायादः।
उपचरणीय सुन्दरि निजवसतिमुपागतस्त्वयाप्येवम् ॥१३७॥

तत्पश्चात् उस दूती की बातें सुनने से मदपुर का मदन उद्दीपित होगा उससे वह भवन पर आए उसे तुम भी हे सुन्दरी इस प्रकार उपचार करना ॥१३७॥

१—पैर तक लटकती हुई माला अथवा पञ्चपुष्पमयी माला को 'वनमाला' कहते हैं। भगवान् कृष्ण के वनमाला धारण करने के कारण ही उन्हें वनमाली कहते हैं।

२—रमणीरत्न—अर्थात् अत्यन्त सुन्दरी। कहा है—

'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद् रत्नमभिधीयते।

कादम्बरी में भी लिखा है—

स्त्रीणां गुणा मानरूपपर दाक्षिण्य विज्ञान विलास पूर्णाः।
स्त्रीरत्न संज्ञा च गुणान्वितासु स्त्रीष्वाप्यतोऽन्यारपचुरस्य पुनः॥

(कादम्बरी ००।१३)।

दूरादभ्युत्थानं प्रणमनमात्मासनप्रदानं च ।
प्रविधेयमंचलेन प्रस्फोटनमङ्घ्रियुगलस्य ॥१३८॥

दूर ही से उसे आते देख उठ जाना, प्रणाम करना, अपना आसन देना और आँचल से उसके पैरों को पोंछना ॥१३८॥ ।

ईषदयत्नप्रकटितकक्षोदरबाहुमूलकुचयुगलम् ।
संदर्श्य झटिति यास्यसि नायकदृग्गोचरात्तूर्णम् ॥१३९॥

सिर पोड़ा बिना कोशिश के अपनी काँख, उदर, बाहुमूल, मानो स्तन उस प्रकार दिखा करके झट से उसकी आँखों से ओझल हो जाना ॥१३९॥ ।

अथ पर्यंकस्सनाथं दीपोज्ज्वलकुसुमधूपगन्धाढ्यम् ।
विततवितानकरम्यं प्रवेशितो वासकागारम् ॥१४०॥

तब हे भारी जघन वाली, उसे पलङ्ग से सज दीपों से प्रकाशित फूलों की और धूप की गन्ध से सुवासित फैले चँदवा से सुशोभित वासकागार[1] में दाखिल करना ॥१४०॥

माता ते गुरुजघने सादरमवतारणादिकं कृत्वा ।
अभिनन्दनीय एभिर्वचनविशेषै प्रयत्नेन ॥१४१॥

तेरी माता उसे आदरपूर्वक अवतारण (आवभगत) आदि करके इन खास बातों से यत्न करके अभिनन्दन करे ॥१४१॥

अद्यापि समृद्धा परितुष्टा इष्टदेवता मम ।
कल्याणालंकारो यदलंकृतवानिदं वेश्म ॥१४२॥

आज आशीर्वचन सफल हुए, इष्ट देवता सन्तुष्ट हैं जो कि कल्याण के अलङ्कार आपने इस घर को अलंकृत किया ॥१४२॥

१—वासकागार अर्थात् भोगाभ्यास रंगालय । उमराव जान के शब्दों में तत्सम्बन्धी वासकागार का यह चित्र देखिए— उसके कमरे जुदा जुदा सजा दिए गए थे । निवास के पलँग डोरियों से कसे हुए थे । फर्श पर सुथरी चाँदनी बिछी हुई । बड़े बड़े नकशी पानदान, इत्रदान, खासदान, उगालदान अपने अपने करीनों में रखे हुए । दीवारों पर दलकी आइने उम्दा उम्दा तस्वीरें छत में कन्दीलें लगी हुई जिनसे हाशिया एक दालान-सा बना । इधर उधर उम्दा दरियाँ ।

अनुरूपपात्रघटनं कुर्वाणस्याद्य कुसुमबाणस्य ।
सुचिरात्तत संजातः शरासनाकर्षणश्रमः सफलः ॥१४३॥

योग्य पात्रों का मिलन करने वाले कामदेव का धनुष खींचने का श्रम बहुत देर के बाद फलीभूत हुआ ॥१४३॥

विन्यस्य शिरसि चरणं सुभगा गणिकाजनस्य सकलस्य ।
सौभाग्यवैजयन्तीं संप्रति वत्सा समुत्क्षिपतु ॥१४४॥

सुहागिन मेरी बच्ची समस्त गणिकाओं के सिर पर पैर रख कर अब अपने सौभाग्य की पताका फहराये ॥१४४॥

दुहितर एव श्लाघ्या धिक् लोकं पुत्रजन्मसंतुष्टम् ।
जामातरः प्राप्यन्ते भवादृशा यदभिसम्बन्धात् ॥१४५॥

धत्तेरे संसार की कि जो लड़के के जनम से सन्तोष अनुभव करता है। प्रशंसनीय तो लड़कियाँ हैं जिनके सम्बन्ध से आप जैसे दामाद हासिल होते हैं ॥१४५॥

दृढपरिचया गुणज्ञा भवद्विधा नार्घनार्हका यदपि ।
तदपि हृदयाभिनन्दन दुहितृस्नेहादहं वच्मि ॥१४६॥

आप जैसे व्यक्ति यद्यपि दृढ़ परिचय वाले, गुणज्ञ एवं योग्य पात्र का सम्मान देने वाले होते हैं तथापि हे हृदयाभिनन्दन, मैं लड़की के प्रति स्नेह के कारण कहती हूँ ॥१४६॥

सहजप्रेमोपनता न्यस्ता त्वयि मालती तथा कार्यम् ।
न यथा भवति वराकी त्वद्विप्रियजन्मनां शुचां वसतिः ॥१४७॥

स्वभावतः अनुरक्त मालती को तुम्हें समर्पित करती हूँ ऐसा करना जिससे कि यह बेचारी तुम्हारे अनिष्ट (वियोग) के कारण शोकों का स्थान न हो ॥१४७॥

मृदुधौतधूपिताम्बरमग्राम्यं मण्डनं च बिभ्राणा ।
परिपीतधूपवर्तिः स्थास्यसि रमणान्तिके सुतनु ॥१४८॥

हे सुतनु, कोमल, धुले धूपादि द्वारा वासित वस्त्र एवं अग्राम्य (कारीगरी

से बने) आभूषण धारण कर तथा धूपवर्ति[1] का पान कर तू कान्त के समीप उपस्थित हो ॥१४८॥

सस्नेहं सव्रीडं ससाध्वसं सस्पृहं च पश्यन्ती ।
किंचिदरमणशरीरा प्रविरलपरिहासपेशलालापा ॥१४९॥

सस्नेह, सलज्ज, ससम्भ्रम और सस्पृह दृष्टिपात करती हुई तू अपने शरीर को कुछ प्रकट कर देना और उसके साथ कभी कभी मजाक का सुन्दर बातचीत करना ॥१४९॥

मातरि निर्यातायां परिजनमुक्ते च वासकस्थाने ।
अभियुञ्जाने रमणे वामाचरणं क्षणं कार्यम् ॥१५०॥

माता जब वहाँ से बाहर चली जाय और परिजन भी उस भोगावास को छोड़ दें और कान्त जब रमणार्थ प्रवृत्त होने लगे तब कुछ क्षण तू प्रतिकूल आचरण करना (अपना अङ्ग छूने न देना, निषेध करना आदि) ॥१५०॥

रतिसंगरविहितमतावाकर्षति रभसतः पुरस्तस्मिन् ।
कुट्टमितमाचरन्ती जनयिष्यसि किंचिदंगसंकोचम् ॥१५१॥

रतियुद्ध[2] के लिए जब उसका मन विकल हो जाय और सामने वह वेग से तुझे खींचने लगे तब कुट्टमित[3] करती हुई तू अपने अङ्गों को सिकोड़ लेना ॥१५१॥

१—धूपवर्ति—मुख को सुगन्धित करने के लिए बीड़ीनुमा द्रव्य जिसमें खास-खास मसाले होते थे और जिसे प्राचीन काल के शौकीन नागरिक जला कर धूम-पान करते थे। इसका उल्लेख कादम्बरी और हरविजय महाकाव्य में भी प्राप्त है। यह धूमवर्ति विविध प्रकार की होती थी। इनमें से एक का नागरसर्वस्व में इस प्रकार उल्लेख है—

कर्पूरागुरु चन्दन मुस्तकमृति प्रियङ्गु बालं च ।
मांसी चेति सुपाणी योज्या रतिनाथ धूमवर्तिरियम् ॥५।३६॥

२—'युद्ध' संज्ञा तब दी जाती है जब दो (या अनेक) मनुष्य परस्पर अभिभवेच्छा से भिड़ जाते हैं। इस प्रकार नवयुवक नायक और नायिका की निःशङ्क रति भी एक प्रकार का 'युद्ध' है। इस युद्ध में होने वाले चुम्बन आलिङ्गन नखाघात दन्ताघात ताड़न सीत्कृत उपसरण आदि बिल्कुल दो मल्लों की कुश्ती के समान होते हैं। आगे के प्रसंग में इसी कवि ने हारलता और सुन्दरसेन के रति युद्ध का वर्णन किया है।

३—यह एक प्रकार की सम्मोहक कामुक भङ्गार चेष्टा है। भीतर से प्रसन्नता

प्रारब्धे सुरतविधौ क्रमदर्शितचित्तयोनिसंवेगा ।
अपशंकमर्पयिष्यसि निर्व्याजं पुत्रि गात्राणि ॥१५२॥

बेटी, जब वह सुरत आरम्भ कर दे तब तू क्रम से चित्त और योनि (अथवा चित्तयोनि अर्थात् कामदेव) का संवेग दिखाना और निःशङ्क और निश्छल भाव से अपने अङ्गों को उसे अर्पित कर देना ॥१५२॥

यद्यद्वाञ्छति हन्तुं यद्द्रष्टुं यच्च विलिखितुं गात्रम् ।
तत्तदपसारणीयं सावेगं ढौकनीयं च ॥१५३॥

जिस-जिस अङ्ग का वह आघात करना[1] चाहे, जिसे देखना चाहे और जिसे खरोंचना[2] चाहे उस उसको आवेगपूर्वक हटा लेना और फिर उसके सामने कर देना ॥१५३॥

दष्टे सव्यथहुंकृतिमामर्दे विविधकण्ठरसितानि ।
नखविलिखने च सीत्कृतिमाघाते पूत्करणं कथितम् ॥१५४॥

जब वह दाँत से काटे[3] तो व्यथापूर्वक हुँकार करना, मर्दन[4] लगे तो विविध प्रकार से कंठ की आवाज करना, नखों से खरोंचने लगे तो सीत्कार[5] करना और आघात करे तो जोर से चीख पड़ना ॥१५४॥

हस्वामासश्वासा मुंचन्ती पुलकदंतुरशरीरा ।
स्विद्यत्सकलावयवा प्रकरिष्यसि रागवृद्धये पुंसाम् ॥१५५॥

कामुक पुरुषों के राग बढ़ाने के निमित्त तू बार-बार भ्रमसूचक श्वास

है फिर भी ऊपर से नायक द्वारा किया गया स्तन अधर आदि के पकड़ने पर नायिका का सिर और हाथ कम्पाना 'कुट्टमित' कहलाता है। (सा॰ दर्पण)।

१–स्कन्धद्वय, सिर, स्तनान्तर, पृष्ठ, जघन और पार्श्व ये कामशास्त्र के अनुसार आघात या प्रहरण के स्थान हैं।

२–दोनों काँखें, कंठ, दोनों स्तन, नाभि, श्रोणि, दोनों स्थान, भगएव्य और ऊपर मुख ये नखव्यापार या नखों द्वारा खरोंचने के स्थान माने गए हैं।

३–कान, अधर, स्तन, कपोल और कंठ ये दन्तपीडन के स्थान हैं।

४–मर्दन के स्थान हैं बाहु, स्तन, नितम्ब, पार्श्व, नितम्बोदर और जघन।

५–वात्स्यायन के कामसूत्र में किस समय किस प्रकार का चीत्कार करना चाहिए, इसका उल्लेख है। (२।७।११-२)।

छाती हुई रोमांच से शरीर को व्याप्त करना और समस्त अंगों को पसीने पसीने करना ॥१५५॥

परभृतलावककलहंसकपारावततुरगहृदयनिःस्वनितम् ।
अनुकार्यमुचितकाले कलकण्ठि रतेस्त्वया रसतः ॥१५६॥

हे अव्यक्त मधुर कंठ वाली, कोकिल, लवा हंस, कबूतर और घोड़े की भाँति रत के उचित समय में आवाज करना ॥१५६॥

मा मा मामतिपीडय मुञ्च क्षणमद्य नो समर्थास्मि ।
इति गद्गदास्फुटाक्षरमभिधातव्यस्त्वया कामी ॥१५७॥

"मत मत मुझे जोर से मत पीड़न कर निठुर मुझे छोड़, मैं पार नहीं पा सकती" इस प्रकार की गद्गद एवं अस्पष्ट आवाज से कामुक के प्रति बोलना ॥१५७॥

अनुबन्धमानुकूल्यं वामत्वं प्रौढतामसामर्थ्यम् ।
सुरतेषु दर्शयिष्यसि कामुकभावं स्वयं बुद्ध्वा ॥१५८॥

कामुक का अभिभाव स्पष्ट समझ कर उसके साथ सुरतों में कभी अनुराग, कभी अनुकूलता, कभी प्रतिकूलता, कभी प्रगल्भता और कभी असामर्थ्य प्रदर्शन करना ॥१५८॥

असमंजसमश्लीलं दूरोज्झितधैर्यमविनयप्रसरम् ।
व्यवहारमाचरिष्यसि वृद्धिमुपेते रसावेगे ॥१५९॥

जब रस का आवेग वृद्धि प्राप्त कर ले तब असंगत अश्लील धैर्यरहित, अविनययुक्त व्यवहार करना ॥१५९॥

अविवेचितनखरक्षतिरामीलितलोचना निरुत्साहा ।
नायककार्यसमाप्तौ स्थास्यसि शिथिलीकृतावयवा ॥१६०॥

जब नायक अपना काम समाप्त कर ले तब जैसे उसके नाखों की खरोंचें तुम्हें पता ही नहीं, तू अपनी आँखें मूंद लेना, निरुत्साह हो अपने अङ्गों को शिथिल करके पड़ जाना ॥१६ ॥

झगिति नितम्बावरणं निःसहतनुता स्मितं सवैलक्ष्यम्।
खेदालसा च दृष्टिं जनयिष्यसि मोहनच्छेदे ॥१६१॥

जब सुरत का प्रसंग समाप्त हो जाय तो झट अपने नितम्ब ढक लेना, देह शिथिल कर लेना, शर्माती हुई मुस्कराना और थकान के मारे अलसाये हुये देखना ॥१६१॥

वृत्ते रताभियोगे स्पृष्ट्वा सलिलं विविक्तभूभागे।
प्रक्षाल्य पाणिपादं स्थित्वा क्षणमासने समूह्य कचान् ॥१६२॥

जब रताभियोग समाप्त हो जाय तब निर्जन स्थान में जल-स्पर्श कर, हाथ पैर धो आसन पर तनिक बैठ, बालों को समेट ॥१६२॥

उपयुक्तवदनवासा शय्यामारुह्य दर्शितप्रणया।
इति वक्ष्यसि तं रमणं दृढतरमालिंग्य रभसतः कण्ठे ॥१६३॥

ताम्बूल आदि मुखवास ले सेज पर चढ़ प्रणय दिखाते हुए, वेग से कस कर कण्ठालिङ्गन करते हुए उस रमण से यह कहना ॥१६३॥

भट्टसुत नूनमिष्टा तव जाया यदनुरक्तहृदयस्य।
जनयति परितुष्टिमलं नापररामापरिष्वंगः ॥१६४॥

हे भट्टपुत्र, निश्चय ही तुम्हारी पत्नी तुम्हें प्रिय है, क्योंकि जितना वह अनुराग भरे हृदय वाले तुम्हें अधिक सन्तुष्ट करती है उतना दूसरी रमणी का आलिङ्गन नहीं ॥१६४॥

सफलं तस्या जन्म स्पृहणीया सैव समस्तललनानाम्।
गौरवं तयैव महिता सुभगंकरणं तपस्तयाचरितम् ॥१६५॥

उसका जन्म सफल है समस्त स्त्रियों में वह स्पृहणीय है, उसने ही नारी की महिमा की है उसने सौभाग्यकारक तप किया है ॥१६५॥

सैवैका गुणवसतिस्तस्या एवान्वयः सदा श्लाघ्यः।
यस्याः शुभशतभाजः पाणिग्रहणं त्वया विहितम् ॥१६६॥

गुणों का भाजन वही एक है उसी का वंश हमेशा प्रशंसनीय है उन शत पुण्यों के भाजन जिस सुन्दरी का शुभ पाणिग्रहण किया है ॥१६६॥

तिष्ठतु सा पुण्यवती वंशद्वयभूषणं वरारोहा ।
या नापयाति भवतो लक्ष्मीरिव नरकवैरिणो हृदयात् ॥१६७॥

पिता और पति के वंशों का भूषण, सुन्दर नितम्बों वाली वह तो है ही, जो विष्णु के हृदय में लक्ष्मी की भाँति तुम्हारे हृदय से दूर नहीं होती ॥१६७॥

पातयसि कुवलयनिभे कौतुकमात्रेण लोचने यासु ।
ता अपि सत्यं सुन्दर हर्षोच्छ्वसिता न मान्ति गात्रेषु ॥१६८॥

जिन सुन्दरियों पर कौतुकमात्र से तुम अपनी कुवलय सदृश आँख डाल देते हो हे सुन्दर, वे भी इस प्रकार हर्षोच्छ्वसित हो जाती हैं कि अपने अङ्गों में फूली नहीं समा पाती हैं ॥१६८॥

तनुरपि नाथप्रणयः प्रायो मुखरीकरोति लघुमनसः ।
स्वार्थनिवेशितचित्ता करोमि तेऽभ्यर्थनां तेन ॥१६९॥

जिसका मन छोटा है उसे प्रिय का थोड़ा भी प्रणय प्रायः मुखर बना देता है। इसी कारण स्वार्थ को मन में रख कर तुमसे अनुरोध करती हूँ ॥१६९॥

तीव्रस्मरतारुण्यादापतितः कौतुकेन घृणया वा ।
मद्भाग्यसम्पदा वा दूत्या वा कौशलात्स्वभावाद्वा ॥१७०॥

तीव्र कामवेग से युक्त जवानी से, या कौतूहलवश, या अनुग्रह से, या मेरे सौभाग्य से, या दूती के उपाय से, या स्वभाव से ॥१७०॥

योऽयं प्रेमलवांशः प्रदर्शितोऽस्मासु जीवनोपायः ।
बाधा मास्य विधेया गणिकाजनवृत्तमन्यथा बुद्ध्वा ॥१७१॥

जो कि यह हमारे जीवित रहने का उपाय-स्वरूप प्रेम का लेशमात्र हम पर तुमने प्रदर्शित किया है उसमें गणिका जनों के मनोभावों को गलत (अन्यथा) समझ कर बाधा नहीं करना ॥१७१॥

येन स्नेहः क्रोधः शाठ्यं दाक्षिण्यमार्जवं व्रीडा ।
एतानि सन्ति तास्वपि जीवद्धर्मोपनीतानि ॥१७२॥

जिस कारण से स्नेह क्रोध शठता अनुकूलता कोमलता, लज्जा ये

सब जीवित रहने वालों को निसर्गतः प्राप्त होते हैं वे सभी उन गणिकाओं में भी रहते हैं ॥१७२॥

निर्व्याजसमुत्पन्नप्रबलप्रेमाभिभूतहृदयानाम् ।
दयितविरहाक्षमाणां गणिकानां तृणसमाः प्राणाः ॥१७३॥

बिना छल-कपट के उत्पन्न प्रबल प्रेम के द्वारा अभिभूत हृदय वाली एवं प्रिय के विरह को सहन न कर पाने वाली गणिकाएँ निज प्राणों को तृण-समान समझती हैं ॥१७३॥

अत्राकर्णय साद्भुतमाख्यानं वर्णयामि यद्वृत्तम् ।
यस्यापि बिभर्ति वटो विशेषणं यदभिसम्बन्धात् ॥१७४॥

इस प्रसंग में सुनो मैं एक आश्चर्य-युक्त आख्यान, जो घटित हो चुका है कहती हूँ जिस घटना के सम्बन्ध-स्वरूप आज भी बरगद का पेड़ 'विरूपावट' नाम से परिचित है ॥१७४॥

हारलता का आख्यान

'अस्ति महीतलतिलकं सरस्वतीकुलगृहं महानगरम् ।
नाम्ना पाटलिपुत्रं परिभूतपुरन्दरस्थानम् ॥१७५॥

पाटलिपुत्र नाम का एक महानगर है, वह पृथ्वी का तिलक, सरस्वती का कुलगृह और इन्द्र के स्थान अमरावती को परिभूत करने वाला है ॥१७५॥

त्रिभुवनपुरनिष्पादनकौशलमिव पृच्छतो विरिञ्चस्य ।
दर्शयितुं निजशिल्पं वर्णकमिव विश्वकर्मणा विहितम् ॥१७६॥

जब ब्रह्मा ने त्रिभुवन के नगरों के निर्माण का कौशल विश्वकर्मा से पूछा तब मानो उन्होंने अपना शिल्प[1] दिखाने के लिए इस नगर का एक 'वर्णक' (प्रतिनिधि चित्र) के रूप में निर्माण किया ॥१७६॥

अन्योन्यमभिरताश्रितमभिभूतं नातिभूमिदोषेण ।
न स्वीकृतमुपसर्गैः कलिविलासमसंरम्भासीदम् ॥१७७॥

यहाँ अनाचार नहीं ... परस्पर के दोनों से वह अभिभूत नहीं है

[1] शिल्प चार प्रकार का होता है—आलेख्य, लेख्य, दारुकर्म, विनिर्माण, पाषाणकर्म, लौहकर्म, देवकर्म, चित्रकर्म।

उत्पातों का यहाँ उपद्रव नहीं है कलिमल की भरतियाँ यहाँ नहीं पहुँची है ॥१७७॥

पातालतलं भोगिभिरम्भोधिर्विविधरत्नसंघातैः ।
सुरसदनं विबुधगणैर्द्रविणोपचयैः पुरं कुबेरस्य ॥१७८॥

भोगिगण (विलासी जन, पक्षान्तर में सर्पगण) के निवास के कारण यह पाताल के समान है, नाना प्रकार के रत्नों के ढेरों से यह समुद्र के समान है, विबुधजनों (विद्वानों, पक्षान्तर में देवताओं) के कारण अमरावती के समान है, धन की समृद्धियों से कुबेर की नगरी अलका के समान है ॥१७८॥

महिलाभिरसुरविवरं कटकं हि हिमाचलस्य गन्धर्वैः ।
हरिनगरं ऋतुपूर्वैः शमविभवैर्मुनिजनस्थानम् ॥१७९॥

महिलाओं के कारण यह असुरविवर[1] (अभिप्राय असुरों के गेह का भवनमार्ग) के समान है गन्धर्वों (गान करने वालों, पक्ष में गन्धर्वयोनि स्थियों) के कारण यह हिमालय के मध्य देश के समान है, यह के 'पूर' नामक लक्ष्मी के बने गृहों के कारण यह अयोध्या के समान है शान्ति के विभवों के कारण यह मुनिजनों के वासस्थान आश्रम के समान है ॥१७९॥

तिष्ठन्तु सकलशास्त्राभ्यासोत्पन्नविमलबुद्धयो विप्राः ।
सदसद्गुणनिर्णीतौ ललना अपि निकषभूमयो यत्र ॥१८०॥

समस्त शास्त्रों के अनुशीलन से विमल-बुद्धि ब्राह्मण जनों की बात कौन करे, जहाँ ललनायें भी भले-बुरे के निर्णय में कसौटी का काम करती है ॥१८० ॥

कलिमलसंस्पर्शभीत्या अग्निहुतबहुधूमकम्बलावरणः ।
तिष्ठन्निभृतोऽपि धर्मः सदाचरितैरनुमीयते यत्र ॥१८१॥

यहाँ कलिकाल से उत्पन्न डर के मारे यज्ञाग्नियों के धूम का कम्बल ओढ़े छुप कर रहते हुए भी धर्म का अनुमान (लोगों के) सदाचारों से होता है ॥१८१ ॥

1—'असुरविवर' में प्रवेश करने के लिए भूमि में बने किसी गहरे गड्ढे में प्रवेश किया जाता था। वैताल-साधन इसका मुख्य अंग था। इसमें धन और स्त्री की प्राप्ति सम्भव मानी जाती थी। इसके साधक 'पातालिक' कहे जाते थे।

अपहरति पिधातुमिव स्वकलंकं शशधरः प्रसार्य करान् ।
रात्रौ यत्र वधूनां लावण्यं मदनकोपेभ्यः ॥१८२॥

जहां चन्द्र मानों अपने कलंक को ढकने के लिए करों (हाथों अथवा किरणों) को फैला कर रात्रि में वधूजनों के मुख के समानों से लावण्य का अपहरण करता है ॥१८२॥

तिमिरपटलासिताम्बरमपहरदभिसारिकाजनौघस्य ।
निजतनु कान्तिवितानं वल्लभसम्भोगविहितये यत्र ॥१८३॥

जहाँ अभिसारिका जनों का अपना शरीर की कान्ति का वितान अन्धकार-समूह के काले वस्त्र को हटाता हुआ प्रिय मिलन के काम में आ जाता है ॥१८३॥

यत्र नितम्बवतीनां विचलनयनान्तविशिखवारैर्दं णितः ।
शिथिलयति पथिकलोकः स्वकलत्रसमागमोत्कण्ठाम् ॥१८४॥

जहाँ नितम्ब वालियों के चंचल कटाक्षों के बाण वाणों से घायल होकर पथिक लोग अपनी पत्नियों के समागम की उत्कण्ठा शिथिल कर देते हैं ॥१८४॥

यत्र च कुलमहिलानामल्पत्वं वचसि पाणिपादे च ।
स्वच्छत्वमाशये च व्यासोलत्वं विशालनेत्रे च ॥१८५॥

जहाँ कुलवन्ती महिलाएं जिस प्रकार अल्पभाषिणी हैं उसी प्रकार उनके हाथ-पैर भी छोटे-छोटे हैं उनके मन (आशय) जिस तरह स्वच्छ हैं उसी तरह उनकी चंचल और विशाल आँखें भी स्वच्छ हैं ॥१८५॥

स्तनजघनचिकुरभारे घनता जीवेशसहजरागे च ।
कुलदेवतार्चनविधौ बलिशोभा मध्यभागे च ॥१८६॥

उनके स्तन जघन और केशभार की तरह उनका प्रियतम के प्रति स्वाभाविक अनुराग भी घना है, कुलदेवताओं की पूजा में जिस तरह बलि (उपहार या पदार्थ) की शोभा होती है उसी प्रकार उनके कटिभाग में भी बलि (वलि) की शोभा है ॥१८६॥

गम्भीरता स्वभावे चेतोभवबाणगुणनाभौ च ।
विस्तीर्णता नितम्बे गुरुजनपूजानुरक्तचित्ते च ॥१८७॥

कामदेव के बाण के तरकस की मौर्वी उनका नाभिकूप उनके स्वभाव के समान गम्भीर है, गुरुजनों की पूजा में अनुरक्त उनके चित्त की भाँति उनका नितम्ब विस्तीर्ण है ॥१८७॥

हरिणायतेक्षणानां विच्छित्तिः कोपहरणमक्षेषु ।
कुटिलत्वमलकपंक्तौ बालानां कामचेष्टितं यत्र ॥१८८॥

जहाँ विच्छित्ति (अतिशय शोभा) केवल हरिण के समान विशाल आँखों वाली सुन्दरियों में है (अन्य विच्छित्ति अर्थात् विच्छेद नहीं है), कोपहरण (अर्थात् हथियार रखने के बन्द चर्मपेटिका से हथियार निकालना) केवल अक्षों के सम्बन्ध में है (अन्यत्र प्रजाओं में किसी के कोश अर्थात् खजाने का हरण या लूटपाट नहीं होता) कुटिलता केवल बालों में है (लोगों में कुटिलता नहीं है), स्वच्छाचार बालकों में है (न कि लोग स्वच्छाचार करते हैं) ॥१८८॥

संयमनमिन्द्रियाणामिनोपघातग्रहस्तमित्रस्य ।
स्तब्धत्वं तालतरौ हारलतास्तरलसंगता यस्मिन् ॥१८९॥

संयमन (निग्रह) जहाँ केवल इन्द्रियों का होता है (लोगों का निग्रह या धर पकड़ नहीं होता), केवल सूर्य का उपघात यह राहु के पक्ष में होता है (न कि कोई भी अपने स्वामी का प्रातिकूल्य ग्रहण करता है), स्तब्धता केवल ताल के पत्ते में है (लोगों में स्तब्धता अर्थात् प्रतिकूल व्यवहार नहीं) केवल हारलताएं तरल (मध्यमणि) के साथ रहती हैं (लोग तरल अर्थात् किसी चंचल पुरुष के साथ नहीं रहते) ॥१८९॥

भुजगा परन्ध्रदर्शा लम्बयन्ते प्रियतमाधरा यत्र ।
भूमीष्वपानुभूतिन त्याभ्यासप्रसृतानाम्   ॥१९०॥

दूसरों का रन्ध्र केवल सर्पगण देखते हैं (लोग दूसरों का रन्ध्र अर्थात् दोष या कमजोरी नहीं देखते), केवल प्रियतमाओं के अधर खण्डित किए जाते हैं (कोई खण्डित अर्थात् निरस्त्र नहीं होता), जो नृत्यकला के अभ्यास में

प्रसृत है उनमें केवल सूची (एक विशेष प्रकार का अभिनय) के कष्ट का अनुभव होता है (किसी अपराध के कारण सूची की व्यथा का कोई अनुभव नहीं करता) ॥१६०॥

नतवपुरप्यतिसरला मन्थरगमनापि नर्मदा यस्मिन् ।
गुरुजनशास्त्ररतापि स्वभावमुग्धाङ्गनाजनता ॥१६१॥

अतिसरला भी युवतियाँ जहाँ नत देहों वाली हैं (विरोध यह कि जो झुके शरीर वाली है वह अतिसरला अर्थात् बिलकुल सीधी-सादी कैसे हो सकती है ? परिहार यह कि अत्यन्त सरल स्वभाव वाली हैं) धीमी चाल चलने वाली होकर भी नर्मदा हैं (नर्मदा नदी तो बहुत वेग से बहती है, परिहार यह कि नर्म देने वाली अर्थात् परिहासरसिका हैं और स्तन के भार से अलसाई होने के कारण धीमी चाल से चलती हैं) गुरुजनों में और शास्त्रों में रत होने पर भी मुग्धा हैं (विरोध यह कि शास्त्रज्ञानशील मुग्धा कैसे हो सकती है, परिहार यह कि मुग्धा अर्थात् सुन्दर हैं) ॥१६१॥

तस्मिन्मखशतपूतः पुरुहूत इव द्विजन्मनां प्रवरः ।
गुरुरिव विद्यावसतिर्वसति स्म पुरंदरो नाम्ना ॥१६२॥

उस नगर में इन्द्र के समान सौ यज्ञ सम्पन्न करने से पवित्र, बृहस्पति के समान विद्वान्, पुरन्दर नाम के एक ब्राह्मण-श्रेष्ठ निवास करते थे ॥१६२॥

धर्मात्मजस्य सत्यं त्रिपुररिपोर्विजितकुसुमचापत्वम् ।
हरिनाभिपङ्कजभुवो नियतेन्द्रियतां जहास यः सततम् ॥१६३॥

जो हमेशा युधिष्ठिर के सत्य की, शिवजी की कामदेव पर विजय की और विष्णु के नाभिकमल से उत्पन्न ब्रह्मा के इन्द्रियनियम की खिल्ली उड़ाया करते थे ॥१६३॥

न्यक्कृतवृष इति शर्वे याचक इति कौस्तुभाभरणे ।
पीडितवसुधासुत इति कपिले न बभूव यस्य बहुमानः ॥१६४॥

शिव ने वृष (धर्म) को नीचा दिखा दिया (क्योंकि वे वृष अर्थात् नन्दिकेश्वर बैल पर चढ़ते हैं) अतः उनके प्रति, 'भिखमंगा है' यह विष्णु के प्रति 'पृथ्वी और सगर-पुत्रों को पीड़ित किया है' यह कपिल के प्रति विचार करते हुए जो आदर नहीं रखते थे ॥१६४॥

मार्गानुगतो लुब्धो य प्राणिवपुर्विनाशविमुखोऽपि ।
परिहृतपरदारोऽपि स्वाकाङ्क्षितगुरुजनप्रमदः ॥१९५॥

प्राणियों के शरीर का विनाश करने से जो सर्वथा विमुख थे तो भी मृग (मृगसमूह) के अनुगमन करने में लुब्ध (व्याध) थे (परिहार यह कि मार्ग अर्थात् सन्मार्ग के अनुगमन करने के लोभी थे), जिन्होंने दूसरों की पत्नियों को सर्वथा त्याग दिया था तथापि स्वयं गुरुजनों की प्रमदाओं की चाह करते थे (इस विरोध का परिहार यह कि गुरुजनों का प्रमद अर्थात् हर्ष चाहा करते थे) ॥१९५॥

यस्यान्वये महीयसि सरसीव समस्तसत्त्वनिजवसती ।
सच्चरितजन्मभूमौ विनिवारितकलिमलप्रसरे ॥१९६॥

सरोवर के समान समस्त सत्त्वों (सत्त्व-गुणों अथवा जीवों) के निवास-स्थान, सच्चरितों के जन्म-ग्रहण करने की भूमि, कलिकाल के दोषों से रहित जिसके कुल में ॥१९६॥

पितृतर्पणप्रसङ्गे खड्गग्रहणं न शौर्यदर्पे च ।
मृदनं मेखलिकानां वटुकजने नो रणाभिसंमर्दे ॥१९७॥

जब कभी पितृ-तर्पण का प्रसंग उपस्थित होता तभी खड्ग (अर्थात् गैंडे की सींग के बने पात्र) का ग्रहण किया जाता था न कि शूरता के घमंड में और खड्ग अर्थात् तलवार ग्रहण करना था, मेखलाओं अर्थात् करधनियों का टूटना छोटे बच्चों का होता था, न कि युद्ध की रगड़ में मेखलाएं टूटती थीं ॥१९७॥

श्रुतिभेदेषु विवादो नो रिक्थविभागमन्युना कलितः ।
तेजस्विता हविर्भुजि न धर्मैकरतेषु भूमिदेवेषु ॥१९८॥

विवाद केवल वेदों के भेदों के बारे में हुआ करता था न कि धन के विभाग या बंटवारे के कारण उत्पन्न क्रोध से विवाद उठ खड़ा होता था, तेजस्विता केवल अग्नि में थी, न कि धर्मप्रधान ब्राह्मणों में ॥१९८॥

अरतामेव स्तम्भो जपतामेवाधरस्फुरणम् ।
यजतामेव समिद्भिरेणाजिन एव कृष्णसंपर्कः ॥१९९॥

स्तम्भन केवल यूपों का होता था, अधर का फड़कना केवल जप करने

वालों का होता था, समित् अर्थात् समिधा की इच्छा यज्ञ करने वालों को ही होती थी (न कि कुल के लोगों के समित् अर्थात् युद्ध की इच्छा होती थी) कालिमा का सम्पर्क केवल मृगमद में ही होता था (न कि कुलीन लोगों में कालिमा अर्थात् पाप का सम्पर्क था) ॥१९९॥

तस्याभूत्सकलकलोद्भासितपक्षद्वयस्य सुत एकः ।
नाम्ना सुन्दरसेनः कच इव वचसामधीशस्य ॥२००॥

बृहस्पति के जैसे कच नाम का पुत्र हुआ उसी प्रकार अपनी समस्त कलाओं से मातृकुल और पितृकुल को उद्भासित करने वाले उस पुरन्दर के सुन्दरसेन नाम का एक पुत्र था ॥२ ॥

पशुपतिनयनहुताशनभस्मितमवधार्य यं वपुष्मन्तम् ।
अपरमिव कुसुमचापं रतिरतये निर्ममे धाता ॥२०१॥

विधाता ने कामदेव को शिवजी की नेत्राग्नि में भस्म हुए देखकर रति की तृप्ति के निमित्त शरीरधारी दूसरा कामदेव मानो बना डाला था ॥२ १॥

तिष्ठन्तु तावदन्याः कुलललना यस्य रूपमवलोक्य ।
सापि महामुनिदयिता कृच्छ्रेण ररक्ष चारित्रम् ॥२०२॥

दूसरी कुलवन्तियों की बात दूर रहे, जिसका रूप देख कर महामुनि की पत्नी (वशिष्ठ की पत्नी अरुन्धती अथवा अत्रि की पत्नी अनसूया) भी बड़ी मुश्किल से अपने चरित्र की रक्षा कर सकी थी । २ ॥

कलधौतकनकशोभां बिभ्राणं यस्य पृथुतरं वक्षः ।
दृष्ट्वा चिराय लक्ष्मीर्हरिहृदये दुःस्थितिं मेने ॥२०३॥

सुवर्ण के समान जिसके विशाल वक्षःस्थल को देख कर लक्ष्मी देर तक विष्णु के हृदय पर अपना निवास कष्टप्रद समझती रही ॥२०३॥

कथमीदृग्यदि न कृतः शशिशरसीरस्य कृतः कथं व्ययकः ।
इत्थं समीक्षमाणो निर्णयमगमन्न कामिनीसार्थः ॥२०४॥

कामिनी-समूह जिसे देखता हुआ इस प्रकार किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा कि यदि यह चन्द्र के पुत्री से नहीं बना है तो बना कैसे है ? ॥ ०४॥

यो जग्राह हिमांशोः प्रसन्नमूर्तित्वमचलतः स्थैर्यम् ।
जलधरत उन्नतत्वं गाम्भीर्यं यादसां पत्युः ॥२०५॥

जिसने चन्द्रमा से प्रसन्न-मूर्ति होना, पर्वत से स्थिरता, मेघ से उन्नति और समुद्र से गाम्भीर्य ग्रहण किया था ॥२०५॥

यो विनयस्य निवासो वैदग्ध्यस्याश्रयः स्थितेः स्थानम् ।
प्रियवाचामायतनं निकेतनं साधुचरितस्य ॥२०६॥

जो विनय का निवास, विदग्धता का आश्रय, मर्यादा का स्थान, प्रियवचनों का आयतन एवं साधु चरित का निकेतन था ॥२ ६॥

यो मदनः प्रमदानां तुहिनकरः साधुकुमुदषण्डस्य ।
निकषोपलो गुणानां मार्गतरुः पथिकलोकस्य ॥२०७॥

जो प्रमदाओं का मदन, साधुजन रूपी कुमुदषण्ड का विकसित करने वाला चन्द्र, गुणों का निकष एवं पथिक जनों का मार्गवृक्ष था ॥२ ७॥

सज्जनगोष्ठीनिरतः काव्यकथाकनकनिकषपाषाणः ।
प्रणयिजनकल्पवृक्षो लक्ष्मीलीलाविहारभूमिश्च ॥२०८॥

जो सज्जनों की सभा में बैठा रहता, काव्यालाप रूप सोने का निकष, प्रेमी जनों के लिए कल्पवृक्ष और लक्ष्मी की लीलाओं की विहार-भूमि था ॥२०८॥

जलधिरिव तुहिनभासः सहवृद्धिपरिक्षयः सुहृत्तस्य ।
सकलापदाविमुखो बभूव गुणपालितो नाम्ना ॥२०९॥

चन्द्र का समुद्र के समान साथ ही बढ़ने-घटने वाला उसका सब प्रकार से परीक्षित गुणपालित नाम का एक मित्र था ॥२०९॥

तेन समं स कदाचित्तिष्ठन्नहनि प्रसङ्गतः पठिताम् ।
केनापि गीयमानामशृणोदार्यामिमां सहसा ॥२१०॥

उसके साथ किसी समय बैठे हुए उसने प्रसंग से प्राप्त, किसी के द्वारा गाई गई इस आर्या को सहसा सुना ॥२१०॥

देशान्तरेषु वेषस्वभावभणितानि ये न बुध्यन्ते ।
समुपासते न च गुरूंस्ते विषाणविकलास्त उक्षाणः ॥२११॥

दूसरे देशों की वेषभूषा रहन-सहन और बोली जिन्हें मालूम नहीं तथा गुरुजनों की सेवा जिन्होंने नहीं की वे बिना सींग के बैल हैं ॥२११॥

आकर्ण्यैव समूचे वचनमिदं सुन्दरः सुहृन्मुख्यम् ।
शोभनमेतद्गीतं गुणपालित साधुनानेन ॥२१२॥

सुनकर सुन्दरसेन अपने प्रधान मित्र से बोला— गुणपालित, इस भले मानुस ने ठीक यह गीत गाया है ॥२१२॥

साधूनामाचरितं खलचेष्टां विविधलोकहेवाकान् ।
नर्म विदग्धैर्विहितं कुलटाजनवक्रकथितानि ॥२१३॥

गुह्योद्गतशास्त्रतत्त्वं विटवृत्तं धूर्तवञ्चनोपायान् ।
वारिधिपरिखां पृथ्वीं जानाति परिभ्रमन्पुरुषः ॥२१४॥

जब आदमी समुद्र से घिरी पृथ्वी पर भ्रमण करता है तब वह सज्जनों के आचरण, दुष्टों की चेष्टा, विभिन्न प्रकार के लोगों की उत्कंठा, विदग्धजनों के परिहास, कुलटाओं की वक्रोक्तियाँ, गम्भीर और गूढ़ शास्त्रों का तत्त्व, विटों का वृत्तान्त और धूर्तों के ठगने के उपाय से परिचित होता है ॥२१३ २१४॥

तत उज्झित्वा गृहस्थितिसुखमेव विविधलाभपरिणामे ।
स्थापय गमनारम्भे वयस्य हृदयं मया सहितः ॥२१५॥

अतः हे मित्र, घर पर पड़ा रहने के आराम सुख को छोड़, विविध प्रकार के लाभ के परिणामस्वरूप मेरे साथ इस गमन-कार्य में मन को प्रवृत्त करो' ॥२१५॥

इत्थं निगदितवन्तं सुहृदं स तरलामसाहसात्मानम् ।
ऊचे सुन्दरसेनः सस्मित इव सहचरो वचनम् ॥२१६॥

इस प्रकार मित्र के उत्तर सुनने के इच्छुक प्रवृत्त हुए सुन्दरसेन से उसका साथी मुस्कराता बोला ॥२१६॥

अभ्यर्थनानुबन्धो लज्जाकर एव मादृशां किन्तु ।
आकर्णय कथयामः पथिकानां यानि दुःखानि ॥२१७॥

मुझ-जैसों से बार-बार प्रार्थना करना लज्जाकर ही है किन्तु सुनो, पथिकों के मार्ग में जो कष्ट होते हैं, उन्हें कहता हूँ ॥ १७॥

कर्पटखण्डावृतमूर्तिर्दूराध्वपरिश्रमावसन्नशक्तिः ।
पांसूत्कटधूसरितो दिनावसाने प्रतिश्रयाकाङ्क्षी ॥२१८॥

पथिक देह में फटा पुराना कपड़ा लपेटे, सुदूर मार्ग पर चल कर थक जाने से शक्तिहीन बना, धूल-धक्कड़ से भरा दिन बीत जाने पर निवास स्थान का इच्छुक ॥ १८॥

मातर्भगिनि दयां कुरु मामैवं निष्ठुरा भव तवापि ।
कार्यवशेन गृहेभ्यो निर्यान्ति भ्रातरश्च पुत्राश्च ॥२१९॥

इस प्रकार बहुत तरह की दीन बातें करता है कि, माँ, बहन, मुझ पर दया करो, इस तरह निठुर न बनो तुम्हारे भी भाई और लड़के कार्यवश घर से बाहर निकलते हैं ॥ १९

किं वयमुत्पाट्य गृहं प्रातर्गन्तार ईदृगेव सताम् ।
भवति निवासो यस्मिन्निज इव पथिकाः प्रयान्ति विश्रामम् ॥२२०॥

क्या हम लोग प्रातःकाल घर उखाड़ कर ले भागेंगे ? सज्जनों का निवास स्थान ऐसा ही होता है, जहाँ पथिक अपने घर की भाँति विश्राम पाते हैं ॥२२०॥

अद्य रजनीं नयामो यथाकथंचित्तवाश्रमे मातः ।
अस्तं गतो विवस्वान्क्व सम्प्रति कुत्र गच्छामः ॥२२१॥

माँ, तुम्हारे आश्रम में जिस किसी तरह आज रात गुजार लेंगे । सूरज डूब गया, कहो इस समय कहाँ जायँ ? ॥२२१॥

इति बहुविधदीनवचाः प्रतिगेहद्वारदेशमधितिष्ठन् ।
निर्भर्त्स्यते शठको गृहिणीभिरिदं वदन्तीभिः ॥२२२॥

प्रत्येक घर के दरवाजे पर खड़ा हुआ यह सब कहता हुआ घर वाली स्त्रियों से दुतकारा जाता है ॥२२२॥

न स्थित इह गेहपतिः किं रटसि वृथा प्रयाहि देवकुलम् ।
कथितेऽपि नापगच्छसि पश्य मनुष्यस्य निर्बन्धम् ॥२२३॥

'मालिक घर पर नहीं है, क्यों व्यर्थ का बकवास कर रहे हो ? मन्दिर में चले जाओ कहने पर भी नहीं टसकता, मर्दों की बात बड़ी ढीठ होती है' ॥२२३॥

अथ यदि कथंचिदपरः पुनः पुनर्याचितो गृहस्वामी ।
निर्दिशति सावधीरणमत्र स्वपिहीति जीर्णगृहकोणे ॥२२४॥

और यदि किसी प्रकार दूसरे घर का मालिक बार-बार मांग करने पर नाक भौं सिकोड़ कर बता देता है कि इस पुराने घर के कोने में सो जाओ ॥२२४॥

तत्र कलहायमाना तिष्ठति गृहिणी विभावरीप्रहरम् ।
अज्ञाताय किमर्थं वासो दत्तस्त्वयेति सह भर्त्रा ॥२२५॥

तो उसकी घर-वाली यह कहती हुई कि अनजान आदमी को क्यों घर में तुमने वास दे दिया, सारी रात पति से झगड़ती रहती है ॥२२५॥

ईदृगयं सरलात्मा किं कुर्मो भगिनि तावको भर्ता ।
स्थास्यसि गेहेऽवहिता भ्रमन्ति खलु वंचका एवम् ॥२२६॥

'बहिन तेरा मरद बड़ा सीधा है तू क्या करती है ? अतः घर में चौकस होकर रहना । इस तरह ठग घूमा करते हैं ॥२२६॥

इति भाजनादियाच्ञां मुधा विनिधाय निकटवर्तिनो गेहात् ।
नारीजनः समेत्य ब्रूते ग्रामासमाकेन ॥२२७॥

इस प्रकार पड़ोस के मकान से बरतन आदि मांगने के बहाने स्त्रियाँ आकर यह ग्रामसमाजी के रूप में कह जाती है ॥२२७॥

गृहशतमधिकमटित्वा कलमकुलत्थाणुचणमसूरादि ।
एकीभूतं भुक्तेक्षुधोपतप्तोऽध्वगो भैक्षम् ॥२२८॥

सौ से अधिक घरों पर घूम कर चावल धान कुलथी चीनी चना, मसूर आदि एक में मिला हुआ भिक्षान्न भूख से पीड़ित हो खाता है ॥२२८॥

परवशमशनं वसुधा शयनीयं सुरनिकेतनं सद्म ।
पथिकस्य विधिः कृतवानुपधानकमिष्टिकाखण्डम् ॥२२९॥

विधाता ने पथिक का भोजन पराधीन शय्या धरती पर देवमन्दिर और तकिया ईंट का टुकड़ा बनाया है ॥२२९॥

इति निगदितवति तस्मिन्सुन्दरसेनस्य चोत्तरावसरे ।
इयमुपगीता गीतिः केनापि कथाप्रसङ्गेन ॥२३०॥

वह यह कह ही रहा था और सुन्दरसेन को जब उत्तर देने का अवसर हुआ इसी बीच किसी ने कथा के प्रसङ्ग से यह गीति सुनाई ॥२३० ॥

'निधवरभवनं सुरगृहमुर्वीतलमतिमनोहरं शयनम् ।
कदशनममृतमभीप्सितकार्यैकनिविष्टचेतसां पुंसाम्' ॥२३१॥

'जिन लोगों का चित्त अभीष्ट कार्य के सम्पादन में परो तरह लग चुका है उनके लिए देवमन्दिर अपना ही भवन बन जाता है धरती अति मनोहर शय्या हो जाती है, खराब भोजन अमृत बन जाता है' ॥२३१॥

तां च श्रुत्वा सुहृदं पौरन्दरिरिदमुवाच परितुष्टः ।
मम हृदयगतं प्रकटितमेतेन सहैव गच्छामः ॥२३२॥

उसे सुन कर पुरन्दर का लड़का सुन्दरसेन सन्तुष्ट हो अपने मित्र से बोला 'इसने मेरे दिल की बात आप ही खोल दी, तो हम चलें' ॥२३२॥

अथ सहचरद्वितीयः क्लेशसमुद्रावतरणकृतचित्तः ।
निरगात्सुन्दरसेनः कुसुमपुरादविदितः पित्रा ॥२३३॥

अनन्तर सुन्दर सेन दूसरे साथी के साथ क्लेश का समुद्र पार करने के लिए निश्चय करके पिता के अनजाने ही कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) से निकल पड़ा ॥२३३॥

पश्यन्विदग्धगोष्ठीरभ्यस्यन्नायुधानि विविधानि ।
शास्त्रार्थानधिगच्छन्विलोकयन्कौतुकान्यनीकानि ॥२३४॥

विदग्ध जनों की गोष्ठियाँ[1] देखता, नाना प्रकार के आयुधों का अभ्यास

1—प्राचीन काल में यहाँ कई प्रकार की गोष्ठियाँ प्रचलित थीं, जैसे काव्य गोष्ठी पदगोष्ठी कथागोष्ठी, गीतगोष्ठी नृत्यगोष्ठी वाद्यगोष्ठी वीणागोष्ठी

करता, शास्त्र के अर्थों को समझता अनेक कौतुकों को अवलोकन करता ॥२१४॥

आनन्यपत्रच्छेदनमालेख्यं सिक्थपुस्तकर्माणि ।
नृत्यं गीतोपचितं तन्त्रीमुरजादिवाद्यभेदांश्च ॥२३५॥

पत्ते पर अलंकार की कला चित्र, मोम और काष्ठ की पुतलियाँ बनाने का कौशल नृत्य, गीत वीणा मुरज आदि वाद्यभेद सीखता ॥२१५॥

बुध्यन्वंचकभङ्गीर्विटकुट्टनीनर्मवक्रकथितानि ।
बभ्राम सुहृत्सहितः सुन्दरसेनो महीमखिलाम् ॥२३६॥

एवं ठगों की चालें और विटों तथा कुट्टनियों के परिहास-वचनों, वक्रोक्तियों का समझना[1] मित्र के साथ सुन्दर सेन समस्त पृथ्वी पर घूमा ॥२१६॥

अथ विदितसकलशास्त्रो विज्ञाताशेषजनसमाचारः ।
निजगृहगमनाकांक्षी स शिलोच्चयमर्बुदं प्राप ॥२३७॥

तत्पश्चात् सकल शास्त्रों के ज्ञान प्राप्त कर, अशेष जनों के चाल-चलन मालूम कर, अपने घर जाने का इच्छुक वह आबू (अर्बुद) पर्वत पर पहुँचा ॥२१७॥

तत्पृष्ठदेशदर्शनलोलमतिं सुन्दरं परिज्ञाय ।
गुणपालितो बभाषे विलोक्यतामद्रिराज इति ॥२३८॥

जब गुणपालित ने देखा कि सुन्दरसेन आबू पर्वत के पीछे का भाग देखने के लिए चंचल हो रहा है तब बोला—देखो इस पर्वतराज को ॥२१८॥

आदि । बाणभट्ट ने हर्ष चरित में 'विद्यागोष्ठी' का उल्लेख किया है । विद्या, धन शील बुद्धि और आयु में मिलते-जुलते लोग जहाँ अनुरूप बातचीत के द्वारा एक जगह आसन जमावें उसे 'गोष्ठी' कहते हैं :—

समानविद्यावित्तशीलबुद्धिवयसामनुरूपैरालापैरेकत्रासनबन्धो गोष्ठी ।

वात्स्यायन ने लोकचित्तानुवर्तिनी और लोकविद्वेषिणी गोष्ठी और काम विद्यानुवर्तिनी गोष्ठी के नाम से अच्छी और बुरी के भेद से गोष्ठियों का दो सामान्य विभाग कर दिया है । इन सब प्रकार की गोष्ठियों में वैदग्ध्य का बुद्धिचातुर्य परिचित होता है । अतः प्रस्तुत में इन सभी प्रकार की गोष्ठियों का निर्देश है ।

1—महाकवि बाण ने भी अपने कुमारजी (हर्ष) जीवन में कुछ ऐसी

एष सुतः सानुमतः स्यन्दच्छीतास्वच्छसलिलसम्पन्नः ।
लोकानुकम्पयेव प्रालेयमहीभृता मरौ न्यस्तः ॥२३९॥

प्रवहमान शीतल जल से सम्पन्न यह पर्वत हिमालय का पुत्र है, जिसे हिमालय ने लोगों पर अनुकम्पा करके मरुभूमि में रख दिया है ॥२३९॥

शिशिरकरकान्तमौलिः कटकस्थितपवनभोजनः सगुहः ।
विद्याधरोपसेव्यो बिभर्ति लक्ष्मीमयं शंभोः ॥२४०॥

यह शिवजी की शोभा धारण करता है, क्योंकि इसके भी शिखर पर चन्द्रकान्त मणि है (शिव जी का सिर चन्द्र से कान्त अर्थात् मनोहर लगता है) इसके भी कटक अर्थात् मध्यभाग में सर्प निवास करते हैं (शिवजी के कटक अर्थात् वलय के रूप में सर्प रहते हैं) यह भी सगुह (अर्थात् गुफाओं से युक्त) है (और शिवजी गुह अर्थात् कार्तिकेय के सहित हैं), यह भी विद्याधरों से सेवित है (और शिवजी विशेष प्रकार की मंत्र-तंत्र विद्या को धारण करने वाले योगियों से युक्त हैं) ॥२४०॥

अत्र तरुशिखरसंगतसुमनस इति जातनिश्चयो मन्ये ।
अभिलषति समुच्चेतुं तारा निशि मुग्धकामिनीलोकः ॥२४१॥

यहाँ मुग्ध कामिनियाँ रात में वृक्षों के शिखरों पर लगे फूल समझ कर भोलेपन से भर कर तारों को तोड़ लेने की इच्छा करती हैं ॥२४१॥

आश्चर्यं यदुपान्ते तिष्ठन्त्येतस्य सप्त मुनयोऽपि ।
अथवा कस्याकर्षं न करोति समुन्नतिर्महताम् ॥२४२॥

आश्चर्य तो इसमें है कि इस पर्वत के समीप ही सप्तर्षि तारे रहते हैं, अथवा इसमें आश्चर्य कैसा, बड़ों की समुन्नति किसे आकृष्ट नहीं करती ! ॥२४२॥

अवगत्य निरवलम्बनमम्बरमार्गं पतंगतुरगाणाम् ।
अयमवनिधरो मन्ये विश्रान्त्यै वेधसा विहितः ॥२४३॥

ऐसा लगता है कि ब्रह्मा ने आकाश मार्ग को निरवलम्ब जानकर सूर्य के घोड़ों के विश्राम के लिये इस पर्वत को बनाया है ॥२४३॥

नगर की उपलब्धियाँ दर्शित की थीं जैसा कि 'हर्षचरित' में वे लिखते हैं—उदार व्यवहार वाले बड़े बड़े राजकुलों को देखना, अनिन्द्य विद्वानों से सम्मानित गुरुकुलों में निवास करना, मूल्यवान् ज्ञान-शील और गम्भीर गुणों वाले लोगों की गोष्ठियों में भाग लेना एवं विदग्ध जनों के मण्डलों (गोष्ठियों) का स्मरण करना (प्रथम उच्छ्वास)।

इममाश्रित्य हिमांशोरोषधयः संनिकर्षमुपयाताः ।
प्रत्यासत्तिः प्रभुणा प्रायोऽनुग्राहकवशेन ॥२४४॥

इसी पर्वत का आश्रय करके औषधियों ने (अपने पति) चन्द्र का सान्निध्य प्राप्त किया, प्रायः बीच वाले अनुग्राहक के माध्यम से प्रभु का सान्निध्य प्राप्त होता है ॥ ४४॥

सेक्तुमिवाशाकरिणोऽविसृजत्ययमवनिधरणपरिखिन्नान् ।
निर्झरसलिलकणौघान् भवति हि सौहार्दमेककार्याणाम् ॥२४५॥

यह पर्वत पृथ्वी धारण करने से खिन्न उन दिग्गजों को मानो सींचने के लिए अपने निर्झरों के जल-शीकर छिड़कता है क्योंकि एक ही कार्य करने वालों का आपस में सौहार्द हो जाता है (पृथ्वी धारण करने का जो काम दिग्गजों का है वही महीधर होने से पर्वत का भी है) ॥ ४५॥

हारीताहितशोभो मुदितशुको व्याससयोगरमणीयः ।
विश्रान्तभरद्वाजः समतामयमेति मुनिनिवासस्य ॥२४६॥

हारीत पक्षियों (हारिल चिड़ियों) से शोभित, शुक पक्षियों से उल्लसित, व्यास (विस्तार) के कारण रमणीय, भरद्वाज (भरत पक्षियों) का विश्राम स्थान यह पर्वत हारीत, शुक, व्यास, भरद्वाज मुनियों से सेवित आश्रम की समता प्राप्त करता है ॥२४६॥

अस्मिन्निःसंगा अपि परलोकप्राप्त्युपायकृतयत्नाः ।
गन्धवहभोजना अपि न हिंसका फलभुजोऽपि न प्लवगाः ॥२४७॥

यहाँ निःसंग होकर भी परलोक (अन्य लोक अथवा मनुष्य पद में मृत्यु के बाद जो लोक मिलता है) की प्राप्ति के उपाय में प्रयत्नशील, वायु भोजन करने वाले ([illegible]) होकर भी अहिंसक, वानर न होकर भी फल के भोगी ॥२४७॥

शुभकर्मैकरता अपि षट्कर्माणोऽप्यसता अपि स्ववशाः ।
अनभिमतरौद्रचरिता शिवप्रिया अपि वसन्ति शमनिरताः ॥२४८॥

एकमात्र शुभ कर्म में निरत होकर भी षट्कर्म (अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह) में निरत, यत (यत, पक्ष में जितेन्द्रिय) होकर भी स्वाधीन रौद्रभक्ति (रुद्र = शंकर में भक्ति, पक्ष में भयंकर आचरण)

में मनभिम्य होकर मा प्रिय के प्रमी, शान्त रसमय (तपस्वी जन) विश्राम करते हैं ॥२४८॥

मूर्तिरिव शिशिररश्मेर्हरिणवती सप्तपत्त्रकृतशोभा ।

सरणिरिव चण्डभासः पलाशिनी यातुधानजायेव ॥२४९॥

मृग के रहने से मृगांक (चन्द्र) की मूर्ति के समान, सप्तपत्र वृक्ष (सप्तपर्ण के पत्तों) से शोभित हो सप्तपत्र (सात घोड़े) वाले सूर्य के रथ की सरणि के समान, पलाश वृक्षों से शोभित होकर पलाशिनी (मांस भक्षण करने वाली) राक्षसी सेना के समान ॥२४९॥

सोत्कण्ठेव समदना वासकसज्जेव कृततिलकशोभा ।

बहुहरिपीलुसनाथा नरनाथद्वारभूमिरिव ॥२५०॥

मदन वृक्ष (धतूरे के पेड़) के रहने के कारण समदना उत्कण्ठिता[1] नायिका के समान तिलक वृक्षों के उपस्थित होने के कारण तिलक (विशेषक) से शोभित वासकसज्जा[2] नायिका के समान बहुत से हरिचन्दन और पीलु वृक्षों से युक्त होने से हरि (अश्व), पीलु (हाथी) से समायुक्त राजद्वार भूमि के समान ॥२५०॥

अर्जुनबाणशालैः कुरुनाथवरूथिनीव संछन्ना ।

ऋक्षसहस्रोपचिता लक्ष्मीरिव गगनदेशस्य ॥२५१॥

अर्जुन और शाल नामक वृक्षों से ढँकी रहने के कारण अर्जुन के बाण समूह से ढँकी कौरव सेना के समान हजारों ऋक्षों (भालुओं) से उपचित होने से ऋक्ष-सहस्र (हजारों तारागण) उपचित आकाश-लक्ष्मी के समान ॥२५१॥

ध्वजिनीव दानवानां पृथुकम्बमधिष्ठिता नियामेव ।

उद्यातरोहिणीका रम्येयमुपत्यका भाति ॥२५२॥

पिप्पल अर्थात् आम्रवृक्षों से अधिष्ठित होने से पिप्पक नामक दैत्य से

1—प्रियमिलन की उत्कण्ठा वाली नायिका। यह काम से सम्पन्न अभिभूत सरस मानस वाली पसीने से तर और कांपती हुई एवं रोमांचित अङ्गों वाली नायिका 'उत्कण्ठिता' कहलाती है।

2—यह अवस्थाभेद के अनुसार अष्टविध नायिकाओं में एक प्रकार की नायिका है। जब नायिका प्रिय के आगमन की उत्कण्ठा में अपने वासागार (शयनकक्ष) को सब प्रकार से सुसज्जित करके बैठती है तब उसे 'वासकसज्जा' कहते हैं।

समधिष्ठित दानवी सेना के समान, रोहिणी अर्थात् हरीश के उत्पन्न होने से रोहिणी नामक नक्षत्र जिसमें उदित है उसी रात्रि के समान यह रमणीय उपत्यका (पर्वत के नीचे की समतल भूमि) शोभा दे रही है ॥२५२॥

इति दर्शयति वयस्ये सुन्दरसेने च पश्यति प्रीत्या ।
स्वप्रस्तावोपगता गीतिरियं केनचिद्गीता ॥२५३॥

इस प्रकार जब मित्र दिखा रहा था और सुन्दरसेन आदर से देख रहा था तभी किसी ने अपने कथा-प्रसङ्ग में आई इस गीति (एक प्रकार की आर्या) का गान किया ॥२५३॥

'अतिशयितनाकपृष्ठं पृष्ठं ये नार्बुदस्य पश्यन्ति ।
बहुविषयपरिभ्रमणं मन्ये क्लेशाय केवलं तेषाम्' ॥२५४॥

'स्वर्ग से बढ़ कर इस आबू पर्वत के पृष्ठभाग को जो नहीं देखते, उनका बहुत से देशों का घूमना केवल क्लेश के लिए हुआ, ऐसा मैं मानता हूँ ॥२५४॥

आकर्ण्य च स बभाषे महाजनेनानेन युक्तमुपगीतम् ।
शिखरशिरः परमामो वयस्य रम्यं समारुह्य ॥२५५॥

सुनकर सुन्दरसेन बोला—'मित्र इस भलेमानुस आदमी ने ठीक कहा है, इस पहाड़ की रमणीय चोटी पर चढ़ कर देखें ॥२५५॥

अथ गिरिवरमारूढो विलोकयन्विविधविबुधभवनानि ।
वापीरुद्यानभुवः सरांसि सरितश्चचार विस्मेरः ॥२५६॥

अनन्तर वह पहाड़ की चोटी पर चढ़ गया वहाँ अनेक प्रकार के देवालयों, बावड़ियों उद्यान, सरोवर और नदियाँ आश्चर्य के साथ देखता हुआ घूमने लगा ॥२५६॥

विचरन्नुपवनमण्डपपुष्पप्रकराभिरामभूपृष्ठे ।
रममाणां सह सख्या कमलामालोकयामास ॥२६०॥

(इसी समय) पुष्पाकीर्ण अभिराम उपवन भूमि में विचरण करते हुए उसने सखी के साथ क्रीड़ा करती हुई एक कमला को देखा ॥२६०॥

अचिराभामिव विघना ज्योत्स्नामिव कुमुदबन्धुना विकलाम्।
रतिमिव मन्मथरहितां श्रियमिव हरिवक्षसः पतिताम् ॥२५७॥

वह मेघरहित बिजली, चन्द्ररहित चाँदनी, मन्मथरहिता रति, विष्णु के वक्ष से गिरी लक्ष्मी ॥२५७॥

हस्तोच्चयं विधातुः सारं सकलस्य जन्तुजातस्य ।
दृष्टान्तं रम्याणां शस्त्रं संकल्पजन्मनो जैत्रम्॥२५८॥

विधाता के हस्त शिल्प का नमूना समस्त जीवजगत् का सार रमणीय वस्तुओं का दृष्टान्त, कामदेव का जयशील शस्त्र ।। २५८॥

विकसितकुसुमसमृद्धिं शृंगाररसापगैककलहंसीम् ।
लीलापल्लववल्लीं व्रतिनामवधानवर्मणां भल्लीम् ॥२५९॥

खिले हुए पुष्पों की समृद्धि, शृङ्गार रस की नदी की एकमात्र कलहंसी, लीला के पल्लवों वाली लता और व्रतियों की समाधि की कवच को चकना-चूर कर देने वाली भल्ली थी ॥२५९॥

अवलोकयतस्तस्य स्मरसायकवेध्यतामुपगतस्य ।
इदमभवन्मनसि चिरं विस्मयभाराभिभूयमानस्य ॥२६१॥

जब सुन्दरसेन उसे देखता हुआ कामदेव के बाण से बिंध गया तब आश्चर्य के भार से अभिभूत होते हुए उसने देर तक मन में यह सोचा ॥२६१॥

क्वेदं खलु विधिसृजः कौशलमत्यद्भुतं समुपजातम् ।
येन विरुद्धानामपि घटितैकत्र स्थितिस्तथाहीयम् ॥२६२॥

'यह विधाता का अद्भुत निर्माण कौशल कहाँ से उत्पन्न हुआ, जिससे परस्पर विरुद्ध पदार्थों का एकत्र सम्बन्ध है ॥२६२॥

ललितवपुर्निर्दोषा स्फुरदुज्ज्वलतारकाभिरामा च ।
निर्वाच्यवदनकमला जितवीणा क्वणितवाणी च ॥२६३॥

जैसा कि यह रमणी ललित देह वाली निर्दोष और चमकदार और उज्ज्वल आँखों के तारों से अभिराम है। इसका मुखकमल अवर्णनीय है, वाणी वीणा को पराजित करने वाली है और क्वणन (वीणा की आवाज) जैसी है ॥२६३॥

प्रकटितविग्रहसंस्थितिरतिशोभाघटितसंधिबन्धा च ।
उन्नतपयोधराढ्या शरदिन्दुकरावदाता च ॥२६४॥

उसके अंगों का सन्धान स्पष्ट दिखाई दे रहा है और अपनी अतिशय शोभा से इसके सब जोड़ों का मेल बैठा हुआ है, ऊँचे ऊँचे पयोधरों (स्तनों) वाली है और शरत्कालीन चन्द्र की चाँदनी के समान धवल है। ॥२६४॥

अभिमतसुगतावस्थितिरभिनन्दितचरणयुगलरचना च ।
अतिविपुलजघनदेशा विध्वस्तशरीरविक्षितशोभा च ॥२६५॥

सुन्दर चाल से चलना और रहना इसे अभिमत है और जिसके दोनों चरणों की रचना का लोग अभिनन्दन करते हैं। इसका जघनदेश अति विशाल है और कामदेव के कारण इसकी शोभा है[1] ॥२६५॥

१—ऊपर के तीन श्लोकों (२६३–२६५) में कवि ने प्रस्तुत नायिका में श्लेष सहित विरोधाभास के द्वारा परस्पर विरोधी वस्तुओं का पृथक् संघटन बताया है। क्रम से उन्हें इस प्रकार समझना चाहिए—

नायिका निर्दोषा है दोष अर्थात् वायु, निर्गत वायु वाली अर्थात् वायुहीन है फिर वह कलित वपु अर्थात् शोभित शरीर वाली कैसे है, क्षप या क्षपा अर्थात् रात्रि निर्दोष अर्थात् रात्रि रहित है फिर चमकते हुए तारों नक्षत्रों से अभिराम कैसे है? विरोध का परिहार यह है कि नायिका निर्दोष अर्थात् दोषों से रहित है उसमें कोई दोष नहीं और चमकदार आँखों के तारे से अभिराम है।

उसका मुख-कमल निर्वाण्य अर्थात् काफी ठंडा है फिर उसकी वाणी बीणा की ओर जैसे बजती कैसे है? परिहार यह कि उसका मुखकमल निर्वाच्य अर्थात् अवचनीय (जिसमें कोई कहने, दाग दैन्य की बात नहीं) है।

जब कि उसने वाणी के द्वारा वीणा को पराजित कर दिया है तब उसकी वाणी अविजित अर्थात् वीणा को सम्मान जैसी कैसे है? परिहार यह कि वीणा से भी मीठी वाणी बजती है और भी वीणा की सम्मान जैसी सुन पड़ती है।

जब कि उसने विग्रह अर्थात् युद्ध की मत्स्यता को प्रकट किया है फिर शोभा के द्वारा संधि अर्थात् मेल-मिलाप कैसे कर दिया है? परिहार है कि विग्रह की सन्निधि अर्थात् अंगों का विन्यास अपनी जगह पर रहना और संधान अर्थात् अंगों का सश्लेष गठन।

जब कि ऊँचे ऊँचे पयोधरों अर्थात् मेघों से परिपूर्ण है तब फिर शरत्कालीन चन्द्र की चाँदनी से प्रकाशमान कैसे है? परिहार यह कि ऊँचे ऊँचे पयोधरों अर्थात् स्तनों वाली है और शरच्चन्द्र की चाँदनी के सदृश धवल है।

जब कि सुगत अर्थात् बुद्ध में अवस्थिति जिसे अभिमत है तब फिर चरणों अर्थात् वेद की शाखाओं की रचना अभिनन्दित कैसे है? परिहार यह है कि सुगत अर्थात् शोभन गमन उसे अभिमत है और चरण अर्थात् पैर उसके अभिनन्दित हैं।

जबकि उसका जघन भाग अति विशाल है फिर उसके शरीर की शोभा विध्वस्त अर्थात् विनाश प्राप्त कैसे है? परिहार यह कि उसका जघन भाग अति विशाल है और विध्वस्त अर्थात् विनाश को प्राप्त, शिव के द्वारा नष्ट है शरीर जिसका ऐसे कामदेव द्वारा जिस नायिका की शोभा सम्पादित है।

विस्मृतसकलान्यकर्मण: सपदि ।
यामंकुरितं सात्त्विकैर्भावै ॥२६७॥
ी और शीघ्र ही अपने दूसरे सारे काम भूल गई ।
माव¹ अंकुरित होने लगे ॥२६७ ।
स्मिन्नेव क्षणे स्मरं समाश्रित्य ।
प्रभोर्हि कृत्यं करोति खलु सर्व: ॥२६८॥
कुछ ही देर पहले उसे मुक्त कर रही थी) उसी समय
से स्थापित करने लगी अपने मालिक का काम

प्रस्वेदजलं विनिर्ययौ तस्या: ।
वह्न्यमुजा दह्यमानेभ्य: ॥२६९॥
उस कामाग्नि के कारण जली जाती हुई उसके अङ्गों
टूटने लगा ॥२६९॥
सा मुहुर्मुहुर्विदधती विवृत्तानि ।
मत्स्यवधूमनुचकार सा तन्वी ॥२७०॥
ी, बार-बार छटपटाती और अपलक देखती हुई
ण्य करने लगी ॥२७ ॥
ा पुलकवती स्वेदिनी मनस्विनाम् ।
ः क्रीडति हि शठो विशिष्टमासाद्य ॥२७१॥
उसे अङ्गीभूत शरीर वाली, संस्कारी से भरी,
—
मर के वर्णन हैं—
ऽथ रोमाञ्च: स्वरभङ्गोऽथ वेपथु: ।
लय इत्यष्टौ सात्त्विका मता: ॥

रोमाञ्चयुक्त, पसीने से तर और निःश्वासयुक्त बना डाला। शठ विशेष स्थान पाकर और गर्व करने लग जाता है ॥२७१॥

उच्छ्वासैरुल्लसनं कुचयुगले सौष्ठवं विलासानाम् ।
अभिलषितेन प्रेम्णा स्निग्धत्वं चक्षुषोर्मनोहारि ॥२७२॥

उच्छ्वासों के कारण उसके स्तन उल्लसित हो उठते थे, उसके मन में एक विशेष इच्छा के उत्पन्न हो जाने के कारण उसके विलासों में अधिकतर चारुता उत्पन्न हो गई थी, प्रेम के कारण उसकी आँखों में मन हर लेने वाली स्निग्धता आ गई थी ॥२७२॥

अनुरक्तत्या वदनरुचिं वचसि च गमने साध्वसस्खलनम् ।
तस्या मदनः कुर्वन् उपनिन्ये चारुतामवधिम् ॥२७३॥

अनुराग के कारण उसके मुख की कान्ति कुछ और ही हो गई थी, वाणी और गमन दोनों में उसके भय के कारण स्खलन होने लगा, इस प्रकार कामदेव ने उसकी चारुता को सीमा तक पहुँचा दिया ॥२७३॥

पार्श्वगतेऽपि प्रेयसि कामशरासारताड्यमानापि ।
न शशाक साऽभिधातुं चित्तगतं प्रणयभङ्गतो भीता ॥२७४॥

प्रियतम के पास होने पर भी, काम के बाणों की वर्षा से ताड़ित होती हुई भी प्रणय-भंग हो जाने की आशंका से डरी हुई वह अपने चित्त की बात न कह सकी ॥२७४॥

अथ विदितचित्तवृत्तिः सत्कटाक्षं प्रियतमे समाकृष्य ।
मदनेन दह्यमानां विहसितविधुरं जगाद तामाली ॥२७५॥

तदनन्तर उसकी चित्तवृत्ति को जानकर, प्यारे में लगी आँखों वाली एवं कामाग्नि में जलती हुई उसे देखकर सखी मुस्कुराते हुए बोली ॥२७५॥

अयि हारलते संहर हरहुंकृतिदग्धदेहसंक्षोभम् ।
सद्भावजानुरक्तिर्न हि रम्या पण्यनारीणाम् ॥२७६॥

अरी हारलते, शिव जी के हुंकार से दग्ध शरीर वाले कामदेव द्वारा जनित उद्वेग को दूर हटा, क्योंकि बाजारू औरतों के लिए सद्भावजनित[1] अनुराग हितकर नहीं ॥२७६॥

१—सद्भाव अर्थात् अभिमान, यही मेरा प्रिय है दूसरा अभिप्राय

अवधीरय धनविकलं कुरु गौरवमकृशसम्पदः पुंसः ।
अस्मादृशां हि मुग्धे धनसिद्ध्यै रूपनिर्माणम् ॥२७७॥

धनहीन पुरुष को छोड़ और बहुत धन वाले पुरुष का गौरव (सम्मान) कर क्योंकि अरी बेवकूफ, हम वेश्याओं के रूप का निर्माण धन कमाने के लिए हुआ है[1] ॥२७७॥

अभिरामेऽभिनिवेशं विदधाना विविधलाभनिरपेक्षा ।
उपहस्यसे सुमध्ये विदग्धवाराङ्गनावारैः ॥२७८॥

अरी सुन्दर कटिभाग वाली, तू नाना प्रकार के लाभों की परवाह न करके केवल सुन्दर (दिखाई देने वाले) पुरुष में अभिनिवेश भी कर रही है तो चालाक वेश्याओं की जमात में तेरी खिल्ली उड़ेगी ॥२७८॥

येषांश्लाघ्यं यौवनमभिमुखतामुपगतो विधिर्येषाम् ।
फलितं येषां सुकृतैर्जीवितसुखितार्पिता येषाम् ॥२७९॥

जिनका यौवन प्रशंसनीय है, जिनका भाग्य अनुकूल हो गया है, जिनका पुण्य फलित हो चुका है और जो जीवन का आनन्द चाहने वाले हैं ॥२७९॥

अभिमान है। इससे उत्पन्न अनुरक्ति को 'आभिमानिकी अनुरक्ति' कहते हैं। वात्स्यायन के अनुसार प्रीति चार प्रकार की होती है—

अभ्यासादभिमानाच्च तथा सम्प्रत्ययादपि ।
विषयेभ्यश्च तन्त्रज्ञाः प्रीतिमाहुश्चतुर्विधाम् ॥०।?

इनमें आभिमानिकी प्रीति का लक्षण है—

'अनभ्यस्तेष्वपि पुरा कर्मस्वविषयात्मिका ।
सङ्कल्पाज्जायते प्रीतिर्या सा स्यादाभिमानिकी ॥

रूप गोस्वामी ने और भी स्पष्ट रूप से इसे समझाया है—

'अमु रम्याणि भूरीणि भार्म स्यादिदमत्र मे ।
इति यो निर्णयो धीरैरभिमानः स उच्यते ॥

प्रस्तुत में सखी ने ऐसी प्रीति करना वेश्याओं के लिए अपथ्य (हानिकर) कहा है।

1—२७७ के उत्तरार्ध और २७८ आर्या का कथ्य वैशिक जीवन का आधारभूत मूलाधार है। जैसा कि सखी ने कहा है 'हमारा रूप निर्माण धन-सिद्धि के लिए होता है' ठीक इसी प्रकार की समादृत 'उमराव जान' में भी किया है—

'ऐ बेवकूफ लौंडी कभी इस भुलावे में न आना कि कोई तुमको अपने दिल से

तेऽवश्यं स्वयमेव त्वामनुयास्यति मदनशरभिन्ना ।
नहि मधुलिहः कृशोदरि मृग्यन्ते चूतमञ्जर्या ॥२८०॥

वे अवश्य स्वयं कामदेव के बाणों से बिद्ध हो कर तेरे पीछे पड़ेंगे । हे कृश उदर वाली, आम की मञ्जरी भौरों की खोज नहीं किया करती ॥२८०॥

इति गदितवतीमालीं कामशरासारभिन्नसर्वाङ्गी ।
प्रत्यवदत्स्खलिताक्षरमूचे कृच्छ्रेण हारलता ॥२८१॥

यह कहती हुई सखी से हारलता जिसके अंग अंग काम-बाणों की वर्षा से बिंध गए थे, बड़े कष्ट से, अस्पष्ट एवं टूटती आवाज में बोली ॥२८१॥—

सखि कुरु तावद्यत्नं बहुमनसिजवेदनाप्रतीकारे ।
क्लेशीकृता विपत्त्या न भवन्त्युपदेशयोग्या हि ॥२८२॥

हे सखी, असह्य वेदना को रोकने के लिए तब तक शीघ्र यत्न करो, क्योंकि विपत्ति के मारों को उपदेश नहीं दिया करते ॥२८२॥

स्वस्वायत्तः प्रेयान्मृदुपवनः सुरभिमास उद्यानम् ।
इयती खलु सामग्री भवति हि क्षीणायुषामेव ॥२८३॥

स्वाधीन प्रिय हल्की हवा वसन्त का महीना बाग इतनी सामग्री क्षीण आयु वालों के ही होती है ॥२८३॥

मत्वा मदनाशीविषविषवेगाकुलितविग्रहामालीम् ।
समुपेत्य शशिप्रभया पौरन्दरिरभिदधे कृतप्रणतिः ॥२८४॥

जब शशिप्रभा को यह मालूम हो गया कि सखी हारलता का शरीर काम रूपी विष के वेग से आकुल हो उठा है तब आकर प्रणाम करके पुरन्दर के पुत्र सुन्दरसेन से बोली ॥२८४॥

यदि नाम धार्ष्ट्य गिरं गणिकाभावोपजनितयैसदयम् ।
तदपि कथनीयमेव स्निग्धापदि नहि निरूप्यते युक्तम् ॥२८५॥

'गणिका होने के कारण उत्पन्न जो लज्जा है यह वाणी का रोक नहीं है

जायगा । तेरा कामसा जो मुख पर जाग रहा है चार दिन के बाद ढलता फिरता नज़र आयगा । यह मुझसे इतना ज्यादा नहीं कर सकता और न हम भावक हैं ।

तथापि कहना [illegible] पड़ेगा, क्योंकि स्नेही जन की आपत्ति में युक्तायुक्त का विचार नहीं करते ॥२८५॥

एतावति संसारे परिगणिता एव ते सुजन्मानः ।
आपन्नपरित्राणे व्याकुलमनसः स्फुरन्ति ये बुद्धौ ॥२८६॥

इतने बड़े संसार में वे सुजन्मा लोग इने-गिने ही याद आ रहे हैं जिनका मन आपत्ति में पड़े हुए की रक्षा के लिए व्याकुल हो उठता है ॥२८६॥

यस्मिन्नेव मुहूर्ते यदवधि दृष्टोऽसि मे सख्या ।
तत एवारभ्य गता विधेयतां दग्धमदनस्य ॥२८७॥

जिस क्षण मेरी सखी को तुम दृष्टि-गोचर हुए हो उसी क्षण से वह मुए कामदेव के इशारे पर चलने लगी है ॥२८७॥

रोमोद्गमसंनहनं भित्त्वान्तर्विग्रहं परापतिताः ।
तस्याः मानससम्भवकोदण्डविनिर्गता इषवः ॥२८८॥

कामदेव के धनुष से निकले हुए बाण उसके रोमाञ्च के कवच को भेद कर भीतर शरीर में गड़ गये हैं ॥२८८॥

किंवा वदतु वराकी कुत्र समाश्वसितु यातु कं शरणम् ।
पीडयति भृशं यस्मान्नित्यं शुचिविलासिनो मृदुपवनः ॥२८९॥

वह बेचारी क्या बोले, कहाँ साँस ले किसकी शरण में जाय ? जिससे कि हरदम मृदु शृंगारी पवन उसे पीड़ित कर रहे हैं ॥२८९॥

वचसि गते गद्गदतामुज्झितमौनव्रतास्चिराय पिकाः ।
दृष्ट्वा व्यथयन्ति सखीं जातावसरा निरर्गलं विरुतैः ॥२९०॥

वाणी की आवाज जब गद्गद् (अव्यक्त-स्खलित) हो गई तब अवसर पाकर मस्त कोकिल मौन व्रत को छोड़ कर इस सखी को अधिक कष्ट दे रहे हैं ॥२९ ॥

स्खलिताकुलिते गमने तन्वङ्ग्या अगणितभ्रमा हंसाः ।
सुचिराल्लब्धावसराः कुर्वन्ति गतागतानि परितुष्टाः ॥२९१॥

तन्वङ्गी के स्खलित और आकुलित गति के होने पर देर के बाद अवसर पाकर हंस अधिक चाल से परितुष्ट [illegible] आना-जाना (गमनागमन) करने लगे हैं ॥२९१॥

उष्णोच्छ्वसितसमीरैर्विंद्यमानोऽपि मधुकरस्तस्याः ।
अलककुसुमं न मुञ्चति कृच्छ्रेष्वपि दुस्त्यजा विषयाः ॥२१२॥

उसकी गर्म साँस के समीर जलता हुआ भी भौंरा उसके अलक पर के फूल नहीं छोड़ रहा है, दुःख की स्थितियों में भी विषयों का त्याग कठिन होता है ॥२१२॥

नो वारयति तथा मां साम्प्रतमिति कथयतीव मधुलेहः ।
निःसहवपुषः कर्णे श्रुतिपूरकपुष्पसंगतो गुञ्जन् ॥२१३॥

निःसह शरीर वाली उस (हारलता) के कान में कनफूल पर बैठ कर गुंजार करता हुआ भौंरा मानो उससे कहता है कि पहले की भाँति अब तू मुझे वारण नहीं करती ॥२१३॥

प्रशिथिलभुजलतिकायास्तस्याः पतितस्य हेमकटकस्य ।
महीप्रापणे पृथिव्यास्तस्मिन् खलु मुक्तहस्तता हेतुः ॥२१४॥

अधिक शिथिल भुजलता वाली उसके हाथ से गिरे हुए सोने के कंगन का जो जमीन पर पड़ जाना है उसमें हेतु उसका मुक्त अर्थात् शिथिल हस्त वाली होना है (श्लेष से उसकी मुक्तहस्तता अर्थात् उदारता हेतु है) ॥२१४॥

रशनागुणेन विगलितमेकपदे तन्नितम्बसरिचयम् ।
पतनाय नियतमथवा निषेवणं गुरुकलत्रस्य ॥२१५॥

यह आश्चर्य की बात है कि उसके नितम्ब से रशना-गुण (करधनी) एकाएक गिर पड़ा, अथवा क्यों न हो ! गुरु के कलत्र (पत्नी) का सेवन (गमन) पतन का कारण होता ही है (क्योंकि रशनागुण ने गुरु अर्थात् विशाल नितम्ब के कलत्रभूत श्रोणि का सेवन किया, अर्थात् उसके साथ रहा) ॥२१५॥

अङ्गीकृत्य मनोभवमुरसि तया लालितोऽपि हतहारः ।
तापयति सखीं सत्यमन्तर्भिन्नाकुलः कुपुरुषः ॥२१६॥

इस प्रकार हृदय के समीप लग कर उसके द्वारा लालित हुआ भी मुग्धा हार कामदेव के पक्ष को अङ्गीकार कर सखी को सन्ताप कर रहा है, ठीक है अन्तर्भिन्न (गुण अथवा मन में कामदेव द्वारा विच्छेद प्राप्त पक्ष में अन्दिग्ध क्योंकि हार बिना छिद्र किए गूँथा नहीं जा सकता अतः यह भी अन्तर्भिन्न है) व्यक्ति से अन्याय ऐसा व्यवहार हो सकता है ? ॥२१६॥

वक्षसि तत्स्वेदजलं कज्जलमलिनाश्रुधारिणा मिश्रम् ।
कुचतटपतितं तस्याः प्रयागसम्भेदसलिलमनुकुरुते ॥२९७॥

उसके शरीर पर रहने से मकर और कज्जलयुक्त अश्रु से मिश्रित उसके स्तन तट पर टपका हुआ स्वेदजल प्रयाग में गंगा-यमुना के परस्पर मिश्रित जल का अनुकरण कर रहा है ॥२९७॥

पिकरुतमलयसमीरणसुमनःस्मरभृङ्गदहनपरिकलिता ।
पञ्चतपश्चरति भवत्परिरम्भणसौख्यलम्पटा बाला ॥२९८॥

तुम्हारे आलिङ्गन के सुख के प्रति आसक्त यह बाला कोकिल की कुहू, मलयानिल, पुष्प, कामदेव और भ्रमर इन पाँचों से घिरी हुई पञ्चाग्नि-तप कर रही है ॥२९८॥

न परापतति वराकी दशमीं यावन्मनोभवावस्थाम् ।
त्रायस्व सुभग तावच्छरणागतरक्षणं व्रतं महताम् ॥२९९॥

यह बेचारी जब तक अन्तिम दसवीं कामावस्था¹ (मृत्यु) तक नहीं पहुँच जाती है तब तक हे सुभग इसे बचा लो क्योंकि शरणागत-रक्षा बड़े लोगों का व्रत है ॥२९९॥

अथ तद्वचसि कृतादरमुद्भूतमनोभवं समवधाय ।
भवगीतिभीतचेता ऊचे गुणपालितः सुहृदम् ॥३००॥

इतना कह कर शशिप्रभा के चले जाने के बाद गुणपालित ने देखा कि सुन्दरसेन उसकी बात में आदर कर रहा है और उसका काम-राग उत्पन्न हो गया है तो वेश्या के साथ रहने की निन्दा से डरा हुआ वह मित्र से बोला ॥३ ॥

यद्यपि मारप्रसरो दुर्वारः प्राणिनां नवे वयसि ।
चिन्त्यं तदपि विवेकिभिरवसानं वारयोषिता प्रेम्णः ॥३०१॥

'यद्यपि प्राणियों का नई अवस्था में काम-वेग को रोक पाना कठिन होता

1—कामजनित दस अवस्थाएं—नयनप्रीति, चित्तासंग, सङ्कल्प, निद्राच्छेद, तनुता, विषयनिवृत्ति, लज्जानाश, उन्माद, मूर्च्छा एवं मृत्यु। ये शारीरिक काम दशाएं हैं। मानसिक दशाएं हैं—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकीर्तन, उद्वेग, प्रलाप, उन्मत्तता, व्याधि, जड़ता और मृत्यु।

है तथापि विचारशील जनों को धागाम धीरता के प्रेम के परिणाम के बारे में सोचना चाहिए ॥१०२॥

वारस्त्रीणां विभ्रमरागप्रेमाभिलाषमदनरुजः ।
सहस्रविलापभाजः प्रख्याताः सम्पदः सुहृदः ॥३०२॥

वेश्याओं के विभ्रम राग प्रेम, अभिलाष और कामव्यथा[1] ये सब धन सम्पत्ति के लिए कहे जाते हैं जो उसी के साथ बढ़ते-घटते रहते हैं[2] ॥३ २॥

तामिरवशात्मा कुर्वीत समागमं कथं यासाम् ।
क्षणदृष्टोऽपि प्रणयी स्वप्रणयोऽपि जनो मनोऽभूत ॥३०३॥

उनसे कोई कुलीन व्यक्ति कैसे सङ्ग कर सकता है जिनका तुरत का दृष्टि पथ में आया हुआ भी प्रेमी बन जाता है और वर्षों का गाढ़ प्रेमी भी ऐसा हो जाता है जिसे कभी देखा ही नहीं ॥१ ३॥

प्रद्युम्न प्रद्युम्नो विरूपक खलु विरूपक सततम् ।
सुभिक्ष सुभिक्षो रक्षो रूक्षस्तु गणिकानाम् ॥३०४॥

ये गणिकाएँ अधिक वैभव वाले व्यक्ति को उत्तम प्रद्युम्न अथवा दूसरा कामदेव कह कर गणना करती हैं जिसके पास धन-सम्पत्ति नहीं उसे व विरूपक

१— [illegible] में स्पष्ट रूप से इनका क्रमिक समझाया है—

प्रेमाऽभिलाषा रागश्च स्नेहः प्रेम रतिस्तथा ।
शृङ्गारश्चेति सम्भोगः सप्तावस्थः प्रकीर्तितः ॥
प्रेमा [illegible] स्पृ तस्मिन्नभिलाषकः ।
रागस्तत्सङ्गबुद्धिः स्यात् स्नेहस्तत्प्रवणक्रिया ॥
तद्वियोगासह प्रेम रतिस्तत्सह वर्तनम् ।
शृङ्गारस्तत्सम क्रीडा सम्भोगः सप्तधा क्रमः ॥

२—अर्थात् वस्तुतः उनों का मन न को पूर्व होने वाले शब्दों से अनुराग की भी वृद्धि होती है और उनकी सम्पत्ति ज्यों ज्यों घटती जाती है त्यों त्यों उनका अनुराग भी घटता जाता है। क्षेमेन्द्र लिखते हैं—

दासो दासी तावद् यावत्पुरुषस्य वित्तमस्ति वरे ।
क्षीणधनपुरुषस्तस्य पापा गर्वेण गर्वेण ॥

(समयमातृका ८/१४)।

अर्थात् विकृत रूप वाला (कुत्सित) कहती है, जो बहुत सम्पत्ति-शाली है पर उनके समक्ष स्नेहशील है और जो (धनहीन) स्नेहशील है उसे रूखा कहा करती है¹ ॥३०४॥

यासां जघनावरणं परकौतुकवृद्धये न तु त्रपया ।
उज्ज्वलवेषा रचना कामिजनाकृष्टये न तु स्थितये ॥३०५॥

वे जघन प्रदेश का आवरण कामुकों के कुतूहल बढ़ाने के निमित्त करती हैं न कि लज्जा से। शृंगार कामुक जनों के आकर्षण के निमित्त करती हैं न कि मर्यादा की भावना से ॥३०५॥

मांसरसाभ्यवहारं पुरुषाहतिपीडया न तु स्पृहया ।
आलेख्यादौ व्यसनं वैदग्ध्यख्यातये न तु विनोदाय ॥३०६॥

मांस और उसका शोरबा इसलिए खाती हैं कि पुरुषों के सम्पर्क से उत्पन्न उनके शरीर का दर्द कम हो, न कि इच्छा से। चित्र आदि कलाओं में शौक अपनी विदग्धता प्रकट करने के निमित्त रखती हैं न कि मन बहलाने के लिये ॥३०६॥

रागोऽधरे न चेतसि सरलत्वं भुजलतासु न प्रकृतौ ।
कुचभारेषुसमुन्नतिराचरणे नाभिनन्दिते सद्भिः ॥३०७॥

राग (लाली, दूसरे पक्ष में अनुराग) उनके अधर में होता है, चित्त में नहीं। सरलता (सीधापन) उनकी भुजलताओं में होती है स्वभाव में नहीं। उनके कठिन स्तनों में समुन्नति (ऊँचाई) है आचरण में नहीं जिसकी सज्जन लोग प्रशंसा करते हैं ॥३०७॥

जघनस्थलेषु गौरवमाकृष्टधनेषु नो कुलीनेषु ।
चलसत्त्वं गमनविधौ नो मानवचनाभियोगेषु ॥३०८॥

उनके जघनों में गौरव (अर्थात् भारीपन) होता है, न कि सम्मानी लोगों के प्रति, जिनका धन वे खींच चुकती हैं वे गौरव (अर्थात् समादर का भाव)

1—आचार्य क्षेमेन्द्र का कहना है—

वित्ते न वेत्ति वेश्या स्मरसदृशं कुष्ठिनं जराजीर्णम् ।
वित्तं विनाऽपि वेत्ति स्मरसदृशं कुष्ठिनं जराजीर्णम् ॥

नहीं रखतीं प्रागल्भ्य उनके चलने में है, लोगों के ठगने के कार्यों में वे प्रागल्भ्य नहीं करतीं ॥३०८॥

वर्णविशेषापेक्षा प्रसाधने नो रतिप्रयत्नेषु ।
ओष्ठे मदनासङ्गो नो पुरुषविशेषसम्भोगे ॥३०९॥

उन्हें सिंगार-पटार में लाल-पीले आदि वर्णों की अपेक्षा होती है न कि सुरत के प्रसंग में वे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण-विशेष की अपेक्षा रखती हैं मदन का उदय फिर उनके ओठ में रहता है न कि पुरुष विशेष के साथ सम्भोग के कार्य में मनोरथ होता है[1] ॥३०९॥

या बालेऽपि सरागा वृद्धेष्वपि विहितमदनावेगा ।
क्लीबेष्वपि कान्तदृशा साकांक्षा दीर्घरोगेऽपि ॥३१०॥

जो वेश्याएँ बालक के प्रति भी अनुरागवती होती हैं बूढ़ों में मदनावेग का प्रदर्शन करती हैं, नपुंसकों पर भी काम-पूर्ण दृष्टि रखती हैं और पुरातन बीमार पर भी इच्छुक रहती हैं ॥३१०॥

स्वेदाम्बुकणोपचिता न चार्द्रता निजनिवासमनसश्च ।
भाविप्रकृतवेपथवो वज्रोपलसारकठिनाश्च ॥३११॥

(रतिश्रम के कारण) वे स्वेदजल के कणों से व्याप्त रहती हैं पर उनमें रहने वाला उनका मन (या हृदय) आर्द्र नहीं होता पुरुषों को ठगने के लिये बाहर से कँपकँपी प्रकट करती हैं लेकिन गुप्त वे हीरे की भाँति कठोर होती हैं ॥३११॥

जघनघना अनाथा परभृतय कृतजनेष्वरागाश्च ।
भवा गार्पणरता असमर्पितहृदयदेशाश्च ॥३१२॥

वे जघनघना और अनाथा होती हैं (विशेष यह कि जघनघना नाम का छन्द आया है जो अनागत होता है फिर यह अनाथा हो जाता है। परिहार यह कि वेश्याएँ जघनघना अर्थात् बहुत पुरुषों को समर्पण करती हैं एवं अनाथा अर्थात् दीन सम्मान वाली होती हैं) [illegible] और [illegible]

1—मदनासङ्ग—काम सामान्य पक्ष में मोम प्रयोग। इस वाक्यों का अर्थ भी प्रकार से है जैसे (1) होंठ अथवा शीत के कारण उत्पन्न अधर पन की रक्षा का शमन करने के लिये 'मदन' अर्थात् मोम का प्रयोग, अथवा (2) उनका 'मदनोदय' अर्थात् काम उनके मुख में ही रहता है हृदय में नहीं।

रागा होती हैं (विरोध यह कि परभृता अर्थात् कोकिला स्वरूप होती हैं फिर उनके नेत्र का राग कृत्रिम कैसे होता है ? कोयल की आँखें स्वाभाविक लाल होती हैं। परिहार यह कि वेश्याएँ परभृता अर्थात् दूसरों के निमित्त जीवन वाली और नेत्र में बनावटी प्रेम धारण करने वाली होती हैं) समस्त अङ्ग अर्पित करने में चतुर और हृदय को न समर्पित करने वाली होती हैं (विरोध यह कि जब सभी अंग समर्पित कर देती हैं तब हृदय भी कैसे नहीं समर्पित करतीं ? परिहार यह कि सभी अङ्ग समर्पित करके भी दिल नहीं देतीं अनासक्त रहती हैं)॥३१२॥

न कुलसमुत्पन्ना अपि भुजंगदशनक्षतवेदनाभिज्ञाः ।
कंदर्पदीपिका अपि रहिताः स्नेहप्रसङ्गेन ॥३१३॥

नकुलों में समुत्पन्न होकर भी भुजगों के दाँतों की पीड़ा से परिचित होती हैं (विरोध यह है कि नकुलों अर्थात् नेवलों के वंश में उत्पन्न होकर भी भुजंगों अर्थात् सर्पों के दाँतों के आघातों की पीड़ा से अपरिचित कैसे हो सकती हैं ? नेवले और साँप लड़ते समय एक-दूसरे पर दन्ताघात करते हैं, परिहार यह कि वेश्याएँ कुलों में उत्पन्न नहीं होतीं उनकी जाति हीन होती है और भुजङ्गों अर्थात् विटों के दाँतों के द्वारा क्षत होने पर उनकी वेदना से परिचित होती हैं), कामदेव की दीपिका और स्नेह के सम्बन्ध से रहित होती हैं (जब कि दीपिका है तो स्नेह अर्थात् तेल के सम्बन्ध से रहित कैसे होती हैं ? परिहार यह कि कामदेव को उद्दीपित करने वाली और स्नेह अर्थात् अनुराग से रहित होती हैं) ॥३१३॥

उज्झितवृषयोगा अपि रतिसमये नरविशेषनिरपेक्षाः ।
कृष्णैकाभिरता अपि हिरण्यकशिपुप्रिया सततम् ॥३१४॥

वृष-योग को छोड़ बैठी हैं और पुरुष-विशेष की उन्हें अपेक्षा नहीं होती (विरोध यह कि जब कामशास्त्रोक्त वृष-लक्षण युक्त पुरुष को त्याग देती हैं फिर विशेष पुरुष की अपेक्षा से रहित कैसे होती हैं ? परिहार यह कि वृष अर्थात् धर्म के योग से रहित होती हैं और उन्हें इस बात की अपेक्षा नहीं होती कि पुरुष किसी विशेष प्रकार का हो बल्कि सब प्रकार के पुरुषों के साथ रमण करती हैं), कृष्ण में एकान्त अनुरक्त और निरन्तर हिरण्य-कशिपुप्रिया होती हैं (विरोध यह कि जो कृष्ण में अनुराग करती हैं उन्हें कृष्ण का शत्रु हिरण्यकशिपु कैसे प्रिय हो सकता है ? परिहार यह कि कृष्ण अर्थात् कालिमा स्व

पास में एकमात्र अनुरक्त रहती हैं और हिरण्य अर्थात् सुवर्ण और पशिपु अर्थात् अन्न-वस्त्र इनके प्रिय पदार्थ हैं) ॥३१४॥

मेरुमहीधरभुव इव किंपुरुषसहस्रसेवितनितम्बा ।
नीतय इव भूमिभृतां सुपरिहृतानर्थसंयोगा ॥३१५॥

मेरुपर्वत के नितम्ब के समान उनके नितम्ब हजारों किम्पुरुषों (एक प्रकार की देवयोनि, पक्ष में कुत्सित पुरुषों) द्वारा सेवित हैं राजनीति में जिस प्रकार अनर्थ का संयोग (अर्थात् नाश अथवा अकोत्पत्ति की उपलब्धि) का परिहार होता है उसी प्रकार वेश्याओं में अनर्थ संयोग (अर्थात् अर्थ या धन के संयोग से रहित (= धनहीन) का परिहार कर देती हैं ॥३१५॥

बहुमित्रकरजदारणलब्धाभ्युदया सरोरुहिण्य इव ।
डाकिन्य इव च रक्ताकर्षणकौशलोपेता ॥३१६॥

कमलिनियों के समान वे बहुमित्र कर द्वारा विदारण से अभ्युदय लाभ करती हैं (कमलिनियाँ मित्र अर्थात् सूर्य के बहुत से करों, किरणों द्वारा विदारण अर्थात् प्रफुल्ल करने से अभ्युदय लाभ करती हैं, विकसित होती हैं और वेश्याएँ बहुत से मित्र बने लोगों के करों, हाथों द्वारा विदारण से अभ्युदय अर्थात् धन-सम्पत्ति लाभ करती हैं। डाकिनियों के समान रक्त (पक्ष में अनुरक्त जनों) को खींच लेने का कौशल उन्हें मालूम होता है ॥३१६॥

प्रतिपुरुषं संनिहिता कृत्यपरा विविधविकरणोपेता ।
बहुलार्थग्राहिण्य प्रकृतय इव दुर्ग्रहा गणिका ॥३१७॥

गणिकाएँ प्रत्येक पुरुष का सन्निधान प्राप्त करके कृत्यपरा विविध विकारयुक्ता और बहुल अर्थग्राहिणी होकर प्रकृति के समान दुर्ग्रहा होती हैं[१] ॥३१७॥

१—इस श्लोक में पुरुष कृत्य विकरण अर्थ प्रकृति और दुर्ग्रह इतने शब्द प्रायः चार अर्थ रखते हैं फलतः मूल में यह आर्या सर्वथानुपपन्नप्राय सी कही गई है। पहले प्रत्येक के चार चार अर्थों को समझ लेना आवश्यक है—

पुरुष—(१) व्याकरण का प्रथम मध्यम और उत्तम पुरुष; (२) इस शरीर में रहने वाला अर्थात् आत्मा; (३) जीवात्मा; (४) प्रजा में रहने वाला पुरुष।

कृत्य—(१) तव्यादि प्रत्यय; (२) मूल व ज्ञानोत्पादक महदादि कार्य; (३) भिन्न-भिन्न करणीय कार्य; (४) राजा राज्यांगी का कर्तव्य।

सादरमाकृष्य चिरं कुसुमस्तबकं च नरविशेषं च ।
रिक्तीकर्तुं निपुणा क्षुद्रा क्षुद्राश्च चुम्बन्ति ॥३१८॥

क्षुद्राएँ (अर्थात् मधुमक्खियाँ) जिस प्रकार फूल के गुच्छे का देर तक मधुपान करते हुए उसी में सटी (चुम्बनासक्त) रहती हैं, उसी प्रकार क्षुद्राएँ

विकरण या विकार—(१) रूप रचना आदि के योग में आ जाने वाले अनेक विकार होते हैं, (२) सांख्य शास्त्रोक्त सोलह प्रकार के विकार, (३) क्रोध लोभादि, (४) विविध उपकरण ।

नय—(१) शब्द का वाच्य, (२) द्रव्यत्व और परिमाणमित्व विशिष्ट पदार्थ, (३) धन संपदि सौभाग्य, (४) अपने राज्य की रक्षा और परराज्य की क्षेत्र आदि राजनीति अथवा राजक्रम ।

प्रकृति—(१) व्याकरण की प्रकृति शब्द और धातु, (२) सत्त्व रज तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था जगत् का मूल कारण (३) जीवात्मा का स्वभाव, (४) स्वामी मन्त्री सहाय धन देश दुर्ग और सैन्य ये सात प्रकार के राज्यांग ।

पुरुष—(१) 'कर' इस उपमान का जो ग्रहण करता है, (२) प्राणायाम के द्वारा जो कष्ट से मालूम किया जाता है, (३) कष्ट से जो नियमित किया जाय (४) अपराजय ।

इस प्रकार सम्पूर्ण श्लोक के चार शब्दार्थ निकलते हैं—

(१) व्याकरण की प्रकृतियाँ प्रथम मध्यम उत्तम पुरुषों के साथ रह कृत्य आदि प्रत्यय के लगने पर नाना प्रकार के वृद्धि आदि विकारों से उपचित हो विविध रूपों में व्यक्त हैं और 'कर' इस उपमान को भी ग्रहण करती है ।

(२) त्रिगुणात्मक प्रकृति पुरुष अथवा आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करके सुख दुःख मोह रूप सम्पूर्ण पदार्थों का निर्माण करती हुई विविध विकारों को प्राप्त होती है द्रव्यत्व और परिमाणमित्व-विशिष्ट बहुत से पदार्थ ग्रहण करती है आत्मज्ञान के बिना उनका स्वरूप ज्ञात नहीं होता ।

(३) प्रकृतियाँ अर्थात् स्वभाव प्रत्येक पुरुष के अलग-अलग होते हैं सब अपना-अपना करणीय कार्य करते हैं काम क्रोध लोभ आदि विविध विकार उनमें होते हैं नाना प्रकार के सौभाग्य-लाभ की आकांक्षा करते हैं उन्हें नियमित करना अत्यन्त कठिन है ।

(४) राजनीति के स्वामी मन्त्री सहाय प्रभृति प्रकृति प्रजा व्यक्तियों (व्यक्तों) के साथ सन्निधान प्राप्त कर भिन्न-भिन्न कार्य करके विविध प्रकार से वृद्धि प्राप्त हो अपने राज्य की रक्षा आदि रूप सर्व सम्पन्न शासन करके, अथवा बहुत राजतन्त्र (सैन्य) द्वारा शत्रुओं का पराजय हो जाता है ।

(वेश्याएँ) कामुक जनों को आदरपूर्वक अपनी ओर आकर्षित करके, जब तक वह बिलकुल रिक्त नहीं हो जाता तब तक चुम्बनादि करती रहती हैं ॥३१८॥

परमार्थकठोरा अपि विषयगतं लोहकं मनुष्यं च ।
चुम्बकपाषाणशिला रूपाजीवाश्चकर्षन्ति ॥३१९॥

चारचुम्बक पत्थर की शिलाएँ जिस प्रकार वस्तुतः कठोर होकर भी अपने सामने के लोहे को खींच लेती हैं उसी प्रकार वस्तुतः कठोर स्वभाव वाली रूपाजीवाएँ (रूप का पेशा करने वाली वेश्याएँ) अपने गोचर हुए पुरुष को अपनी ओर खींच लिया करती हैं ॥३१९॥

पुरुषाक्रांता सततं कृत्रिमशृंगाररागरमणीया ।
आहन्यमानजघना करेणवो वारयोषाश्च ॥३२०॥

जिस प्रकार हथिनियों पर हमेशा पुरुष आरूढ़ रहते हैं, बनावटी सिंगार पटार और लाली से वे खूबसूरत दिखाई देती हैं और उनके जघन देश पर महावत प्रहार करता है उसी प्रकार वेश्याएँ भी हमेशा पुरुषों से आक्रान्त रहती हैं, निरन्तर बनावटी सिंगार-पटार और प्रेम के कारण रमणीय प्रतीत होती हैं तथा सदा उनके जघन पर (कामुक जन) प्रहार करते रहते हैं ॥३२०॥

उचितगुणोत्क्षिप्ता अपि पुरतोऽपि निवेशिते सुवर्णलवे ।
झगिति पतंति मुखेन प्रकटप्रमदा यथा च तुला ॥३२१॥

जिस प्रकार तुलाएँ (तराजू) बटी हुई सूत (गुण) के जरिये उठाई जाने पर भी रत्ती भर सोना आगे डाल देने पर झट से आगे की ओर गिर जाती हैं—झुक जाती हैं उसी प्रकार प्रकट प्रमदाएँ (प्रकट औरतें अर्थात् वेश्याएँ) योग्य गुणों के द्वारा महत्व प्राप्त होकर भी थोड़ा सोना उनके आगे रख देने पर झट मुँह की ओर से झुक जाती हैं ॥३२१॥

बहिरुपपादितशोभा अन्तस्तुच्छा स्वभावतः कठिना ।
वेश्या समुद्गिका इव क्वणन्ति यंत्रप्रयोगेण ॥३२२॥

जिस प्रकार डिब्बियाँ बाहर से रत्न-जटित के निर्मित होते हैं और भीतर से खोखले होते हैं तथा स्वभावतः कठोर होते हैं और जब वे ऐंठन हैं तब बजने लगते हैं उसी प्रकार वेश्याएँ बाहरी तड़क-भड़क रखती हैं भीतर उनके कुछ नहीं रहता, स्वभावतः कड़ा मिजाज रखती हैं और तरीके से व्यवहार करने पर अनुकूल बोलने लगती हैं ॥३२२॥

यस्त्रतियेऽनुरागं देवहृतास्मासु वारवनितासु ।
ते निस्सरंति नियतं पाणिद्वयमग्रतः कृत्वा ॥३२३॥

जो अभागे उन पाजारू औरतों में प्रेम रखते हैं वे निश्चय ही दोनों हाथ आगे की ओर पसारे (अर्थात् भिखमंगे बन कर) निकलते हैं ॥३२३॥

इदमुपदिशति वयस्ये सुन्दरसेने च मन्मथव्यथिते ।
प्रस्तावादुपयातं गीतित्रयमभ्यधायि केनापि ॥३२४॥

इस प्रकार मित्र गुणपालित सुन्दरसेन के काम पीड़ित होने की हालत में जब उपदेश दे रहा था तभी किसी ने प्रसंग से तीन गीति नामक छन्दों का गान किया ॥३२४॥

तरुणीं रमणीयाकृतिमुपनीतां स्मरसुता वशीकृत्य ।
परिहरति यो जडात्मा प्रथमोऽसौ नालिको विना भ्रान्तिम् ॥३२५॥

'कामदेव द्वारा अधीन करके लाई हुई, रमणीय आकृति वाली युवती का जो जड़ आदमी त्याग देता है वह बिना सन्देह पहला अभागा है ॥३२५॥

इदमेव हि जन्मफलं जीवितफलमेतदेव यत्पुंसाम् ।
सदृशनितम्बवतीजनसम्भोगसुखेन याति तारुण्यम् ॥३२६॥

यही तो जन्म लेने का फल है और यही तो जीवित रहने का लाभ है जो पुरुषों का यौवन सुन्दर नितम्बिनियों के साथ सम्भोग के आनन्द में व्यतीत होता है ॥३२६॥

सुमनोमार्गणदहनज्वालावलिदह्यमानसर्वाङ्ग्यः ।
प्रसभप्रेमप्रवणाः प्रमदाः स्पृहयन्ति नाल्पपुण्येभ्यः ॥३२७॥

कामाग्नि की ज्वाला में जिनका अंग-अंग जल रहा है ऐसी प्रेमावेग से भरी हुई नवलियाँ जिनका पुण्य थोड़ा होता है उन्हें नहीं चाहती ॥३२७॥

१—'पुरुषपरीक्षा' का यह श्लोक प्रासंगिक है—
सौंदर्यवल्लीव विलासविद्या सारस्यसम्पद्घमनोहरश्रीः ।
सभागतेयं विजनेऽभिलाषादुपस्थिते येन विपत्तयेन ॥४३॥

एवमुपश्रुत्य वचः समुवाच पुरंदरात्मजः सुहृदम् ।
मम हृदयादिव कृत्वा गीतमिदं साधुनाऽनेन ॥३२८॥

यह सुनकर सुन्दरसेन मित्र से बोला—'अरे दिल से निकाल कर ही इस भले मानुस ने यह गीत गाया है ॥३२८॥

तदहनुसायकविकलां हारलतां हरिणशावसरलाक्षीम् ।
आश्वासयितुं यामो गुणपालित किं विकल्पितैर्बहुभिः ३२९॥

हो गुणपालित! काम के बाणों से पीड़ित, मृगशिशु की भाँति सरल आँखों वाली हारलता को दिलासा देने के लिये हम चलें इन बहुत प्रकार के ऊहापोहों से क्या काम ?'[1] ॥३२९॥

अथ तत्र कापि गणिका गणयंती परिचितं भुजङ्गविषम् ।
प्रविशन्तमेव मन्दिरमीर्ष्याव्याजेन निरुरोध ॥३३०॥

तत्पश्चात् वहाँ (जाकर देखा कि) किसी वेश्या ने किसी गुंडे एक जाने परिचित पुरुष को, जब कि वह घर में प्रवेश कर ही रहा था, ईर्ष्या का बहाना करके (कि तुमसे पहले आया हुआ आदमी तुम्हें देखकर डाह करेगा) रोक लिया ॥३३०॥

काचिद्बंधकदत्तं पुंश्चलीकृतजीर्णवसनमवलोक्य ।
वेश्या विषीदति स्म क्षपाक्षये वृत्तकर्तव्या ॥३३१॥

कोई वेश्या किसी रात के द्वारा (गहनों जैसा) लपेट कर रखे हुए पुराने कपड़े को देखकर रात बीत जाने पर अपना सारा किया-कराया व्यर्थ जान विषाद करने लगी ॥३३१॥

दैवस्मरस्या पतितं दृष्टिपथे भग्नमूल्यविटमेका ।
ज्वलिता रुषा भुजिष्या जग्राह जवेन धावित्वा ॥३३२॥

पुरानी किसी से कमाई का पैसा उड़ा कर भागा हुआ विट अभी ही दिखाई पड़ा क्रोध से तमतमाई वेश्या ने भाग के दौड़ कर उसे पकड़ लिया ॥३३२॥

१—'सुन्दरसेनस्याप्युक्ति' का यह श्लोक मिलता है—
परिरम्भकेलिपरिहासभाषणम् रागात्ततोऽपि न परो रमति यः ।
॥ वपुमनाऽपि मनुते यदि स्वयमहमत्र तत्तुल्यपुण्यगारमम् ॥१६५॥

अन्तर्स्थितकामिगृहद्वारगतं सुसवित्तनरमन्या ।
समुवाच कुट्टनी व्रज कल्लोलाकल्पकेहेति ॥३३३॥

दूसरी कोई कुट्टनी समस्त धन वाले पुरुष का द्वार पर पहुँचा देख कर जब कि उसके घर में कोई कामुक पहले से आ ठहरा था कह रही थी— सिर शरीर पर सिर्फ सहरिवाधार मक्ष कपड़ा¹ भर है चलता बन। ॥३३३॥

प्रकटितदशननखक्षतिरभिदधती राजपुत्ररतियुद्धम् ।
अपरा पुरः सलीना वारवधूनामतान सौभाग्यम् ॥३३४॥

दूसरी ओर वेश्या अपने शरीर के दन्तक्षतों और नखक्षतों को दिखा-दिखा कर अपने साथ हुए राजपुत्र के रतियुद्ध को कहती हुई साथ वालियों के सामने अपना सौभाग्य प्रकट कर रही थी ॥३३४॥

अन्या कामिस्पर्धाविवर्धितभाटी समरसुका चण्डी ।
सौभाग्यगर्वदर्पं समुवाह विलासिनीमध्ये ॥३३५॥

दूसरी कामना वेश्या, जब कामुकों की परस्पर स्पर्धा कर पढ़ने से उसकी कीमत¹ बढ़ गई तब औरों के सामने सौभाग्य की शेखी बघारने लगी ॥३३५॥

एकगणिकानुबन्धे क्रोधोपसशस्त्रकामिनो कापि ।
सम्भ्रमतो धावित्वा निवारयामास कुट्टनी कलहम् ॥३३६॥

एक ही गणिका के लाभ के लिए क्रोध से शस्त्र उठा कर प्रहार करने के लिए तैयार दो कामुकों के कलह को कुट्टनी ने जल्दी से दौड़ कर रोका ॥३३६॥

धनमाहृत्य बहुभ्यो भुज्यत एकेन केनचिरसाधम ।
इति धनवन्तं कामिनमावर्जयति स्म वारवधूः ॥३३७॥

बहुतों से धन इकट्ठा करके किसी एक नागरिक के साथ उसका भोग किया जाता है यह कह कर किसी वेश्या ने धनवान् कामुक को वशीभूत किया ॥३३७॥

१—कल्लोलाकल्पकेहे—अर्थात् तर शरीर पर कुछ भी वस्त्र भूषा है नहीं सिर्फ एक सफेद कपड़ा मात्र है ऐसी स्थिति में वेश्या के घर क्या करेगा ? यदि 'कल्लोल' और 'कल्पकेहे' को सम्बोधन मानते हैं तब 'कल्लोल' का अर्थ होगा शत्रु और 'कल्पकेहे' का अर्थ होगा अनमस्य शरीर वाला अर्थात् नग्न मनुष्य।

२—भाटी अर्थात् कीमत मूल्य धन। इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग मनु आदि के वैदिक कालों में भी प्रचलित है।

गायन् गाथामात्रं द्विपथकमथ सौष्ठवेन विट एकः ।
बभ्राम पुरोऽस्या विदधद्विकृतीरनेकविधाः ॥३३८॥

एक विट द्विपथिका[1] के रूप में मानिक गाथा को सुन्दर ढंग से गाता और विविध प्रकार की चेष्टाएं करता हुआ वेश्या के सामने चक्कर लगाने लगा[2] ॥३३८॥

कश्चित्पण्यस्त्रीणां विभवोपचितान्यपुरुषयोजनया ।
विदधाति स्माराधनमधनत्वमुपागतः कामी ॥३३९॥

दरिद्रता को प्राप्त कोई कामी विभव शाली किसी दूसरे पुरुष को बाजारू औरतों के फन्दे में डाल कर मज़ा मारने लगा ॥३३९॥

त्वयि सक्तेन मया गृहमुज्झितमधुना परेव जातासि ।
इति ढौकमलभमानः कश्चिद्गणिकामुपालेभे ॥३४०॥

'तेरे प्रेम में पड़ कर मैंने घर छोड़ा और तू आज दूसरी-सी हो गई है' इस प्रकार किसी ने गणिका से कुछ न पाते हुए उसे उलाहना दिया ॥३४०॥

उपचितामापरेण समं धूर्तविटानां पुरः पराजित्य ।
पूजयति स्म भुजंगः कश्चिद्गणिकां द्विगुणमाद्या ॥३४१॥

किसी कामी ने पैसा लेकर दूसरे के साथ आई हुई किसी गणिका को धूर्त विटों के सामने पराजित करके उससे दुगुना पैसा वसूल किया[3] ॥३४१॥

1—द्विपदिका—

'शुद्धा खण्डा च मात्रा च सम्पूर्णेति चतुर्विधा ।
द्विपदीम्प्रथमारभ्य तालेन परिगीयते ॥'

2—बूढ़े धन वाले फिर उस गणिका को आकृष्ट करने के लिए ऐसा ही प्रयत्न करते हैं। जैसा कि आचार्य क्षेमेन्द्र लिखते हैं—

मलिततनियतबहुविभवाः परविभवापणदीपिताः पश्चात् ।
भ्रमिरा धनमायेशस्तुतिमुखरमुखा विटाश्चरन्त्याः ॥

3—यहाँ प्राचीन वैश जीवन की एक प्राय पद्धति की ओर संकेत है। अपने प्रति अन्याय देखकर कोई भी 'विटमण्डप' में पहुँच कर 'विटमण्डलों' (धूर्त विटों) की बटोर करता था और उनकी सभा में अपने प्रति हुए अन्याय का फैसला कर लेता था। 'पादताडितक' में उस बटोर को 'वेश्यासमाज' कहा गया है। यहाँ भी कुछ ऐसी ही घटना का उल्लेख है।

दृष्टा त्वया विशेषक वलयकलापी शशिप्रभाभुजयो: ।
बाढं भण भण कीदृक् भास्वरा सा मया दत्ता ॥३४२॥

[उन्होंने इस प्रकार विटजनों की बातें सुनीं]

विशेषक, तूने शशिप्रभा के हाथों में वलयकलापी[1] देखी, बता बता कैसी है ! उसे मैंने दिया है ॥३४२॥

अद्य चतुर्थो दिवसस्त्रीनाम्बरयुगलकस्य दत्तस्य ।
तदपि परुषा विलासा वद मदनक किं करोम्यत्र ॥३४३॥

मदनक, आज चार दिन हुए कि मैंने (उसे) दो चीन के रेशमी कपड़े दिए थे, फिर भी वह कड़ी बातें किए जा रही है, तू ही बता अब मैं क्या करूँ ! ॥३४३॥

स्नेहपरा मयि केली कलहंसक किंतु राक्षसी तस्या: ।
माता नारमोकर्तुं वर्षशतेनापि शक्यते पापा ॥३४४॥

कलहंसक केली मुझे प्यार करती है, किन्तु राक्षसी पापिन उसकी माँ सौ वर्षों तक प्रयत्न करने पर भी अनुकूल नहीं की जा सकती[2] ॥३४४॥

सुमन: कुंकुमवास: सज्जीकुरु किमिति तिष्ठसि विचिंत: ।
अद्य तव दयितिकाया: किंजल्कक नर्तनावसर: ॥३४५॥

किंजल्कक, आज तेरी चहेती (दयितिका) के नाचने का दिन है, फूल और कुंकुम से रंगे कपड़े को सजा, क्यों लापरवाह बैठा है ! ॥३४५॥

१—एक प्रकार का बाजूबन्द जातीय अलंकार। मयूराकार भूषण (जिसका मुख मयूर का बना हुआ और शेषभाग कमलकोशित पुष्प की चित्रकारी से युक्त)। इस प्रकार के बाहुभूषण के सम्बन्ध में भरत ने नाट्यशास्त्र में लिखा है—

शङ्खकलापी कर्कं तथा स्यात् पद्मनूपुरम् ।
सयूरसोपितिके बाहुनानाविभूषणम् ॥

तनसुखराम का कहना है कि निश्चय ही 'वलयकलापी' 'बाहुकलापी' है क्योंकि 'वलय' बाहु में पहने जाते थे।

२—यहाँ फिर इस्या पैसे का लालच करने वाली गणिका की माता पर व्यंग्य दुर्गुण है जो व्याजीवन के लिए अत्यन्त स्वाभाविक है। अगर गणिकाओं की माँ न हो तो वे फिर उन्हें चौपट कर डालें। ... का कहना है कि वर्षा के मारे दीन गृह में व फिर घुसकर उस प्रकार बाहर नहीं निकलता जिस प्रकार जाड़े के दिनों में घूघरे में सोया सियार अर्थात् बाहर नहीं निकलता।

यदि नाम पंच दिवसांस्त्वयि कुरुते प्रेम धनलवं दृष्ट्वा ।
तदपि न रागवती सा कन्दर्पक किं वृथा गर्वं ॥३४६॥

कन्दर्पक, यदि किसी तरह थोड़ा सा धन देख कर वह पाँच दिनों तक तुझे प्यार कर ले तब भी वह तुझे प्यार नहीं करती, व्यर्थ क्यों गर्व कर रहा है[1] ॥३४६॥

जीवन्नेव विलासक परिहर दूरेण मूढ हरिसेनाम् ।
वडवावेशस्तस्यां व्यापृतपुत्रो महाविषमं ॥३४७॥

अरे विलासक, मूढ कहीं का ! जीते जी दूर ही से हरिसेना को छोड़, क्योंकि व्याघ्र का लड़का उसमें फँस गया है जिसे तू किसी प्रकार मात नहीं दे सकता ॥३४७॥

केसरया क्षणवत्त्व कृत्वांशुकमुपरि कामिजालस्य ।
स्तब्धग्रीवं भ्रमतश्चन्द्रोदय परम माहात्म्यम् ॥३४८॥

चन्द्रोदय केसर के उत्सव के अवसर पर उपहार में जो अंशुक दिया था उसे कन्धे पर रख कर गर्दन उठा कर घूमते हुए कामिजाल का माहात्म्य देख ॥३४८॥ ।

कौमारकं विहन्तु रतिसमये मदनसेनाया ।
इच्छामि किंतु तस्या मात्रातीव प्रसारितं वदनम् ॥३४९॥

मैं चाहता हूँ कि रतिसमागम के अवसर पर मदनसेना का कौमारक हरण करूँ, किन्तु उसकी माँ ने ही बहुत मुँह फैला रखा है[2] ॥३४९॥ ।

1—इस प्रसंग का यह पद्य उद्धरणीय है—

वेश्यालताः सरागं पूर्वं तदनु प्रदर्शितमनुरागम् ।
पश्चादपगतरागं पल्लवमिव दर्शयन्ति निजचरितम् ॥

2—यहाँ वेश्या जीवन में प्राचीन काल में चल रहा एक रस्म, रस्म की ओर संकेत है। रतिसमागम के अवसर पर मदनसेना के कौमारक अर्थात् कौमार्य का हरण करना (उसे पूर्ण करना) और उसकी माँ का मुँह फैलाना (अर्थात् पैसा ज्यादा मांगना) दोनों क्रियाएँ बहुत पहले से थी। इस रस्म को उन दिनों 'कौमारक' कहते थे। आज के जमाने की वेश्या जीवन में 'मिस्सी' या नथ उतारने की रस्म कहते हैं। वेश्या का रोजगार आरम्भ होने के पूर्व की अवस्था

विभ्रम किम्यतस्तपसः फलमेतद्यदुपभुज्यते मदिरा।
स्वकरेण पीतशेषा मदघूर्णितमदनसेनया दत्ता ॥३५०॥

विभ्रम तूने कितना तप किया है जो यह फल भोग रहा है कि पीकर मस्त मदनसेना ने पीने से बची मदिरा को अपने हाथ से तुझे अर्पित किया।॥३५०॥

कुवलयमालानिलयो लीलोदय किमिति सम्प्रति त्यक्तः।
किं विदधामस्तस्मिन्प्राप्तदास्या विना मूल्यम् ॥३५१॥

लीलोदय अब तूने कुवलयमाला का घर क्यों छोड़ दिया ?—'क्या करूँ भाई ! पैसे के बिना दासी रख के क्या होगा ?' ॥३५१॥

मुषिताशेषविभूतेरिन्दीवरकस्य यामिनी याति।
संवाहयतः सम्प्रति मंजारक तिलकमंजरीचरणौ ॥३५२॥

मंजारक ! इन्दीवरक का सारा ऐश्वर्य छिन गया। उसकी रात इन दिनों तिलकमंजरी के चरण दाबते गुजरती है ॥३५२॥

'दारिका' या 'नायिका दारिका' की दासी है। इस अवस्था में उसने कोई ऐसी सजावट नहीं कर सकता था। 'कामशास्त्र' ने 'दारिका' को सम्बन्धी अवस्था में [illegible] है। [illegible] का [illegible] बाद में [illegible] देन पर [illegible] की जाती थी। इस प्रकार उस व्यक्ति को आसमान के [illegible] ही जाता थी। प्रस्तुत में [illegible] के [illegible] के द्वारा जो [illegible] प्रकट की तब उसकी [illegible] किया [illegible] पैसे की [illegible] के पैसे में [illegible] ही गया।

१—प्राचीन काल में गोष्ठी में या मद्यपान की प्रथा थी जिसमें नायक और नायिका दोनों मिलकर मधुपान करते थे। [illegible] जीवन में मधुपान एक अनिवार्य अंग था। वेश्या के हाथ से उच्छिष्ट मधु के पान की सूचना द्वारा [illegible] अनुराग व्यक्त किया है। फारसी या उर्दू के शायरों में [illegible] या साकी के हाथों से शराब पीने के लिए सभी [illegible] रहता है। गालिब कहते हैं—

पिला दे ओक से साकी जो हमसे नफ़रत है।
पियाला गर नहीं देता न दे शराब तो दे॥

अद्यापि बालभावं निखिलं न जहाति बालिका तदपि ।
प्रौढिम्ना मकरध्वज सकला ललना अधः कुरुते ॥३५३॥

[इन्होंने कुट्टनी, विट, दासी और गणिका प्रभृति की बातें चलते-चलते सुनीं]

(किसी बूढ़ी वेश्या ने अपनी लड़की के सम्बन्ध में कामुक से कहा—) 'मन्मथ! आज भी बालिका का पूरा बचपना नहीं गया फिर भी अपनी प्रौढ़ाई से समस्त ललनाओं को नीचे करती है' ॥३५३॥

कुब्जे गत्वा पश्यसि तं नित्यचित्तनर्तनाचार्यम् ।
दारा सुकुमारतनुः किमिति श्रममद्य कारिता भवता ॥३५४॥

(किसी वेश्यामाता का दासी के प्रति वचन) 'कुब्जे, जाकर नित्य उस नृत्याचार्य (नृत्य के उस्ताद) से कहना कि दारा अभी सुकुमार शरीर है, आज आपने इतनी मेहनत क्यों कराई' ॥३५४॥

निःसारयेऽभिनिवेशं शुकशावकपाठने सुरतवेदि ।
तिष्ठति बहिरुपविष्टः प्रतीक्षमाणस्तव प्रेयान् ॥३५५॥

(वेश्या के प्रति माता का वचन) 'सुरतवेदि, सुग्गे के बच्चे को पढ़ाने में यह लगन बेकार है, तेरा चहेता बाहर बैठा इन्तजार कर रहा है' ॥३५५॥

वीणावादनखिन्ना पतितास्ते वासभवनपर्यङ्के ।
उत्थापय तां त्वरितं स्मरलीलां भर्त आयात ॥३५६॥

(चेटी के प्रति माता का वचन) 'वीणा बजा के थकी स्मरलीला वास-भवन के पलंग पर पड़ी है उसे शीघ्र उठा भर्त्ता आया है' ॥३५६॥

किमिदं यथास्थितत्वं तव मापति यन्मुहुर्वदन्त्या मे ।
परिधत्से नाभरणं श्रीविग्रहराजसूनुना दत्तम् ॥३५७॥

(वेश्या के प्रति माता का वचन) 'मापति यह क्या तेरा टीमटाम कि मैं बार बार कहती हूँ और तू विग्रहराज के लड़के का दिया गहना नहीं पहनती' ॥३५७॥

ईदृक्शून्यमनस्त्व किं कुर्मो मातरिन्दुलेखाया ।
पानक्रीडासक्तया पतितापि न चेतिता कनकनाडी ॥३५८॥

(कामुक को सुनाते हुए चेटी का वेश्यामाता के प्रति कथन) 'अम्मा हम क्या करें ? इन्दुलेखा इस तरह लापरवाह हो गई है कि उसने पानक्रीडा में गिरी कनक की सरनी को भी नहीं जाना' ॥३५८॥

नकुलः पयो न पायित इति रोषवशादियं हि दुःशीला ।
नाश्नाति कामसेना पुनः पुनर्याच्यमानापि ॥३५९॥

(वेश्या माता के प्रति कामुक को सुनाते हुए चेटी का वचन) नवले को दूध नहीं पिलाया, बस इतने से ही रुष्ट हो जाने के कारण यह शील कामसेना बार-बार मनावन करने पर भी नहीं खाती' ॥३५९॥

श्रीवलसुतपरिपालित उरणांयु किल मया विजेतव्य ।
मुकुला मुक्तसुखास्थितिरह्निशं मेषपोषणे लग्ना ॥३६०॥

(कामुक नायक को सुनाते हुए वेश्यामाता की उक्ति)
'क्या करूं ! श्रीवल के पुत्र के पाले हुए मेढे को पछाड़ने के लिए मुकुला सुख भोग परित्याग करके दिनरात मेढ़ा को तैयार करने में लगी रहती है' ॥३६० ॥

मातामतां समुपगतमुच्छूनं च करतलं तव ललिते ।
मा पुनरतिचिरमेवं प्रविधास्यसि कन्दुकक्रीडाम् ॥३६१॥

(वेश्यामाता की भावी के प्रति उक्ति) 'ललिता, तेरा हाथ लाल हो गया और सूज गया है, तू फिर देर तक इस तरह गेंद न खेलना' ॥३६१॥

अभिराम कनकमाटी प्रथममियं गृह्यते समुत्पन्ने ।
स्नेहे तु कुसुमदेव्यास्त्वं प्रभवसि जीवितस्यापि ॥३६२॥

(प्रथमागत कामुक के प्रति वेश्यामाता की उक्ति) 'अभिराम, पहले-पहल सोने की मिट्टी (रम) लिया करते हैं बाद में जब कुसुमदेवी का प्यार हो जायगा तब तो उसके जीवन पर भी तुम्हारा अधिकार होगा' ॥३६२॥

वेश्यामाता बहाना करती है कि तत्काल उसकी पत्नी के पास किसी से मुलाकात का समय नहीं है। वात्स्यायन क्षेमेन्द्र के अनुसार यह आवश्यक है कि वेश्या को तत्काल अपनी अक्षमता व्यक्त कर देनी चाहिए क्योंकि लोग स्वभावतः सुलभ वस्तु के प्रति उपेक्षा का भाव रखते हैं—

'प्रथमं प्रार्थिता यस्या न गच्छन्त्यर्थिनां गृहम् ।
मनस्यावेशमायाति हि सुलभामयथा रतः ॥ समयमातृका ५।१८ ।

ग्रहणकमर्पय तावद्यदि कौतुकमुपरि चन्द्रलेखायाः ।
निर्वर्तितकर्तव्यो दास्यसि किंचिद्यथाभिमतम् ॥३६३॥

(वेश्या माता की नवागत कामुक के प्रति उक्ति) 'यदि तुम्हें चन्द्रलेखा के ऊपर कुतूहल है तो बख्शीश (ग्रहणक) निकालो, जब काम हो जायगा तब जो चाहे दे देना' ॥३६३॥

न परमदाता मातः सूनुरसौ वासुदेवभट्टस्य ।
निर्लज्जः शठवृत्तिः पुनः पुनर्वार्यमाणोऽपि ॥३६४॥
क्षपयति वसनानि सदा हठेन सकलानि सुरतसेनायाः ।
न ददात्येकामूर्णामुरणः परमत्ति कर्पासम् ॥३६५॥

(माता के प्रति चेटी द्वारा कामुक की शठता का प्रकाशन) 'माता जी, यह वासुदेव का लड़का बख्शीश देने वाला नहीं है और बार-बार मना करने पर भी शठता करके वेश्या सुरत-सेना के सारे कपड़ों को हठपूर्वक हमेशा नष्ट कर देता है। मेढ़ा एक तो ऊन का अंश भी नहीं देता दूसरे कपास के बीज को चबा जाता है' ॥३६४-३६५॥

भगिनि न मुञ्चति वेश्म क्षणमपि मेषपटराजपुत्रोऽसौ ।
मग्नान्यतरावसरो नग्नेनाधिष्ठितं यथा तीर्थम् ॥३६६॥

(गणिका द्वारा दूसरी से कामुक के शाठ्य का निरूपण) 'बहिन, यह मेषपटराज का लड़का क्षण भर भी घर नहीं छोड़ता, इसमें दूसरों को मौका नहीं मिलता। नंगे को जैसे तीरथ मिल गया है' ॥३६६॥

इत्थंप्राया वाचः शृण्वन्विटकुट्टनीसमुदीर्णाः ।
स वेशसंनिवेशं पश्यन् प्रविवेश वारिकावेश्म ॥३६७॥

प्रायः इसी तरह विटों और कुट्टनियों की बातें सुनता और वेश्याओं के मुहल्ले की बनावट देखता हुआ वह जौनी (हारलता) के घर में प्रविष्ट हुआ ॥३६७॥

१—नग्नेनाधिष्ठितं यथा तीर्थम्—यह लोकोक्ति है। नंगे को तीरथ मिल गया है। अर्थ यह है कि नंगा रहने वाले साधु जब तीर्थ के किसी स्थान पर टिक जाते हैं तब वह स्थान है फिर उस स्थान को नहीं छोड़ते। उसी प्रकार यह कामुक भी घर में बैठा रहता है।

आकृष्टमिवोत्कण्ठया स्नपितमिव स्निग्धचक्षुषः प्रसरैः ।
समुपागतमभ्यर्णं हारलता पूजयामास ॥३६८॥

उत्कण्ठा से खिंचे हुए की भाँति स्नेह-भरे दृष्टिपातों से नहाये हुए की भाँति पहुँचे उस सुन्दरसेन का हारलता ने सत्कार किया ॥३६८॥

सुनिहितसमुचितसंस्थितिरचनशिरसा प्रणम्य तत्सख्या ।
इदमभिदधेऽतिनम्रं सुन्दरसेनः शुभावसरे ॥३६९॥

सुन्दर सेन समुचित आसन पर बैठा, तब हारलता की सखी शुभ अवसर देख उसे प्रणाम करके विनय पूर्वक उससे बोली ॥३६९॥

प्रियदर्शन किं बहुभिः स्मरपीडितदीनवचनसन्दर्भैः ।
इयमास्ते हारलता जीवनमस्यास्त्वदायत्तम् ॥३७०॥

प्रियदर्शन कामपीड़ित (हारलता की) दीनता भरी बहुत बातों से क्या लाभ ! यह हारलता है और इसका जीवन तुम्हारे अधीन है ॥३७०॥

निर्यन्त्रकेलिविशदं सहजप्रेमानुबन्धरमणीयम् ।
कार्यान्तरान्तरायैरपरिहृतं यातु यौवनं युवयोः ॥३७१॥

तुम दोनों का जीवन प्रतिबन्ध-रहित क्रीड़ा विलासों द्वारा विशद, सहज प्रेम[1] के निगूढ़ बन्धन द्वारा रमणीय और अन्य कार्यों के विघ्नों से रहित बीते ॥३७१॥ ।

निर्यममविरतबाधं व्यस्तत्रपमव्यवस्थितावरणम् ।
उपचीयमानरागं सततं भूयाद्भवत्सुरतम् ॥३७२॥

नियम रहित (जिसमें मर्यादा न बरती जाय) इच्छा का नियमन न दे लज्जा को दूर कर, आवरण को हटा, उत्तरोत्तर बढ़ते हुए अनुराग[2] के

१—सहज प्रेम अर्थात् नैसर्गिकी प्रीति ।

'दम्पत्योः सहजा तु या ।
साध्वी निगडभूता च प्रीतिर्नैसर्गिकी मता"

(अनङ्गरङ्ग [illegible] ६)

२—अनुराग का विरुद्ध-अविरुद्ध अनेक अवस्था में उत्तरोत्तर बढ़ते रहना उसकी खास विशेषता है। 'रसार्णवसुधाकर' के अनुसार जब दुःख भी सुख रूप में ही जिस स्नेह के कारण अनुभूत होता है तब राग की स्थिति आती है—

मदिरा, निरन्तर[1] तुम्हारा सुरत होता रहे ॥३७२॥ ।

इति दत्त्वाशिषमन्तर्निर्गति परिजने सदस्त्रेषु ।
विस्रम्भविस्रब्धरसो ववृधे कुसुमायुधः सुतराम् ॥३७३॥

यह आशीर्वाद दे, परिजन के भीतर चले जाने पर उनके बाद प्रसंग में प्रणय द्वारा परिपुष्ट मदनरस कामदेव बढ़ गया ॥३७३॥ ।

यदमन्दमपपोषितमनुरूपं यत्नथानुरागस्य ।
यद्यौवनाभिरामं यच्च फलं जीवितव्यस्य ॥३७४॥

अविनय एव विभूषणमसभ्याचरणमेव बहुमानः ।
निःशङ्कतैव सौख्यमनवस्थितिरेव गौरवाधानम् ॥३७५॥

केशग्रहणमनुग्रह उपकारस्ताडनं मुदे दंशः ।
नखविलिखनमभ्युदयो दृढदेहनिपीडनं समुत्कर्षः ॥३७६॥

निगरणलोलं चुम्बनमवयवनिष्पेषणस्पृहो मर्दः ।
अंतःप्रवेशनेच्छा निर्भरपरिरम्भणं यस्मिन् ॥३७७॥

जो[2] सुरत मन्दमयन काम के उपयुक्त तथा ही अनुराग के अनुरूप यौवन के

'पुरामप्यधिकं चित्तं कुसुम्भेनैव रज्यते ।
यत्र स्नेहप्रकर्षेण स राग इति कथ्यते ॥'

प्रत्येक अवस्था में उपचीयमान होने वाले राग को मांजिष्ठ राग कहा है—

''अचिरेणैव सततं विपदादपि न नश्यति ।
अतीव शोभते योऽसौ माञ्जिष्ठो राग उच्यते ॥''

१—सुरत की निरन्तरता—अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से द्विविध सुरत का हमेशा जारी रहना। बाह्य सुरत के प्रकार आलिंगन आस्फालन चुम्बन आदि अनेक भेद हैं और आभ्यन्तर सुरत उत्तानक आदि भेद से वर्गित है।

२—यहाँ से कवि ने हारलता और सुन्दरसेन का सुरत-वर्णन आरम्भ किया है। इसे उस अंश में अश्लीलता का विरह नहीं कहा जा सकता कि गणिका होने के कारण मुग्धा होकर भी हारलता कामशास्त्र में कामतन्त्र के सिद्धान्तों से पूर्ण परिचित हो चुकी है और सुन्दरसेन भी कामतन्त्र में निपुण है।

कारण प्रशिराम[1] और जीवित रहने का फल है जिसमें प्रविनय[2] ही विभूषण है मसृणीन व्यवहार ही गौरव है निर्भीक हो जाना ही भद्रता है और एक जगह न टिकना (अस्थिर हो जाना) ही गौरव देने वाला है, बाल पकड़ना[3] अनुग्रह है ताडन[4] उपकार है, दांत से काट लेना प्रणयना के लिए होता है अंगों से दबोचना अभ्युदय है, कस कर शरीर को दबाना सम्पन्न है, और जिसमें अति मस्तक और सम्पूर्ण चुम्बन[5] है आंखों को कस कर दबाते हुए निरपेक्ष भाव से मसलना[6] है और अन्य प्रवेश इच्छा से कस कर आलिङ्गन है ॥१७४ १७७॥

१—यह स्थिति उत्तम जीवन के अवसर के सर्वथा अनुकूल ही है जैसा कि कहा है—

> सान्दर्यं प्रीति सम्यग्विरचसखेगोऽस्य भावनम् ।
> मकोरमनुरागाय किमु मन नमुण्यम् ॥

२—१७६ और १७७ श्लोकों को प्राप्त बहुत अंश में मदपभ्रिंश के इस श्लोक में मिल गई है—

> मद्दूर मुखविनय मनुष्टितम्यां मधिन्यं मदनमापि मदत्ताजन्मम् ।
> मद्दापपान्मदयं मदमुकन्नम तपद्वसूप सुरतेषु गुणो न दोषः ॥

३—केशग्रहण—नायिका को इसीमें लगाने के लिए नायक उसके बालों को पकड़ता है आकर्षण करता है। कामशास्त्र के अनुसार सम्भोगकाल में प्रशस्त केशों को चुम्बन के अवसर में मन्द तथा शिथिलक पकड़ना चाहिए। यदि नायक प्रियतमा के बालों को अपने दोनों हाथों से पकड़ कर चुम्बन करता है ऐसी स्थिति में वह कच-ग्रहण 'समहस्तक' कहलाता है। यदि एक ही हाथ से पकड़ता है तब 'तरङ्गरङ्गक' कहलाता है। जब आमर्श प्रिय बालों को हाथों में लपेट कर पकड़ता है तब वह 'भुजंगवलित' कहलाता है। कानों के पास वाले बालों को पकड़ कर जब परस्पर चुम्बन होता है तब वह कचग्रह 'कामावतंस' इस नाम से अभिहित होता है।

४—ताडन—कराघात इसका प्रयोग जिसमें। नायिका की पीठ पर का ताडन 'मुष्टि' मस्तक पर करतल हाथ द्वारा ताडन 'प्रसृतक' स्तनान्तर में अथवा स्तन पर ताडन 'अपहस्तक' और पार्श्व वा जघन में ताडन 'समतल' कहलाता है।

५—'रागलनोष्ठ चुम्बनम्' अर्थात् जिस चुम्बन में जिह्वा अधर का भक्षण करती है। जिह्वायुद्ध नामक चुम्बनयुद्ध में मध्यमुख चुम्बन स्तनचुम्बन जिह्वाचुम्बन और तालुचुम्बन ये चार प्रकार के चुम्बन कहे गए हैं।

६—नायिका के दर्द बढ़ कुच निमज्य पर्श्वे निमादर और अपने प्रकृति को नायक विशेष भाव से मर्दन करता है।

७—इस प्रकार का आलिङ्गन 'क्षीरनीरक' कहलाता है। जिसमें रागान्धतापूर्ण

मदनक्रैरिव विहितं रागैरिव दीप्तिमत्वमुपनीतम् ।
प्रेमभिरिव निश्चलितं शृंगारैरिव विकासमानीतम् ॥३७८॥

जो मानो कई कामों द्वारा सम्पादित है, अनेक रागों द्वारा उद्दीपित है, बहुत प्रेमों से निश्चल बनाया गया है और नाना विधि शृङ्गारों द्वारा विकसित है[1] ॥१७८॥

अप्रागल्भ्यं व्यसनं धैर्यमकार्यं विवेक उपघातः ।
श्लेषणमगुणो यस्मिन् तत्सुरतं प्रस्तुतं ताभ्याम् ॥३७९॥

जिसमें प्रगल्भ न होना नाशक है, धैर्य अकार्य है, विवेक अयोग्यता सम्पादक है और लजाना अगुण है उसे दोनों ने आरम्भ किया ॥१७९॥

प्रारंभ एव तावत्प्रज्वलितो धगिति मनसिजो यस्मिन् ।
तस्य विशेषावस्था वक्तुमशक्या प्रवृद्धस्य ॥३८०॥

जिस सुरत में प्रारम्भ ही में कामाग्नि धक् धक् करके प्रज्वलित हो उठा फिर उसके बहुत बढ़ जाने पर उसकी विशेष अवस्था का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥१८०॥

सहजरसेन जडीकृतमिति यूनः कामशास्त्रनिर्णीतौ ।
नानाकरणग्रामे साक्षित्वमवाप पाण्डित्यम् ॥३८१॥

इस प्रकार सहज शृङ्गार रस के द्वारा कुण्ठित कर दिया गया उन तरुण तरुणी का पाण्डित्य कामशास्त्र में वर्णित नाना प्रकार के करण-समूह में[2] साक्षित्व को प्राप्त हुआ ॥१८१॥।

आलिङ्गन के अवसर में यह बिलकुल ज्ञात नहीं होता कि दूसरे का अंग भङ्ग होता या नहीं बल्कि दोनों तत्काल एक दूसरे में प्रवेश कर जाना, दूध और पानी की भाँति मिल जाना चाहते हैं।

१—आशय यह कि एक अनंग इस प्रकार के सुरत का सम्पादन में सम नहीं हो सकता। इसी प्रकार राग प्रेम और शृंगार आदि में बहुवचन-प्रयोग को संगतार्थ समझना चाहिए। उपर्युक्त कथन से कवि ने अनंग को सुरत का सम्पादक, राग को वर्धक, प्रेम को स्थैर्यकारक एवं शृंगार को सुरत के गुणों का सम्पादक माना है।

२—नानाकरणग्राम—अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर रत। आलिंगन चुम्बन नखच्छेद, दन्तच्छेद संवेशन सीत्कृत पुरुषायित और औपरिष्टक इन प्रत्येक में आठ भेद से ६४ अंग अथवा रतिबन्ध के ८४ भेदों की ओर संकेत है। प्रधानतः

अविधेयमनास्थेयं अविषयं छादनीयमविषह्यम् ।
न बभूव तयोस्तस्मिन्नारब्धे सुरतपरिमर्दे ॥३८२॥

जब उन दोनों का यह सुरत का सम्मर्दन आरम्भ हुआ कि तत्काल कुछ भी अकरणीय, अकथनीय, अविचारणीय, गोपनीय और असहनीय नहीं रहा ॥३८२॥

अभ्यस्ता या सन्ध्या सुरतविधौ विविधचाटुपरिपाटी ।
तामामूलविशीर्णां चकार सहसा स्मरावेगः ॥३८३॥

जो पहले नाना प्रकार की चाटुक्तियों की परम्परा उन्हें अभ्यस्त थी उसे सुरत के प्रारम्भमें कामसंरम्भ ने छिन्न-भिन्न कर डाला ॥३८३॥

सद्भावरागदीपितमदनाचार्योपदिष्टचेष्टानाम् ।
कः परिगणनं कर्तुं रतिचक्राविष्टरमणयोः शक्तः ॥३८४॥

सद्भाव और प्रेम के कारण उद्दीपित मदनाचार्य द्वारा उपदिष्ट चेष्टाओं की, कौन है जो रमण और रमणी के रति-चक्र में आविष्ट[1] हो जाने पर गणना कर सकता है ? ॥३८४॥

बाला मृदुगात्रलता दृढपुरुषाक्रान्तविग्रहा न परम् ।
न व्यथिता मुदमाप प्रभवति खलु विषमबाणशक्तिः ॥३८५॥

सुकुमार अंग लतिका वाली बाला दृढ पुरुष से आक्रान्त होने पर केवल व्यथित ही न हुई अपितु प्रसन्न भी हुई, यह कामदेव की शक्ति का प्रभाव है ॥३८५॥

किं रमणो रमणीमविशदुत रमणी रमणमिति न जानीमः ।
स्वाधमवाधमगमत्स्व प्रकाशमगमत्तयोस्तदा निपुणम् ॥३८६॥

क्या रमणी ने रमण में प्रवेश किया या रमण ने रमणी में, हम नहीं जानते,

---

रतिबन्ध ६ भागों में विभक्त हैं—उत्तान, पार्श्व, आसित, स्थावर, स्थित और पुरुषायित । इनमें प्रत्येक के विभाग करके ८४ बन्ध कामशास्त्र में प्रसिद्ध हैं ।

१—रतिचक्राविष्ट-रतिचक्र अर्थात् सुरतप्रवृत्त उसमें लिप्त पड़े । वात्स्यायन कहते हैं ।

शास्त्राणां विषयस्तावद् यावन्मन्दरसा नराः ।
रतिचक्रप्रवृत्तस्य नास्ति शास्त्रं न च क्रमः ॥

का० सू० २।२

पर उससमय तो बिलकुल उन्हें अपने अंगों का ज्ञान लुप्त हो गया ॥३८६॥

तस्या निमीलितदृशो निःस्पन्दतनोर्विमूढ सुरतान्ते ।
निष्क्रमनकृच्छ्रछाया जीवितसत्तानुमानस्य ॥३८७॥

सुरत के समाप्त होने पर उसकी आँखें मुँद गई और शरीर अचल हो गया (मालूम होता था कि वह मर गई, पर) उसके शरीर में एक प्रकार की काम-कान्ति व्याप्त थी, जिसके कारण उसके जीवित रहने का अनुमान हुआ ॥३८७॥

श्रमजलबिन्दूपचिता वृत्तस्मरयुद्धेन जातवैलक्ष्या ।
सा शुशुभे रतिविरतौ पर्याकुलकेशभूषणा नितराम् ॥३८८॥

विपरीत रति के परिश्रम के कारण उसके शरीर में पसीने के जल की बूँदें भर आईं, उसके बाल और गहने अस्त-व्यस्त हो गए हैं एवं निज काम स्मरण करके नितान्त लज्जित वह सुन्दर दिखने लगी ॥३८८॥

निर्व्याजार्पितवपुषोर्निवृत्तिसमयमेव गणयतोर्विरतम् ।
क्षणदा विरराम तयोरक्षीणाकांक्षयोरेवम् ॥३८९॥

निश्छल भाव से परस्पर शरीर समर्पित करने वाले उन दोनों को प्रतीत हुआ कि सवार सुरतमय ही है, इस प्रकार उनकी आकांक्षा अभी पूरी ही न हुई कि रात बीत गई ॥३८९॥

मोहनविमर्दखिन्ना विजृम्भमाणा स्खलद्गतिर्मन्दम् ।
निद्राकषायिताक्षी हारलता वासवेश्मनो निरगात् ॥३९०॥

तब सुरत के मर्दन से खिन्न नींद (के अभाव में) लाल आँखों वाली जम्हाई लेती हुई हारलता धीरे-धीरे वास भवन से निकल गई (३९०)।

"परिचितपार्श्वगताहं तेन समं पानभोजनं कृत्वा ।
नीता निशा मयाभिर्मोहनकाम्य च यत्किंचित् ॥३९१॥

[प्रभात में सुन्दरसेन के घर में घूमते हुए गणिकाओं की परस्पर इस प्रकार की बातें सुनीं]

(सुन्दरसेन नायक के साथ रात्रि में प्रसंग की हुई गणिका की उक्ति) 'मैं उस परिचित के पास रही, उसके साथ खान-पान करके कहानी-किस्सों में रात गुजारी सुरत काम तो नाम मात्र हुआ ॥३९१॥

अविदग्धः श्रमकठिनो दुर्लभयोषिद्युवा जडो विप्रः ।
अपमृत्युरुपक्रान्तः कामिव्याजेन मे रात्रौ ॥३९२॥

(अरसज्ञ और चिरकाल कामुक के कारण अरुच रत में असन्तुष्ट गणिका की उक्ति) 'बिलकुल बुद्धू, श्रम करने से कठोर, जिसे स्त्री दुर्लभ थी जवान और मूर्ख एक विप्र आज रात कामुक के व्याज से मेरी मृत्यु के रूप में आ पहुँचा ॥१९२॥)।

नेच्छाविरतिः क्षणमपि न च शक्तिर्वस्तुशून्यरतियत्ने ।
केवलमस्म्याहं कदर्थिता वृद्धपुरुषेण ॥३९३॥

(रत शक्ति शून्य वृद्ध पुरुष के समागम से खिन्न गणिका की उक्ति) 'आज मुझे एक बूढ़े ने बिना वस्तु के रति कार्यों के कारण केवल बहुत पीड़ित किया क्योंकि क्षण भर भी उसकी इच्छा तो कम न होती थी और वह शक्ति सम्पन्न भी न था ॥१९३॥)

मद्यवशादभिमोक्तरि मृतकल्पे तल्पभागमग्नायाः ।
अनिरोधितनिद्राया सुखेन मे यामिनी याता ॥३९४॥

(रतान्त में मद्यपान करके निश्चेष्ट हो कामुक के पड़ जाने से अनावाधित एवं सुख से सोई गणिका की उक्ति) 'मेरी रात बड़े सुख से गुजरी, क्योंकि रता नियोग करने वाला वह पीकर मरा जैसा हो गया इसलिए पलंग पर पड़ी मुझे नींद बिना बाधा के आई' ॥१९४॥)

सुकुमारसम्प्रयोगः पेशलवचनः सनर्मपरिहासः ।
एकान्तवशेन समेतो मम सखि रमणो मनोहराकारः ॥३९५॥

(उत्तम नायक को पाकर हर्षित गणिका की उक्ति) सखी, मेरा रमण सुकुमारता से काम लेता था मधुर बातें करता था हँसी-मजाक भी पच से करता था साथ ही समझ और रूपाने में सुन्दर था, ॥१९५॥ ।

पर्यङ्कान्तनिलीनः पराङ्मुखो मुक्तमन्दनिःश्वासः ।
सम्भोद्यमया नितरां निःस्पन्दः स्वेदसलिलसंसिक्तः ॥३९६॥

(किसी गँवार ग्रामीण कामुक के साथ रात बिताने वाली परिहासरसी गणिका की उक्ति) 'सखि आज एक बिना किसी काम का गँवार आदमी आया, जो मेरे पलंग के बीच पड़ गया मुँह फेर लिया, धीरे-धीरे साँस छोड़ने लगा, जब मैंने सम्भोग के लिए प्रेरित किया तो वह निश्चेष्ट ही रहा' ॥१९६॥

पर्यस्तमितानंगोऽप्यपगतनिद्रः क्षपाक्षयाकांक्षी ।
ग्रामोपितः प्रहीणो निष्प्रतिपत्तिः स्थितोऽद्य सखि मनुजः ॥३९७॥

उसका अनंग बिलकुल अस्त मिल ही रहा उसे नींद हराम हो गई, किसी तरह वह रात गम्य करना चाहता था, मैंने उसे छोड़ दिया ॥१९७॥

शृणु सखि कौतुकमेकं ग्रामीणककामिना यदद्य कृतम् ।
सुरतरसमीलिताक्षी मृतेति भीतेन मुक्तास्मि ॥३९८॥

(किसी ग्रामीण कामुक की मूर्खता से कुतूहल अनुभव करके गणिका की उक्ति) 'सखी, एक कौतुक सुन गंवार कामुक ने आज जो किया, मेरी आँखें जब सुरत के आनन्द से मुंद गई तब उसने समझा कि मर गई और डर के मारे मुझे छोड़ दिया ॥१९८॥

अविदितदेशप्रकृतेः शठात्मकाद् विदग्धतोऽस्माभिः ।
अनुभूतो राजसुतादभिमानविडम्बनाक्लेशः ॥३९९॥

(विरक्त गणिका की उक्ति) 'हमने तो राजा के लड़के से स्त्रियों के तिरस्कार का कष्ट अनुभव किया क्योंकि वह इस देश की चाल बिलकुल नहीं जानता था, धूर्त एवं गर्वीला था ॥१९९॥।

प्रियसखि लोकसमक्षं नगरप्रभुणा हठेन नीतास्मि ।
एवं वंचकदातुर्द्विगुणार्थप्रार्थने कृतोऽन्यायः ॥४००॥

(लोकापवाद से अपमानित गणिका की उक्ति) 'प्रिय-सखी नगर-प्रमुख मुझे बलपूर्वक लोगों के सामने ले गया। इस तरह तो कभी ज्यादा धन के पाने से न्याय नहीं किया जाता' ॥४० ॥।

आदर्शयन्ती जघनं व्रजसि यथा विलिखिता नखैस्त्वरया ।
मन्ये त्वयोपभुक्ता केरलि कनापि दाक्षिणात्येन ॥४०१॥

'केरली, जो तू आगे आए (कामुक के) नखों की खरोंचें पाये हुए, अपने जघन को प्रेम दिखाने लिए जा रही है तो मुझे लगता है कि किसी दक्षिण देश वासी ने तेरा उपभोग किया है' ॥४ १॥।

अधरे बिन्दुः कण्ठे मणिमाला स्तनयुगे शशप्लुतकम् ।
तव सूचयन्ति केतकि कुसुमायुधशास्त्रपण्डितं रमणम् ॥"४०२॥

"केतकी! तेरे अधर में बिन्दु,[1] कण्ठ में मणिमाला,[2] और स्तनों में शशप्लुतक[3] नाम के घाव यह सूचना दे रहे हैं कि तेरा रमण कामशास्त्र का पण्डित रहा होगा ॥४०२॥

इति शृण्वन्नुषसि गिरो निशि सनिशाभियोगगणिकानाम् ।
सोऽपि यथाक्रियमाणं प्रविधातुं निर्जगाम कर्तव्यम् ॥४०३॥

प्रभात काल में निशाभियोग[4] से छुटकारा पाने वाली गणिकाओं की बातें सुनता हुआ वह (सुन्दरसेन) भी प्रातःकालीन काम के लिए बाहर निकल गया ॥४०३॥

सुरचितरागोपचितिस्वीकृतमनसस्तया समं तस्य ।
यौवनसुखमनुभवतो जगाम संवत्सरः सार्धः ॥४०४॥

इस प्रकार अपने सुन्दर प्रेम की वृद्धि के कारण तथा उसके (हारलता के) द्वारा मन अंगीकृत हो जाने के कारण सुन्दरसेन ने यौवन सुख का अनुभव करते हुए डेढ़ वर्ष व्यतीत किया ॥४०४॥

स्निग्धकथाः शृण्वन्विचरन्नुद्यानवेदिकापृष्ठे ।
सहचरकरसक्तकरः सुन्दरसेनः किल कदाचित् ॥४०५॥

कभी जब सुन्दरसेन स्नेह की बात करता साथी (गुणपालित) के हाथ से हाथ मिला कर घूमता, उद्यान की वेदी पर बैठ गया ॥४०५॥

१—बिन्दु—अधर को पकड़ कर उसके बीच अगले दो चार दाँतों से किया गया व्रण 'बिन्दु' कहलाता है।

२—मणिमाला—कंठ में माला पहनी जाती है अतः वहाँ अधरों से दाँतों द्वारा चुम्बन करने पर एक प्रकार का मालाकार व्रणचिह्न उभर आता है इसी की कामशास्त्रीय संज्ञा 'मणिमाला' है।

३—शशप्लुतक—पाँचों नखों की नखपंक्ति के स्तनों पर जगह-जगह पड़ी खरोंच की संज्ञा।

४—निशाभियोग—यह प्राचीन वेश-जीवन का रात्रिकालीन [illegible] के अर्थ में प्रचलित पारिभाषिक शब्द है।

स्थूलघनतन्तुसंततितानितनानास्वरावरणम् ।
यष्टिप्रान्तनियन्त्रितदलयन्त्रकम्बुतपत्तुम्बिकफटिनम् ॥४०६॥

त्रुटितचरणत्रसंगतसंस्फुटिताभ्यस्तपादमलिनतनुम् ।
स्वगितगतिमेखवाहकमारादायान्तमद्राक्षीत् ॥४०७॥

तभी उसने देखा कि लेखवाहक (चिट्ठी पहुँचाने वाला) शीघ्र गति से चल कर दूर से आ रहा है। उसने मोटे और घने डोरे से बुनी गई चार ओढ़नी ओढ़ रखी थी उसने लाठी के अग्रभाग में ताड़ का पत्ता लेख रखने की कुप्पी, तुम्बी और फेन (या पत्नी) बाँध रखा था उसके पैरों में टूटे जूते पड़े हुए थे इसलिए ठोकर लगने से उसके पैरों पर धूल भर गई थी और उसका शरीर भी गन्दा हो गया था ॥४०६-४०७॥

प्रत्यासन्नीभूतं क्रमेण पौरन्दरिः परिज्ञाय ।
साकूतमना ऊचे वयस्य हनुमानयं प्राप्तः ॥४०८॥

जब वह क्रम से नजदीक आ गया तब उसे पहचान कर पुरन्दर के लड़के सुन्दरसेन ने उसके आने का अभिप्राय जान लिया और कहा—'मित्र, यह हनुमान आ गया' ॥४०८॥

अवनितललीनशिरसा कृतनतिना तेन विनिहितं भूमौ ।
उत्क्षिप्य झटिति लेखं सुन्दरसेनस्तु वाचयामास ॥४०९॥

जमीन पर माथा टेक कर उसने प्रणाम किया और लेख को रख दिया, तब झट से उठा कर सुन्दरसेन ने पढ़ा ॥४०९॥

"स्वस्ति श्रीकुसुमपुरात्पुरंदरः सुन्दरं समभिधत्ते ।
मन्तर्जृम्भितशोकग्रस्तोऽपि स्पष्टवर्णपदम् ॥४१०॥

'स्वस्ति कुसुमपुर से पुरन्दर (अपने बेटे) सुन्दर से भीतर-भीतर बढ़े शोक से ग्रस्त और स्पष्ट भाषा में कहता है ॥४१०॥

कुलमपत्रपं न गणितमवधारितमग्रज मनो चरितम् ।
नापेक्षितमवगीतं शठसेवितवर्त्मनि त्वया पतता ॥४११॥

शठों से सेवित मार्ग में गिरते हुए तुमने अपने कलङ्क-रहित कुल की परवाह न की, अग्रजों के चरित्र को ध्यान में नहीं लाया और निन्दा का भी ख्याल नहीं किया ॥४११॥

ऋजुकुटिलगतीनां द्विजिह्वताघोपरहितचरितानाम् ।
अपरविनाशरतानामुत्पन्न कथमसि भुजङ्ग ॥४१२॥

सीधी चाल चलने वालों, दुमिया होने (दो मुँह वाली बात करने) के दोष से मुक्त चरित्र वालों और दूसरों का विनाश न करने वालों के वश में तू भुजङ्ग (लम्पट, पक्ष में सर्प) कैसे जन्मा? (क्योंकि सर्प तो कुटिल चाल चलते हैं, उनकी दो जीभें होती हैं और दूसरों के विनाश में लग होते हैं) ॥४१२॥

क्व पुरोडाशपवित्रितवेदपदोद्गारगर्भवदनं ते ।
क्व च मदिरासववासितवारवधूमुखरसास्वादः ॥४१३॥

कहाँ यज्ञ के बाद 'पुरोडाश' के भोजन से पवित्र हुआ और वेद के मंत्रों का उच्चारण करने वाला तेरा मुख और कहाँ मदिरा-रस की गन्ध से युक्त बाजारू औरत के मुख का रसास्वाद ॥४१३॥

क्व कुशविपाटनजन्मा सहसोदितवदनाचमस्कारः ।
क्व च दासीरतसंगरनिर्दयनखरक्षतिः प्रीत्यै ॥४१४॥

कहाँ कुश उखाड़ने से हुई सहसा वेदना से चौंकना और कहाँ दासी के साथ रतियुद्ध में क्रूर नखों की खरोंच के मजे ॥४१४॥

क्व च त्रेतानलधूमक्षोभितनयनाम्बुधौतवक्त्रत्वम् ।
क्व च गणिकानिर्भर्त्सनशोकभरायातबाष्पसलिलौघः ॥४१५॥

कहाँ तीनों (गार्ह पत्य, आहवनीय और दक्षिण) अग्नियों के धुएं से व्याकुल आँखों के आँसू से मुँह का धुल जाना और कहाँ वेश्या की फटकार के शोक से उत्पन्न आँसू ॥४१५॥

क्व वषट्कारध्वानः षट्कर्मविभूषणं श्रवणपूरः ।
क्व च साधारणवनितारतिमणितापयनोत्सुक्यम् ॥४१६॥

कहाँ ब्राह्मणों के अध्ययनादि षट्कर्मों का भूषण श्रवणपूर (कानों को आप्यायित करने वाला) वषट्कार का घोष और कहाँ वेश्या की रति की आवाज सुनने की उत्सुकता ॥४१६॥

क्वाचार्यप्रसनुसलोलाखण्डनसंक्षोभसम्भवः कम्पः ।
क्व च कुपितवारललनानिष्ठुरपादप्रहारविपहिलम् ॥४१७॥

कहाँ आचार्य द्वारा चलनी छड़ी से पीटने से उत्पन्न कम्प और कहाँ कुपित वेश्या की निष्ठुर पाद प्रहार का सहना ॥४१७॥

क्व हरिणचर्मावरणं स्मृतिशास्त्रनिवेदितं व्रतं चरतः ।
क्व च पण्यस्त्रीगात्रस्पृष्टाम्बरधारणेषु बहुमानः ॥४१८॥

कहाँ स्मृतिशास्त्र के बताए नियम का आचरण करते हुए मृगचर्म ओढ़ना और कहाँ गरीब की औरत के अंग से छुए कपड़े पहनने में गौरव ॥४१८॥

समिधामेवच्छेदनमभ्यस्तं शैशवात्समारभ्य ।
शाठ्यनिशाचरखण्डन उत्पन्नं कौशलं कुतो भवतः ॥४१९॥

तुमने तो बचपन से लेकर समिधाओं के काटने का अभ्यास किया था, पर बदमाश चोरों पे प्रहार करने की कला तुम्हें कैसे मालूम हुई। ॥४१९॥

शुश्रूषणमेव गुरोः परिशीलितमचलचेतसा सततम् ।
कुटिलमतयो भुजिष्या कथं त्वयाराधिता निपुणम् ॥४२०॥

तुमने हमेशा शुद्ध चित्त से गुरु की सेवा की, फिर कैसे तुमने टेढ़ी बुद्धि वाली दासियों की अधिक आराधना की। ॥४२ ॥

आम्नायपाठ एव स्फुटस्वरपदसौष्ठवं तव स्यातम् ।
प्रकुपितवेश्यानुनये क्व शिक्षितं वचनचातुर्यम् ॥४२१॥

वेद पाठ में ही तुम्हारे स्पष्ट पदोच्चारण का सौष्ठव प्रसिद्ध हुआ, फिर गुस्सैल वेश्या के मनाने में तुमने वचन चातुर्य कहाँ सीखा ॥४२१॥

अथवा किं विस्मयोऽस्मिन्नमलद्विजकुलेऽपि लब्धजन्मानः ।
सदसत्सुता भवन्ति प्रागुपचितकर्मदोषेण ॥४२२॥

अथवा कहें क्या! पूर्व जन्म के बुरे कर्म के दोष से ही इस निर्मल कुल में जन्मे अच्छे लोगों द्वारा निन्दित हो रहे हैं ॥४२२॥

त्वयि विनिवेश्य कुटुम्बं परलोकहितार्थमेकनिष्ठितात्मा ।
स्थास्यामीति समीहितमनुदिवसं तद्विसंवदितम् ॥४२३॥

जो कि प्रतिदिन मैं चाहा करता था कि तुम पर परिवार को छोड़ कर परलोक के कल्याण का यत्न करूँगा, वह सब भी उलटा हो गया ॥४२३॥

इत्यवगततल्लेखार्थे सुन्दरसेने विषादपरिमूढे ।
आर्यामगायदन्यः स्वावसरे गीतिपरिसरखिन्नाम् ॥४२४॥

लेख का अभिप्राय समझ कर सुन्दरसेन जब विषादमूढ़ हो गया तब किसी दूसरे ने गीति छन्द में अपने प्रसंग में आर्या को गाकर पढ़ा। ॥४२४॥

'विषयतिमिरावृताक्षाणामवटे पततामदृष्टमार्गाणाम् ।
पुंसां गुरुजनवचनद्रव्यशलाकाञ्जनं शरणम् ॥४२५॥

'विषयों के अंधकार से घिरी आँखों वाले गड्ढे में गिरते और कुमार्ग में पहुँचे लोगों की शरण बड़ों के वचन की शलाका का अंजन है ॥४२५॥

उद्वेजयति सदात्वे सुखसंवित्तिं करोति परिणामे ।
कटुकौषधप्रयोगो गुरुनिगदितकार्यनिष्ठुरं च वचः ॥४२६॥

बड़ों की कही हुई निष्ठुर कार्य की बात भी कड़वी दवा का प्रयोग है जो आरम्भ में उद्विग्न कर डालता है और परिणाम में सुख पहुँचाता है ॥४२६॥

लब्ध्वा वचसोऽवसरं मित्रमवादीत्पुरंदरापत्यम् ।
पुनरपि नहि खिद्यन्ते प्रियजनहितभाषणे सन्तः ॥४२७॥

बात करने का अवसर पाकर साथी गुणपालित सुन्दरसेन से बोला, क्योंकि अच्छे लोग अपने प्रिय जनों के हित की बात बार-बार करने में भी खेद का अनुभव नहीं करते ॥४२७॥

अगणितसुहृद्वरवचसो दुर्व्यसनमहाब्धिमग्नवपुषस्ते ।
मन्युव्यथितस्य पितुर्यदि परमवलम्बनं वचनम् ॥४२८॥

'साथी की बात न मान कर तुम (वेश्यानुराग रूप) व्यसनसमुद्र में डूब रहे हो इस समय तुम्हारा कोई आलम्बन है तो वह है शोक से पीड़ित पिता का उपदेश ॥४२८॥

निजवंशप्रदीपभूत कृतचरितालंकृतो महासत्त्व ।
सुन्दर सम्प्रति तातः स्पृष्टो कुपुत्रदोषेण ॥४२९॥

सुन्दर, अपने वंश का दीप होकर, सदाचरण से अलंकृत और महाभाग तुम्हारे पिता को इस समय कुपुत्र वाला होने का दोष लग गया है ॥४२९॥

पुत्राभावः श्रेयान्न कुसुतता पुत्रिणः कुलीनस्य । ✓
अंतस्तापयति भृशं सच्चरितकथाप्रसंगेषु ॥४३०॥

पुत्र का न होना अच्छा न कि कुपुत्रवान् होना क्योंकि कुलीन पुत्रवान् के मन को कुपुत्रता सत्पुरुषों के चरित्र के कथा-प्रसंग में अधिक सन्ताप करती है ॥४३ ॥

सांव्यवहारिक एव प्रायो लोके गुणोन्नता नियता ।
येन तु सुतेन जननी मच्छ्वात्वं श्लाघते स पापीयान् ॥४३१॥

दुनिया में गुण व्यवहार से ही माना जाता है। यह आवश्यक नहीं कि यह (गुण) गुण का भी कारण हो। जिस पुत्र से माता अपने बाँझ रहने की प्रशंसा करे वह पुत्र पापी है ॥४३१॥

विफलं शास्त्रज्ञानं गुरुगृहसेवापि नोपकाराय ।
विषयवशीकृतमनसो न्याय्यं पन्थानमुत्सृजतः ॥४३२॥

जिसने मन को विषयों के अधीन कर दिया और न्याय मार्ग को छोड़ जाता उसका शास्त्र ज्ञान विफल है और उसकी गुरुसेवा से कोई उपकार नहीं ॥४३२॥

जीवन्नेव मृतोऽसौ यस्य जनो वीक्ष्य वदनमन्योन्यम् ।
कृतमुखभङ्गो दूरात्करोति निर्देशमंगुल्या ॥४३३॥

वह तो जीता हुआ ही मर गया जिसका मुँह देख कर लोग आपस में मुँह मटकाते दूर ही से उंगली से इशारा करते हैं ॥४३३॥

नोपनिहन्तु विषया शक्या सत्यं तथापि निपुणधियः ।
अभिधेयतां न गच्छन्त्यपवादविशेषिताभिधानस्य ॥४३४॥

यह ठीक है कि विषयों को समाप्त नहीं किया जा सकता, तथापि कुशल बुद्धि वाले लोग कभी कभी अपवादविशिष्ट अभिधान से अभिहित नहीं होते ॥४३४॥

गुरुपरिचर्या जाया गुणोन्नता स्निग्धबन्धुसंपर्कः ।
ग्राह्ये कर्मणि सक्तिर्लोकद्वयसाधनं सुधियाम् ॥४३५॥

सुधी पुरुषों के लिए गुरु की सेवा कुलीन पत्नी स्नेह करने वाले बन्धु जनों का सम्पर्क, सत्कर्म में लगाव इह लोक और परलोक का साधन है ॥४३५॥

सुलभा यस्य विभूतिस्तस्य गुणा यान्ति जगति विस्तारम् ।
बहु मनुते तं सुजनस्तस्मै स्पृहयन्ति याचका सततम् ॥४३६॥

उस नर को वैभव सुलभ है उसके गुण संसार में फैल जाते हैं सज्जन लोग उसे आदर करते हैं और हमेशा याचक जन उसे चाहते हैं ॥४३६॥

नासादयति स एव सत्सेवितमार्गतः परिस्खलनम्।
मण्डयति सोऽन्ववायं स निवासः श्रमणामशेषाणाम् ॥४३७॥

वह सज्जन-सेवित मार्ग में परिस्खलन प्राप्त नहीं करता, वह वंश को भूषित करता है, वह सारे गुणों का निवास है, ॥४३७॥

स भवति विनयाधारो युक्तायुक्ते विवेकिता तस्य ।
वृद्धोपदेशवाचः श्रवणोदरं तर्पयन्ति सदा यस्य ॥४३८॥

वह विनयी होता है उसे उचित-अनुचित का विवेक होता है, जिसके कानों में हमेशा वृद्ध जनों के उपदेश की बातें भरती रहती हैं ॥४३८॥

प्राक्तनकर्मविपाकः क्षुद्रासु शरीरिणां यदासक्तिः ।
आयतनं तु सुखानां संसारभुवां कुलोद्गता दाराः ॥४३९॥

जो कि नीच स्त्रियों में आसक्ति होती है वह पहले किए कर्मों का विपाक है और संसारी के लिए कुलीन स्त्रियाँ तो सुखों का आयतन हैं ॥४३९॥

निर्विण्णे निर्विण्णा मुदिते मुदिता समाकुलाकुलिते ।
प्रतिबिम्बसमा कान्ता संक्रुद्धे केवलं भीता ॥४४०॥

पति के खिन्न होने पर वह भी खिन्न हो जाती है, मुदित होने पर मुदित, आकुल होने पर आकुल हो जाती है केवल कुपित हो जाने पर डर जाती है ॥४४ ॥

यावद्वाञ्छितसुरतव्यायामसहाऽविरुद्धसंपर्का ।
चित्तानुवृत्तिकुशला पुण्यवतामेव जायते जाया ॥४४१॥

इच्छा भर सुरत के व्यायाम सहन करने वाली किसी प्रकार विरोध की बातचीत न करने वाली और पति के चित्त के अनुसरण में कुशल जाया पुण्यवानों को ही मिलती है ॥४४१॥

सद्भावप्रेमरसं घनयावलिशब्दशंसिता निभृतम् ।
विदधानाङ्कसमर्पणमुन्मीलितकुसुमसायकाकूता ॥४४२॥

चूड़ियों की झंकार से शब्दित हो चुपके से सद्भाव और प्रेम के रसोंमें और उन्मीलित कामदेव के अभिप्राय रूप अङ्क समर्पण करती हुई ॥४४२॥

हा हा किमुद्धतत्वं श्रोष्यति कश्चिद्गतत्रप स्वैरम्।
निकटे परिवारजनो विस्मृत एव स्मरातुरस्य तव ॥४४३॥

हा हा, यह क्या बरजोरी, कोई सुन लेगा निलज्ज धीरे धीरे, कामातुर हो तुम भूल गए कि पास ही परिवार के लोग हैं। ॥४४३॥

इति हुंकृतिसंवलितैरायासनिवेदितार्थपदवाक्यै।
द्विगुणीकरोति कुलजा नायककर्माणि मोहनप्रसरे ॥४४४॥

इस प्रकार हुंकारों से मिश्रित और आयास के द्वारा निवेदन करने वाले अर्थ पद और वाक्यों द्वारा कुलवन्ती नारी सुरतावेग में नायक के कार्यों को दुगुना कर देती है ॥४४४॥

इत्थमुदीरितवार्त्तं सुहृदमवोचत्पुरंदरस्य सुत।
समुपस्थितजीवसमावियोगभयकंपितो वचनम् ॥४४५॥

इस प्रकार उसने जब ये बातें कहीं, तब प्राणप्रिया के प्रवासजन्य वियोग के कारण कांपता हुआ पुरन्दरसुत मित्र से बोला ॥४४५॥

तातादेशोऽलंघ्ये हारलताविरहपावके तीव्रे।
विधिवशवर्तिनि मरणे नो विद्म कार्यपरिणामम् ॥४४६॥

'जब कि पिताजी की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता, हारलता की विरहाग्नि तीव्र है तथा मर जाना भाग्य के अधीन है ऐसी स्थिति में किए का परिणाम क्या होगा हम नहीं जानते ॥४४६॥

अनपेक्षितधनलाभां स्नेहैकनिबद्धमानसां दयिताम्।
दैवाकृष्टो मुंचति पतितो वा लोहवज्रमणिकाभिः ॥४४७॥

धन लाभ की अपेक्षा न रखने वाली एक मात्र स्नेह से बंधे मानस वाली प्रिया को आदमी या तो दैव के द्वारा प्रेरित हो छोड़ता है या लोहे और हीरे की कनियों से गड़ा हुआ होने के कारण छोड़ता है ॥४४७॥

अथ कृतगमनविनिश्चितिरभिमतरामां चकार विदितार्थाम्।
सापि समनुव्रराज प्रस्तुतयात्रं शुचाकुलिता ॥४४८॥

अनन्तर कुसुमपुर जाने का निश्चय करके उसने प्रियतमा को सूचित कर

दिया। वह भी मार्ग पर जाते अपने प्रेमी के पीछे-पीछे व्याकुल हो चलने लगी ॥४४८॥

प्रासाद्य वटस्य तलं छायापथकर्णपिवाक्षिपक्ष्माग्राम् ।
शिथिलचरणविहारो हारलतामभिवधाति स्म ॥४४९॥

बरगद के पेड़ की छाया में आकर अश्रुकणों से सिक्त पक्ष्माग्र वाली हार लता से व्युत्थित रूप से चलता हुआ (सुन्दरसेन) चला ॥४४९॥

आ क्षीरवतो वृक्षादा सलिलाद्वा प्रिये प्रियं यान्तम् ।
अनुयायादिति वचनं तेन त्वमितो निवर्तस्व ॥४५०॥

'प्रिये क्षीरवान वृक्ष तक अथवा जलाशय तक जाते हुए प्रिय का अनुगमन करे, यह शास्त्र वचन है, अतः यहाँ से तू लौट जा ॥४५०॥

किं कुर्मो दैवहता प्रभवति यस्मिन्कृशोदरि प्रसभम् ।
प्रेमग्रन्थिच्छेत्ता गुरुशासनसायको निरावरणः ॥४५१॥

हे कृशोदरि, जहाँ प्रेम की ग्रन्थि को काट देने वाला, आवरणरहित गुरुजन के शासन का बाण बलपूर्वक प्रभुत्व है वहाँ भाग्य के मारे हुए हम क्या करें। ॥४५१॥

न द्रविणचयप्राप्तिर्नैकाश्रयपरिचयो न च द्विगुणः ।
न स्वामिसमादेशो नाकारविलोभनं न वा ख्यातिः ॥४५२॥

इसमें मेरी प्रवृत्ति का कारण न कुछ धन का लाभ है, न एक जगह रहने का परिचय है न प्रिय वचन है न मालिक की आज्ञा है न सुन्दरता का लुभाव है और न कोई प्रसिद्धि है ॥४५२॥

हेतुस्तव प्रवृत्तेरस्मासु तथापि दैववशात् ।
ईदृक् कोऽप्यनुबन्धो यस्य विपाकोऽप्रतीकारः ॥४५३॥

तथापि तुम्हारी दैवयोगवश यह कोई स्थिति आ पड़ी है जिसके परिणाम का कोई प्रतीकार (चिकित्सा) नहीं ॥४५३॥

परुषं यदभिहितासि प्रणयरुषा शंकिते न नर्मणि वा ।
सुदति न तत्स्मरणीयं दुर्भाषणकीर्तनोदासे ॥४५४॥

हे सुन्दर दाँतों वाली प्रणयरोष के कारण अथवा शंकित होकर मैंने हँसी

मजाक में अथवा मोह भरी बात चीत में कुछ कड़ी बात कह दी हो तो उसे भूल जाना ॥४५४॥

तव हृदये हृदयमिदं विन्यस्तं न्यासपालनं कष्टम् ।

यत्नात्तथा विधेयं स्थानभ्रंशो यथा न स्यात् ॥४५५॥

यह मेरा हृदय तेरे हृदय में पड़ा है, न्यास (थाती) की रक्षा कष्ट से होती है । यत्नपूर्वक वैसा करना जिससे यह इधर से उधर (स्थान भ्रष्ट) न हो ॥४५५॥

अथ विरतवचोवसितं बाष्पभराक्लिष्टवर्णपदयोगात् ।

इति कथमपि हारलता संमूर्छितवर्णभारतीमूचे ॥४५६॥

अनन्तर प्रिय वचन बोलने वाले अश्रु गद्गद सुन्दरसेन से हारलता किसी प्रकार मूर्च्छित आवाज में बोली ॥४५६॥—

अविशुद्धकुलोत्पन्ना देहार्पणजीविका शठाचरणा ।

क्वाहं स्याजीवा क्व भवन्त श्लाघनीयजन्मगुणाः ॥४५७॥

'कहाँ अपवित्र कुल में पैदा हुई, शरीर अर्पित करके रोजी कमाने वाली, कपट चारिणी (वेश्या) मैं और कहाँ प्रशंसा के योग्य जन्म और गुणों वाले तुम ॥४५७॥

यत् विषयविलोकनकुतूहलाभ्यागतेन विश्रान्तम् ।

इयतो दिवसानस्मिंस्तन्मम परजन्म सुकृतफलम् ॥४५८॥

जो तुम देश देखने के कुतूहल से आए और यहाँ इतने दिनों तक विश्राम किया वह मेरे पूर्व जन्म के अच्छे कर्मों का फल रहा ॥४५८॥

गुरुसेवां बन्धुजनं स्वदेशवसतिं च कलत्रमनुकूलम् ।

अनुपकृद्दृष्टिपरिचित मास्यां प्रविधाय कः परित्यजति ॥४५९॥

वह कौन होगा जो दृष्टिमात्र से परिचित वेश्या पर विश्वास करके गुरु जनों की सेवा को, बन्धुजन को और अनुकूल पत्नी को छोड़ देगा ! ॥४५९॥

यौवनचापलमेतद्यन्मादृशि भवति कौतुकं भवताम् ।

यत्तु सुखमनवगीतं तस्य स्थानं निजा दाराः ॥४६०॥

यह तो यौवन की चपलता है जो मुझ-जैसी में आप लोग रिझ जाते हैं[1]। जो सुख अनिन्दित है उसका स्थान तो अपनी पत्नी होती है ॥४६०॥

ते मधुराः परिहासास्ता वक्रगिरः स वामतासमयः ।

नो हृदये कर्तव्यो रहसि क्षेमार्थिना भवता ॥४६१॥

यदि आप अपना कल्याण चाहें तो उन मधुर हँसी-मजाकों को, उन कटि भरी बातों को और उस उलटी चाल चलने के समय को कभी अकेले में भी याद न करेंगे ॥४६१॥

नाथ भवतो यन्मनसः प्रणयाद्वा यत्तवाचरितम् ।

प्रतिकूलं तत्र मया नाथांजलिरेष विरचितो मूर्ध्नि ॥४६२॥

नाथ अपनी लघुता से अथवा अधिक प्रणय के कारण तुम्हारा जो अप्रिय या प्रतिकूल मैं कर बैठी हूँ उसके लिए हाथ जोड़ती हूँ ॥४६२॥

दुःसंचारा मार्गा दूरे वसतिर्विसंष्ठुलं हृदयम् ।

गुणमालित तव सुहृदा भवितव्यमतोऽप्रमत्तेन ॥४६३॥

गुणमालित, मार्ग बड़े दुर्गम हैं, घर बहुत दूर है और हृदय अव्यवस्थित है। अतः तुम्हारे मित्र को सावधान रहना चाहिए' ॥४६३॥

हृदयद्वय एकत्वं याते यूनोर्वियोगजं क्लेशम् ।

अनुभवतोरपरेण प्रसंगतः पठ्यते पथ्या ॥४६४॥

जब युवक और युवती के दो हृदय एक हो जाते हैं तब उनसे वियोग जनित क्लेश का उन्हें अनुभव होने लगता है ऐसे प्रसंग में किसी ने इस पथ्या छन्द का पाठ किया ॥४६४॥

1—'मृच्छकटिक' में चारुदत्त ने भी कहा है—

'गणिका मम मित्रमिति ।
अथवा यौवनमपराध्यति न चारित्र्यम् ॥

'अन्योन्यगूढचेष्टितसद्भावस्नेहपाशबद्धस्य ।
विच्छेदकरो मृत्युर्धीराणां वा परिच्छेदः' ॥४६५॥

'परस्पर गुप्त कार्यों के कारण सद्भाव और स्नेह के फन्दे में बंधे हुए लोगों के लिए मरण हमेशा के लिए विच्छेद करने वाला होता है परन्तु धीर जनों के लिए यही समागम होता है' ॥४६५॥

अथ तच्छ्रवणानन्तरमास्व सुखं दयितिके व्रजामीति ।
अभिधाय याति मन्दं सुन्दरसेने विवर्तितग्रीवम् ॥४६६॥

तब उसे सुनकर सुन्दरसेन 'प्रिये, सुख से रहना, मैं जाता हूँ' यह कर धीरे से गर्दन मोड़ लिया और चलने लगा ॥४६६॥

वटशाखालम्बिभुजां श्वसितोष्णसमीरशुष्यदधरदलाम् ।
पर्यस्तां बिभ्राणां तन्मार्गविलोकनानिमेषदृशम् ॥४६७॥

कि (हारलता,) जो बरगद की शाखा थामे थी, श्वास की गर्म हवा से जिसका अधरपुट सूखता जा रहा था, जो उसका मार्ग देखने के निमित्त अपलक और पैनी दृष्टि धारण किए थी ॥४६७॥

दोलायमानवेणीं तिर्यग्गतकण्ठभूषणविशेषाम् ।
गलदश्रुवारिपूर्णां पतितांशुकमागनितसहांगलताम् ॥४६८॥

उसने चंचल केशपाश को और कण्ठ भूषण को तिरछा कर दिया, जो झरते आँसू के जल से भरी, गिरी हुई थी, जिसकी अँगलता सूनी और अपना मांस दीन में अनमय हो गई थी ॥४६८॥

ध्यातानामिव हृदयं स्फुटदिव स्मरेण कुचयुगाग्रपिण्ड
परिशोषिता विलासैरस्पृहां पीवसोत्सर्गव्ये ॥४६९॥

मानो जो हारलता स्तनों पर टिके हाथ से फूटते हुए हृदय को रोक रही थी, विलासों ने जिसे छोड़ डाला था और जो तीव्र शोक के उच्छ्वासों से युक्त थी ॥४६९॥

अंगीकृतां विपत्त्या परिहृतां मर्मघट्टनैर्विषमे ।
हारलतामपरिस्फुटमत परिगृह्यमाणमारतया ॥४७०॥

जिस विपत्ति ने अपना लिया था जिस मर्मान्तक वेदनों में जिस अधीन

कर लिया था, जो अस्पष्ट रूप से भीतर से वाणी को खींचकर यह कह रही थी ॥४७०॥

मा मा तावद्यात क्षणमेकं यावदेष निष्करुणः ।
घनगुल्मैर्न तिरोहित इत्यभिदधती जहुः प्राणाः ॥४७१॥

'जाओ, जब तक एक क्षण के लिए मत जाओ जब तक यह निष्करुण जंगल के झाड़ों में ओझल नहीं हो जाता' ऐसी स्थिति में प्राणों ने उस हारलता को छोड़ दिया ॥४७१॥

अथ पश्चात्समुपेतं पप्रच्छ पुरंदरात्मजः पथिकम् ।
दृष्टा शोकव्यथिता विवशमाना वराङ्गना भवता ॥४७२॥

तब पीछे से आए हुए पथिक से सुन्दरसेन ने पूछा—'क्या आपने बेहोश हुई, शोक से व्यथित स्त्री को देखा है' ? ॥४७२॥

स उवाच वटतरोरध उर्व्यां पतिता विनिश्चलावयवा ।
तिष्ठति वनिता नान्या नयनावसरं गतास्माकम् ॥४७३॥

वह बोला 'बरगद के पेड़ के नीचे जमीन पर गिरी निश्चल अंगों वाली एक महिला पड़ी है और कोई दूसरी को तो हमने नहीं देखा' ॥४७३॥

इति तद्वचनात्महतो विह्वलमूर्तिः पपात भूपृष्ठे ।
उत्थापितश्च सुहृदा सोऽभिदधे तेन शोकविकलेन ॥४७४॥

उसकी इस बात के पत्थर से घायल हो उद्भ्रान्त हुए सुन्दरसेन जमीन पर गिर पड़ा, तब मित्र ने उसे उठाया, फिर शोक से व्याकुल वह कहने लगा ॥४७४॥

भवतु कृतार्थस्तातस्त्वमपि सुमित्रास्व संप्रति प्रीतः ।
समकालमेव मुक्ता पापेन मयासुभिश्च हारलता ॥४७५॥

पिता जी कृतार्थ हों और प्यारे मित्र, तुम भी इस समय प्रसन्न हो। हारलता को पापी मैंने और प्राणों ने एक ही समय में छोड़ा है ॥४७५॥

हा हा हाव हतोऽसि ध्वस्ता लीला विलास किं कुरुषे ।
उच्छिन्ना विच्छित्तिर्भ्रम विभ्रम याहि दिशो निराधारः ॥१७६॥

हाय हाय, हाव,[1] तुम तो मारे गए, लीला[2] ध्वस्त हो गई, विलास[3] तुम क्या करोगे ! विच्छित्ति[4] उजड़ गई, विभ्रम[5] निराधार होकर दस दिशाओं में घूमा करो ॥१७६॥

१—काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने स्त्रियों के यौवनकाल में उनके बीस सात्त्विक अर्थात् सत्त्वगुणोद्भूत अलङ्कारों की चर्चा की है। पहले उनके तीन भेद किए हैं—शारीरज, अयत्नज और स्वभावज। सत्त्व वह गुण है जिसके कारण विकार के हेतु के उपस्थित रहने पर भी कोई विकार नहीं होता अर्थात् विकार का विरोधी तत्त्व। इस अविकार रूप सत्त्व से युक्त व्यक्ति परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाले तत्त्व 'सात्त्विक' कहलाते हैं। 'अलङ्कार से अलङ्करण होता है' अर्थात् शोभा होती है। यौवनमात्र से स्त्री में कोई सौन्दर्य या शोभा नहीं आती बल्कि वह भी एक शरीर का स्वभाव अलङ्करण है और यत्नमात्र बीस सात्त्विक अलङ्कार उसमें और भी शोभा का आधान करते हैं। उक्त सात्त्विक शारीरज अलङ्कार तीन हैं—भाव, हाव और हेला। अयत्नज सात हैं—शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य। स्वभावज दस हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित तथा विहृत। इस प्रसंग में कुट्टनीमत में हारलता के विलाप में प्राप्त सात्त्विक अलङ्कारों को संबोधित किया है। भाव भी भावद् स्त्री जिसमें चेष्टाओं से 'विकार' उत्पन्न करवाता है वह 'हाव' कहलाता है। यह 'भाव' का लक्षण के ढंग से उद्भूत सम्भोगेच्छा का प्रकाशक चित्त विकार है इसी का भ्रूनेत्रादि व्यापारोंसे विकार का ईषत् प्रकाशन ही हाव कहा है।

२—लीला—जब नायिका प्रिय के सम्मुख न रहने पर सखी के समक्ष प्रिय की वाणी वेष आदि या शृङ्गार-चेष्टाओं का अनुकरण करती है तब उसके अनुकरण को 'लीला' कहते हैं।

३—विलास—प्रिय को देखने के अवसर पर जब नायिका अपनी चाल, चितवन और वचनों में विशेष प्रकार का ढंग लाती है वह स्थिति 'विलास' कहलाती है।

४—विच्छित्ति—थोड़ी भी वस्त्ररचना जब अधिकतर कमनीयता ला देती है तब वह 'विच्छित्ति' कहलाती है।

५—विभ्रम—प्रिय के आगमनकाल में शीघ्रता के कारण गहनों को गलत जगह में पहन लेना विभ्रम है। जैसे बेसर को पैर में नूपुर को बाहु में, करधनी को कंठ में पुष्पमालाओं को जघन में आदि।

किलकिंचित गच्छ वनं मोट्टायितमशरणत्वमुपयातम् ।
कुट्टमित प्रव्रज्यां गृहाण बिब्बोक दिशो भुवो विवरम् ॥४७७॥

किलकिंचित[1], जंगल में चले जाओ, मोट्टायित[2] तुम्हारा कोई शरण न रहा, कुट्टमित[3], संन्यास ले लो बिब्बोक[4], धरती के विवर में चला जा ॥४७७॥

ललितमनाथीभूतं विहृतस्य गतिर्न विद्यते क्वापि ।
शशधरबिम्बद्युतिमुषि यातायामन्तकान्तिकं तस्याम् ॥४७८॥

ललित[5] अनाथ हो गया, विहृत[6] की कहीं भी गति नहीं जबकि वह चन्द्रबिम्ब की कान्ति हरण करने वाली (हारलता) मृत्यु (यम) के समीप चली गई ॥४७८॥

विनिवृत्य यामि दग्धुं मद्विरहात्त्यक्तवल्लभप्राणाम् ।
भवतु वराक्यास्तस्याः संस्कारविधानमात्रमुपकारः ॥४७९॥

मेरे विरह में जिसने अपने प्रिय प्राणों को छोड़ दिया है उसे लौट कर दाह करने जाता हूँ, उस बेचारी के अग्निसंस्कारमात्र तो उपकार हो ॥४७९॥

गत्वाथ समुद्देशं यस्मिन्सा पंचभावमापन्ना ।
विललाप मुक्तकण्ठं विलुठन्भुवि सहचरेण धृतमूर्तिः ॥४८०॥

अनन्तर जहाँ हारलता मरी पड़ी थी, उस स्थान पर जाकर सुन्दरसेन जमीन पर लोट-पोट करने लगा साथी ने सम्हाला, फिर वह मुक्त कंठ से विलाप करने लगा ॥४८० ॥

१—किलकिंचित—यह क्रोध, अश्रु, हर्ष, भीति आदि का मिश्रित रूप है ।

२—मोट्टायित—प्रिय के विषय में बातचीत के समय तद्भावभावित नायिका अंगभंग के सहित जंभाई और कर्णकंडूयन आदि करती है इस क्रिया को 'मोट्टायित' कहते हैं ।

३—कुट्टमित—नायिका नायक द्वारा केश अधर आदि ग्रहण करने पर मन में आनन्दित हो कोप का प्रदर्शन करती है उस स्थिति को 'कुट्टमित' कहते हैं ।

४—बिब्बोक—गर्व और अभिमान के कारण इष्ट अर्थात् अभिमत वस्तु के प्रति भी अनादर का भाव बिब्बोक कहलाता है ।

५—ललित—भ्रू और नेत्र आदि की क्रिया द्वारा सौकुमार्य विधान करके हस्त पद आदि अंगविन्यास को ललित कहते हैं ।

६—विहृत—जिसे कहने का अवसर प्राप्त हो उसे लज्जा मान अथवा ईर्ष्या के कारण न कहना 'विहृत' है ।

एते वयं निवृत्ता मुञ्च रुषं देहि कोपने वाचम् ।
उत्तिष्ठ किमिति तिष्ठसि भूमितले रेणुरूषितशरीरा ॥४८१॥

'हम लौट आए, रोष छोड़ दे कोपशीले, बात कर, उठ, क्यों जमीन पर धूल धूसरित पड़ी है ? ॥४८१॥

विनिमील्य दृशौ कस्मादप्रतिपत्त्या स्थितासि शुभवदने ।
त्वद्वारितगमनविधेरपराधितया न मेऽस्ति संयोगः ॥४८२॥

हे शुभवदने तू आँखें बन्द करके किस कारण निश्चल भाव से पड़ी है ? तेरे द्वारा जिसका जाना निवारित नहीं किया गया ऐसे मुझसे संयोग होने का नहीं ॥४८२॥

नाकाधिपतिपुरस्त्रीरभिभवितुं त्वयि दिवं प्रयातायाम् ।
सत्स्वपि शरेषु पञ्चसु निरायुधः साम्प्रतं मदनः ॥४८३॥

इन्द्रपुरी की रमणियों को पराजित करने के लिए तेरे स्वर्ग चले जाने पर इस समय पाँचों बाणों के विद्यमान होने पर भी कामदेव आयुधहीन हो गया है ॥४८३॥

वंचकवृत्ता वेश्या इत्यपवादो जनेषु यो रूढः ।
अपनीतोऽसौ निपुणे त्वया प्रिये जीवमोक्षेण ॥४८४॥

जो यह अपवाद कि वेश्याएँ ठगवृत्ति किया करती हैं, लोगों में फैल गया है, प्रिये तुमने प्राणों की कुर्बानी करके ही उसे दूर कर दिया ॥४८४॥

वर्ण्यः सतत एकस्त्रिपुरान्तकनन्दनो महासेनः ।
हृदयं यस्य स्पृष्टं न मनागपि वामलोचनाप्रेम्णा ॥४८५॥

भगवान् शङ्कर के पुत्र स्वामी कार्तिकेय प्रशंसा के योग्य हैं जिनके हृदय को सुन्दर नयनों वाली नारी के प्रेम ने जरा भी स्पर्श नहीं किया ॥४८५॥

मन्येऽभीष्टवियोगं निमेषमपि दुःसहं समवधार्य ।
हरिणा वक्षसि लक्ष्मीर्विधृता गौरी हरेण देहार्धे ॥४८६॥

मानता हूँ कि क्षण भर भी प्रिय वियोग को दुःसह समझ कर विष्णु ने लक्ष्मी को वक्ष पर और शिवजी ने पार्वती को अर्धांग में धारण किया है ॥४८६॥

अपि लोकपाल सा भुवि ललामभूता तया विना शून्यम् ।
विश्वमिति किं न चितिसमात्मस्थानं प्रियां नयता ॥४८७॥

हे लोकपाल, अपने स्थान पर मेरी प्रिया को ले जाते हुए तुमने 'वह पृथ्वी पर भूषण है, उसके बिना संसार सूना है' यह क्यों नहीं सोचा ? ॥४८७॥

भगवन्हुतवह मा मा लावण्यसमुद्रसारमुद्धृत्य ।
कथमपि विहितां धात्रा धक्ष्यस्येनां जगद्भूषाम् ॥४८८॥

भगवान् अग्नि, विधाता ने लावण्य के समुद्र से सार वस्तु को निकाल कर किसी प्रकार इसे रचा है अतः संसार के इस अलङ्कार को मत जलाना, ॥४८८॥

इति विलपन्तं बहुविधमवधीर्य सुहृत्पुरन्दरस्य सुतम् ।
काष्ठैर्विरचय्य चितां तामकरोदग्निसाद्गणिकाम् ॥४८९॥

इस प्रकार बहुविध विलाप करते हुए सुन्दरसेन को साथी गुणपालित ने हटा कर काष्ठों से चिता बनाई और उस गणिका को अग्नि के अर्पित कर दिया ॥४८९॥

तस्मिन्निह हुताशनविनिपतने कृतमतौ शुचा कलिते ।
मनसि स्फुरितामार्यां पपाठ कश्चित्प्रसंगेन ॥४९०॥

जिस समय कि शोक से आकुल सुन्दरसेन दहकते हुए अग्नि में कूद पड़ने के लिए निश्चय कर बैठा तभी किसी ने प्रसंग वश मन में स्फुरित आर्या का पाठ किया ॥४९० ॥

'अनुमरणे व्यवसायं स्त्रीधर्मे कः करोति सविवेकः ।
संसारमुक्त्युपायं दण्डग्रहणं व्रतं हित्वा' ॥४९१॥

'संसार से मुक्ति (छुटकारा) प्राप्त करने के उपाय दण्डग्रहण करने (संन्यास लेने) के नियम को छोड़कर कौन विचारशील होगा जो स्त्री के धर्म अनुमरण में प्रयत्न करेगा ! ॥४९१॥

श्रुत्वा सुन्दरसेन सुहृदमभाषदव्यपेतवैक्लव्यः ।
प्रतिबोधितं मनो मे धीरेणानेन युक्तमुपदिशता ॥४९२॥

सुनने के बाद सुन्दरसेन की व्याकुलता न रही, वह मित्र से बोला—

'इस मनोमानुष में उपदेश देते हुए आपने मेरे मन को प्रतिबोध दिया है ।।४९२।।

क्षणदृष्टनष्टबन्धुजनजराव्याधिमरणपरिभूते ।
परिवर्तिनि संसारे कः कुर्यादाग्रहं महिमान् ।।४९३।।

जहाँ प्रिय जन क्षणभर के लिए दिखते हैं और फिर नष्ट हो जाते हैं, जो जन्म, बुढ़ापा, रोग और मरण आदि से परिभूत रहता है ऐसे बदलते रहने वाले संसार के सम्बन्ध में कौन बुद्धिमान आग्रह करेगा ? ।।४९३।।

यातु भवान्कुसुमपुरं वयमप्यन्त्याश्रमे समाश्रयणम् ।
अंगीकुर्मोऽविद्याप्रहाणसंसिद्धये विहितम् ।।४९४।।

तुम कुसुमपुर चले जाओ, अविद्या के विनाश की सिद्धि के लिए हम भी अन्तिम आश्रम (संन्यास) में नियत रूप से रहना अङ्गीकार करते हैं ।।४९४।।

सोऽवददभिजातजनो बाल्यात्प्रभृति त्वया च न विमुक्तः ।
संन्यसनबुद्धिमधुना कथमुज्झति विषयनिस्पृहं सुहृदम् ।।४९५।।

यह कुलीन गुणपालित बोला—'बचपन से लेकर तुमने मुझे नहीं छोड़ा, अब संन्यास लेने की बुद्धि हुई तो विषय की स्पृहा से रहित साथी को कैसे छोड़ रहे हो ? ।।४९५।।

एवमिति सोऽभिधाय स्थिरमतिनियमैस्तपोधनैर्जुष्टम् ।
गुणपालितेन सहितः सुन्दरसेनो जगाम वनम् ।।४९६।।

तब सुन्दरसेन 'अच्छा' कह कर स्थिरमति और नियमों का आचरण वाले तपस्विजनों से अधिष्ठित वन में गुणपालित के साथ चला गया" ।।४९६।।

एवं भवन्तु वश्या स्वार्थैकरता व्यपेतसद्भावा ।
अभिलषितविषयसिद्धेः का हानिस्तदपि युष्माकम् ।।४९७।।

इस प्रकार वेश्याएँ एकमात्र स्वार्थरत सद्भाव-रहित होती हैं, तथापि इच्छित विषय की सिद्धि हो जाने से तुम पुरुषों की कौनसी हानि है ? ।।४९७।।

रमणहृदयानुवर्तनचतुरचतुष्षष्टिकर्मकुशलानाम् ।
न स्पृशति सत्यचर्चा पण्यवधूनां विदग्धचेतांसि ॥४९८॥

अपने रमण के चित्त बहलाने में निपुण और चौंसठ कलाओं[1] में पारंगत बाजारू औरतों के विषय में सत्य की चर्चा (कि यह रागवती है अथवा नहीं आदि) विदग्धजनों के चित्त का स्पर्श नहीं करती ॥४९८॥

वल्गितप्लुतचितगतिस्थितिभेदैश्चोदनानुसरणा च ।
रागस्पर्शेन विना विशति मनः सादिनां तुरगः ॥४९९॥

घोड़ा वल्गित[2] प्लुत, चित आदि गतियों और स्थिति (ठहरन) के परिज्ञान से तथा प्रेरणा का अनुसरण करने से राग (प्रेम) के स्पर्श तक के न होने पर भी घुड़सवारों के मन में स्थान पा जाता है ॥४९९॥

गन्धोऽपि कृतः प्रेम्णः परभृतसहकारकेतकीकपोतानाम् ।
उज्ज्वलवर्णसमपुः विस्तविशेषैस्तथापि ते यूनाम् ॥५००॥

कोयल, हारित कपोत, कचनार आदि के प्रेम की गन्ध भी कहाँ ? तथापि वे अपनी विशेष प्रकार की आवाजों से युवकों के मन्मथ का मन्थन करते हैं ॥५००॥

आहितयुक्ताहार्यः सम्यक्सकलप्रयोगसम्पत्या ।
भावविहीनोऽपि नटः सामाजिकचित्तरंजनं कुरुते ॥५०१॥

वेशभूषा धारण करके फिर उतार देने वाला[3] किसी प्रकार के भीतरी राग से रहित भी नट पूर्ण रूप से सारे अभिनयों की सिद्धि के द्वारा सामाजिकों (दर्शकों) के चित्त का अनुरंजन करता है ॥५०१॥

१—आचार्य क्षेमेन्द्र ने कलाविलास नामक ग्रन्थ में गणिकाओं की सिद्धी ६४ कलाओं का उल्लेख किया है।

२—वल्गित, प्लुत और चित ये घोड़ों की चाल हैं। पैरों का ऊपर की ओर फेंक कर चलना वल्गित है दूर-दूर पर पा कूदांग मारकर चलना प्लुत है और मनोहर चाल से चलना चित है। सम्भवतः आज कल इन्हीं के लिए क्रमशः सरपट, दुलकी और कदम प्रभृति शब्द प्रचलित हैं।

३—आहितमुक्ताहार्य—आहार्य अर्थात् वेशभूषा जिसने इसे विधिवत् धारण करके छोड़ दिया है। यह वेशधारण विधान एक प्रकार की कला है।

'भावप्रकाश' के अनुसार 'देशकालावस्थया वस्त्रमाल्याभरणादिभिः शोभाय शरीरस्य मण्डनाचारः।'

कोई अभिनय के अनुकूल साज-सामान या पोशाक धारण करने हैं इसे ही 'नेपथ्य विधि' कहते हैं जिसे आजकल 'मेकअप' कहते हैं।

येऽपि धनक्षयदोषं पश्यन्ति जडा विलासिनीश्लेषे ।
प्रष्टव्यास्ते भवता किमकृतकशिपुव्यया दारा ॥५०२॥

जो मूर्ख व्यक्ति वेश्या के आलिङ्गन में धन का नाश रूप दोष देखते हैं उनसे आप पूछिए कि क्या पत्नी बिना अन्न-वस्त्र खर्चे होती है ? ॥५०२॥

न च लाभ एक एव प्रवर्तनं कारणं मनुष्येषु ।
रागादयोऽपि सन्ति वैशिकशास्त्रप्रणेतृभिः कथिता ॥५०३॥

मनुष्यों में प्रवृत्त होने का कारण सिर्फ लाभ ही नहीं है बल्कि जैसा कि वैशिक शास्त्र के रचयिताओं[1] ने कहा है, राग आदि भी कारण हैं ॥५०३॥

का वा विभूतिरासीत् सुन्दरसेनात्तया तपस्विन्या ।
यद्विरहकुलिशभिन्ना मुमोच सा जीवितं क्षणार्धेन ॥५०४॥

उस बेचारी (हारलता) ने सुन्दरसेन से कौन-सा ऐश्वर्य पा लिया था कि जिसके विरह के वज्र से भिन्न वह आधे क्षण में प्राण छोड़ बैठी ? ॥५०४॥

उत्तमतरुणप्रकृतिः पुलकादिकसूचितान्यतनुसक्तिः ।
स्फुटसंनिहितविभावो निवार्यते केन शृंगारः ॥५०५॥

जिसके कारण उत्तम तरुण और तरुणी हैं, रोमाञ्च आदि से जिसकी इतर विकार शक्तियाँ भी सूचित होती हैं और जिसके विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) स्पष्ट और सन्निहित होते हैं ऐसे शृंगार रस का कौन निवारण करता है ? ॥५०५॥

अन्तःकरणविकारं गुरुपरिजनसंकटेऽपि कुलटानाम् ।
जानन्ति सदभियुक्ता भ्रूभंगापांगमधुरदृष्टेन ॥५०६॥

गुरुजन और परिजनों की भीड़ भाड़ में भी कुलटाओं के मन के विकार उनके जानकार लोग भौंहें चढ़ाकर तिरछी नजरों से देखने से जान जाते हैं ॥५०६॥

1—दत्तक विटाधिप वात्स्यायन प्रभृति आचार्य वैशिकशास्त्र के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं। वैशिक पुरुष (वेश्यागामी) जो वेश्या के व्यवहार में कुशल होते हैं उन पुरुषों के कर्तव्य अकर्तव्य के विचार वाला शास्त्र 'वैशिकशास्त्र' कहलाता है।

अन्या विहाय पतिगृहमविचिन्तितकुलकलङ्कजनगर्हाः ।
रागोपरक्तहृदया यान्ति दिगन्तं मनुष्य मासज्य ॥५०७॥

राग से रंजित हृदय वाली कुछ स्त्रियाँ कुल के कलंक और लोगों में निन्दा की परवाह न करके पति का घर छोड़ कर आदमी पाकर सुदूर चली जाती हैं ॥५०७॥

अपमानः पतिविहितो गुरुपरिकरतोऽप्रता गृहे दौःस्थ्यम् ।
शीलक्षतये यासां तासामविरागतोऽन्यनरसक्तिः ॥५०८॥

पति के द्वारा किया हुआ अपमान परिवार के बड़ों की कठाई और घर में दुःख से रहना ये सब जिन स्त्रियों के शील (सदाचार) के नाश के कारण होते हैं, उनकी आसक्ति दूसरे पुरुष में हो जाती है ॥५०८॥

या अप्यचलितवृत्ता भर्तुश्चरणाब्जतत्परा प्रमदाः ।
ता अपि रागविमुक्तास्तिष्ठन्त्यौचित्यमात्रेण ॥५०९॥

जिन अनुरागहीन भी प्रमदाओं का आचरण विचलित नहीं हुआ है और पति की सेवा में तत्पर रहती हैं वे सिर्फ औचित्य के सहारे रहती हैं ॥५०९॥

तस्मात्तास्वभिगमनं विविधनिमित्तं निवार्यते केन ।
निजपरपण्यस्त्रीणां रागाधीनं तु हृदयनिर्वहणम् ॥५१०॥

अतः, इसलिए नाना प्रकार के निमित्तों से होने वाले व्यभिचार का निवारण कौन कर सकता है ! स्वीया, परकीया और सामान्या इन तीनों प्रकार की स्त्रियों के हृदय का सम्मान राग के अधीन होता है ॥५१०॥

एवंविधदृष्टान्तैरुपरतियुक्तैस्तथैवंविधैः ।
अन्यैरपि चाटुपदैरावर्जितमानसो गम्यः ॥५११॥

इस प्रकार के युक्तियुक्त दृष्टान्तों तथा इस प्रकार के चाटुओं एवं अन्य प्रिय वचनों से गम्य (कामुक) का मन जब आवर्जित हो जाय ॥५११॥

विहितस्वापविबोधं विचित्रप्रकटीकृतप्रमग्लान्या ।
उत्पादितजृम्भिकया परिरम्य घनं निशापगमे ॥५१२॥

तब नींद से जगे हुए उसको कुछ थकान और जिभना जम्हाई लेकर प्रकट करके कस कर आलिंगन करना और रात बीत जाने पर ॥५१२॥

विघटितपुटमुग्धदृशा विलोक्य ककुभः सदीर्घनिःश्वासम् ।
वक्तव्यमिति भवत्या रजनि सखे किं प्रभातासि ॥५१३॥

उन्मीलित आँखों से दिशाओं को देखकर लम्बी साँस के साथ यह कहना 'सखे रजनि क्या प्रभात शेष हो गई ?' ॥५१३॥

प्रवसति विघटेत कथं दृढशक्तिममुष्य रतिरसप्रसरम् ।
मदनजनितानुरागो न विदध्याद्यदि बलाधानम् ॥५१४॥

अगर कामजनित अनुराग ने उसमें शक्ति न भर दी होती तो अवरुद्ध पुरुषों के रतिरस का प्रवाह कैसे सहन कर सकती ! ॥५१४॥

धन्या धन्यासि वधू प्रियतमसंघट्टनसमयसम्प्राप्त्या ।
शशिना विमुच्यमाना कुमुदवति क्षीणपुण्यासि ॥५१५॥

प्रियतम से मिलन का समय जिसे प्राप्त है वह वधू धन्य है और चन्द्र से विमुक्त होती हुई हे कुमुदिनी, तू क्या क्षीण पुण्यों वाली है ! ॥५१५॥

विकसितसुरभिमनोहरसंस्पर्शं सरसकुसुमसम्भारम् ।
न करोति तथा पीडामास्वादितविच्युतं यथा भृङ्ग्याः ॥५१६॥

खिले, सुगन्धित, मनोहर एवं स्पर्शित सरस पुष्प को भ्रमरी ने नहीं पाया यह कष्ट नहीं देता, बल्कि उसके द्वारा आस्वादित होने पर उस फूल का छूट जाना (कष्टप्रद) हो जाता है ॥५१६॥

विज्ञापयाम्यतस्त्वां रचिताञ्जलिमौलिना विधाय नतिम् ।
परिचारकजनमध्ये गणनीयाहं प्रसादेन ॥५१७॥

इसलिए अञ्जलिबद्ध के साथ सिर झुका कर तुमसे निवेदन करती हूँ कि कृपा करके सेवक जनों के बीच मेरी गणना करना ॥५१७॥

अथ दीपितरागाग्नेरपह्नुतिमता मदविभ्रमोपचिते ।
मृदुभिश्चित्तानुगतैरुपचारैः पातितस्य विश्वासे ॥५१८॥

अनन्तर हे कृशोदरी राग के उत्पादक तत्त्वों को उद्दीपित करने वाले, लाज व भ्रम के द्वारा छिपाने से युक्त[1] मृदु एवं चित्तानुकूल उपचारों द्वारा जब वह विश्वास में पड़ जाय तब उसे कहना ॥५१८॥—

1—लाजाविभ्रमोपचिते —कामुक के हृदयावर्जन में प्रमुख वेश्या की सबसे बड़ी कुशलता तब सिद्ध होती है जब वह अपने व्यवहारों से यह प्रकट नहीं होने देती कि वह किसी प्रकार धनलाभ के लिए स्वार्थ का प्रेम जता रही है। ऐसी स्थिति में कामुक का उसके प्रति आकर्षण और भी बढ़ता है।

अवलोकितोऽसि लम्पट किमिति मदन्कर्णसंनिधौ निभृतम् ।
संकथसेनायाभ्या अद्य मया जालमार्गेण ॥५१९॥

'चालबाज', शकुरमना को पास के कान के समीप झुकके से कुछ कहते तुम्हें मैंने आज खिड़की से देख लिया ॥५१९॥

मालत्या सह केलिं विदधासि सखी ममेति न विरोधः ।
यत्तु चिरं स्निग्धदृशा पश्यसि तां तत्र मे शङ्का ॥५२०॥

मुझे इसका विरोध नहीं कि तुम मालती के साथ कुछ बातचीत करते हो, क्योंकि वह मेरी सहेली है, जो कि उसे स्नेहमयी दृष्टि से देर तक देखते हो इसमें मुझे शक होने लगा है ॥५२ ॥

त्वामागता न वीक्षितुमनुबध्य न भाषिता प्रयत्नेन ।
आहूय वद किमर्थं ताम्बूलं ग्राहिता कमलदेवी ॥५२१॥

जब न तो तुम्हें देखने आई और न तो उसने प्रयत्नपूर्वक आग्रह करके माँगा ही तब भी तुमने कमल देवी को बुला कर बोलो, किसलिए ताम्बूल पकड़ाया ? ॥५२१॥

कञ्चुकमपकर्षन्त्या प्रकटीभव दंसकक्षकुचपार्श्वम् ।
साभिनिवेशं दृष्टं भवता किं कुन्दमालायाः ॥५२२॥

जब कुन्दमाला अपना कञ्चुक उतार रही थी तब क्या तुमने उसके स्पष्ट होते हुए कक्ष और स्तनों के पार्श्वभागों को इच्छा भरी दृष्टि से देखा ? ॥५२२॥

परिहासेन गृहीता यदंशुकपल्लवे त्वया रामा ।
माल्लक्ष्यापक्रान्ता किं मामवलोक्य पृष्ठतः सहसा ॥५२३॥

अगर हँसी मजाक में तुमने रामा का आँचल पकड़ लिया था पीछे से मुझे देख कर वह सहसा झुक कर क्यों भाग गई ? ॥५२३॥

विज्ञानेन स्यातां कुसुमवतीं त्वं तु वर्णयस्यनिशम् ।
नृत्यन्तीं मृगदेवीं विस्फारितलोचनः पश्यन् ॥५२४॥

वशीकरण आदि कार्यों में मशहूर कुसुमवती की हमेशा तुम तारीफ करते रहते हो और नाच करती हुई मृगदेवी को आँखें फाड़-फाड़ कर देखते हो ॥५२४॥

कारणमत्र न वेद्मि महत्प्रथमपास्य प्रसिद्धमुत्सृज्य ।
यद्भ्रेण यदेषि पया माधवसेनागृहाग्रेण ॥५२५॥

जो कि तुम हमेशा मशहूर और आसान रास्ते को छोड़ कर माधवसेना के घर के आगे वाले टेढ़े रास्ते से आते हो इसका कारण मेरी समझ में नहीं आता ।।५२५।।

इति सेर्ष्योपन्यासैरन्यैश्चामर्मवेधिलघुकोपैः ।
प्रणयप्रभवैर्विदिते शातोदरि गूढरागस्त्वे ॥५२६॥

इस प्रकार ईर्ष्यायुक्त दूसरे भी मर्म को बंध न देने वाले प्रणयजनित लघु कोपों द्वारा कामुक के अधिक अनुरक्त हो जाने पर ।।५२६।।

श्रुतिविषयेऽन्तरितस्तनुजनितस्थितिरायताक्षि सह मात्रा ।
परुषगिरा त्वं कुर्याः इत्थं मिथ्यावचःकलहम् ॥५२७॥

हे दीर्घ नेत्रों वाली, उससे कोमल होकर जिससे वह सुन सके इससे समीप ही खड़ी होकर माता के साथ तू इस प्रकार झूठमूठ का परुष वाणी से वाक्कलह करना ।।५२७।।

अक्लेशोपनतधनः प्रेमप्रह्वो निरर्गलत्यागः ।
भट्टमहानन्दसुतो निधिमूढोऽमन्यया त्वया त्यक्तः ॥५२८॥

(वेश्यामाता की उक्ति—)

'भट्ट आनन्द का लड़का, जिसे बिना प्रयास धन मिलता है, प्रेम से झुका हुआ, निरन्तर पैसा लुटाने वाला स्वयं खजाना बने उसे अभागिन तू ने छोड़ दिया ।।५२८।।

व्यसनोपहतविवेको दैवैकगतिः स्वदारविद्वेषी ।
मामवगणय्य मूढे निर्भर्त्सित एव केशवस्वामी ॥५२९॥

मूढ़े, शौक के मारे जिसका विवेक जाता रहा है ऐसे में ही जिसे प्रेम है और जो अपनी पत्नी से द्वेष रखता है ऐसे केशवस्वामी को, मेरी एक न सुनी और दुत्कार दिया ।।५२९।।

अगणितराजापायोऽविच्छिन्नग्रामः स्वभावतस्त्यागी ।
किमुपेक्षितोऽनुरक्तो ग्रामपतिर्दीक्षितो भवदा ॥५३०॥

जो राजा के डर की परवाह नहीं करता, जिस बराबर आमदनी होती

रहती है और जो स्वभाव ही से त्यागी है ऐसे अनुराग करने वाले मौक्तिक प्रमुख[1] को टेढ़ी बुद्धि वाली तू ने क्या उपेक्षा कर दी ! ॥५३०॥

पितुरेक एव पुत्रश्चतुर्थवयसो गदाभिभूतस्य ।
प्रविगणितप्रभूतार्थो निराकृतो भूरिकामया सोऽपि ॥५३१॥

अति बूढ़े, रोग से पीड़ित, धनी बाप के इकलौते बेटे उस प्रगुणन को भी अपार इच्छा रखने वाली तूने निरस्कार कर दिया ॥५३१॥

स्वकरेण परित्यक्ता त्वया विभूतिः करोमि किं पापा ।
सर्वंभरेणोपनतं वसुदेवमनादरेण पश्यन्त्या ॥५३२॥

इस प्रकार के अतिशय सम्पन्नता वाले वसुदेव को अनादर की दृष्टि से देखती हुई तू ने अपने हाथ से ऐश्वर्य छोड़ दिया मैं पापिन क्या करूँ ! ॥५३२॥

पुरुषान्तरसंपर्कप्रोत्साहितचित्तवृत्ति निरपेक्षम् ।
वसु विसृजति यो रभसात्तस्य न वार्ता त्वया पृष्टा ॥५३३॥

दूसरे कामुक के साथ संपर्क करके जिसकी चित्तवृत्ति प्रोत्साहित हो गई और जो बिना किसी अपेक्षा के धन फेंकता है उससे सहसा तूने समाचार भी नहीं पूछा ॥५३३॥

चित्रादिकलाकुशलः स्मरशास्त्रविचक्षणो वृषप्रकृतिः ।
उपकुर्वन्नपि सर्वो विद्वेषिगणे त्वया क्षिप्तः ॥५३४॥

चित्र आदि कलाओं में कुशल, कामशास्त्र का पण्डित वृष जातीय नायक की प्रकृति वाले[2] और उपकारी भी सब को शत्रु की गणना में डाल दिया ॥५३४॥

१—गुणों की तारीफ करने वालों का सरदार ।

२—वृषप्रकृति—वृषजातीय नायक विशेष । वात्स्यायन के अनुसार सर्वगुणयुक्त सुन्दर चतुर्गुणयुक्त होने के कारण कामिनियों का प्रिय । रतिरहस्य के अनुसार वृषजातीय पुरुष मृदु समुचितभाषी रतिसम्भ्रम प्रियसम्भाषी आत्मार्पणपटु कुशल, परिचर्याशील, स्मरणशील और भोजन रसिक होता है ।

चन्द्रवतीमाभरणं दत्तं मधुसूदनस्य पुत्रेण ।
पश्यन्ती चित्राणामयि रागिणि किं न जिह्रेषि ॥५३५॥

हे रागिणी[1] मधुसूदन के लड़के के दिए आभरण को धारण किए चन्द्रवती को देखती हुई तू क्यों नहीं लज्जित हुई ? ॥५३५॥

ग्रामोत्पत्तिरशेषा प्रविशंसा सिंहराज विनियोगात् ।
मन्मथसेनावासे लघयति ते रूपसौभाग्यम् ॥५३६॥

गाँव में पैदा हुई और सिंहराज के धन से मन्मथसेना के घर में प्रवेश पाती हुई अशोका तेरे रूप के सौभाग्य को तुच्छ कर रही है ॥५३६॥

आस्तामपरो लाभो नृपवल्लभनन्दिसेनतनयेन ।
शिवदेव्या उपचारः क्रियते यस्तेन पर्याप्तम् ॥५३७॥

दूसरा लाभ रहने दो नृप के प्रिय नन्दिसेन का पुत्र शिवदेवी की जो खातिर करता है वो उतनी काफी है ॥५३७॥

पश्येदं धवलगृहं पाशुपताचार्यभावशुद्धेन ।
कारितमनङ्गदेव्या विभूषणं पत्तनस्य सकलस्य ॥५३८॥

सारे नगर के विभूषण इस धवलगृह[2] को देखो, जिसे पाशुपताचार्य भावशुद्ध ने अनङ्गदेवी के लिये बनवाया है ॥५३८॥

आपणिकार्थस्य कुतो राजा लभते चतुर्थमपि भागम् ।
हट्टपतिरामसेनप्रसादतो नर्मदा यमुपभुङ्क्ते ॥५३९॥

बाजार की बिक्री के धन[3] का चौथा हिस्सा भी राजा कहाँ पाता है, जिसे नर्मदा बाजार के ठाकुर रामसेन के अनुग्रह से उपभोग करती है ॥५३९॥

पुंस्त्वाख्यापनकामो न स्त्री न पुमान्किल प्रभुस्वामी ।
अनुबध्नन्नुपहसितस्त्वया जड स्वार्थमनपेक्ष्य ॥५४०॥

अरी मूर्ख! अपने पुंस्त्व जाहिर करने की इच्छा वाला न पुरुष न स्त्री, ऐसा

१—अर्थात् कामुक के प्रति स्वाभाविक अनुराग करने वाली जब कि स्वाभाविक अनुराग गणिका के लिए सर्वथा निषिद्ध है।

२—धवलगृह—किसी धीवादार का बादशा अर्थात् धवल भवन।

३—आपणिकार्थ—यह धन जो बाजार की खरीद बेच के शुल्क या चुंगी के रूप में इकट्ठा होता है जिसे हट्टपति (हट्टपति) राजा को अर्पित कर देता है।

प्रभुस्वामी आग्रह करता हुआ स्वार्थ की अपेक्षा न करके तेरे द्वारा उपहासित हुआ ॥५४०॥

वाजीकरणैकमतिनरनाथानुग्रहेण विख्यातः ।
प्रत्याख्यातः स तथा रविदेवः किंकरत्वमाकाङ्क्षन् ॥५४१॥

वाजीकरण[1] के प्रयोग का जानकार और राजा के अनुग्रह के कारण विख्यात, दास बनना चाहते हुए उस रविदेव को भी उस प्रकार तूने तिरस्कार कर दिया ॥५४१॥

किं कन्दर्पकुटुम्बे जातोऽस्यास्त वशीकरणयोगम् ।
किमप्यवैति सिद्धं येनाकृष्टासि सर्वभावेन ॥५४२॥

क्या यह कामदेव के खानदान में जन्मा है अथवा कोई सिद्ध वशीकरण का उपाय जानता है जिससे सब प्रकार से तू आकृष्ट है ? ॥५४२॥

बाल्ये तावदयोग्या पश्चादपि वृद्धभावपरिभूता ।
तारुण्ये रागहृता यदि गणिका भ्रमतु तद्भिक्षाम् ॥५४३॥

बचपन में तो अयोग्य रहती है बुढ़ापे से परिभूत हो जाने से भी अयोग्य ही हो जाती है और यदि तरुणाई में किसी के अनुराग में फँस गई तब तो गणिका भीख के लिए घूमा करे[2] ॥५४३॥

१—वाजीकरण—वह औषध जिसके सेवन करने पर घोड़े की तरह सुरत कार्य में अधिक स्फूर्ति पैदा करता है। जैसा कि चरक में कहा है—

येन नारीषु सामर्थ्यं वाजिवल्लभते नरः ।
येन चाभ्यधिकं वीर्यं वाजीकरणमेव तत् ॥

२—यहाँ गणिका 'उमराव जान' की ये पंक्तियाँ उद्धरणीय हैं—"यों तो बुढ़ापा हर एक के लिए बुरा है, खास कर औरत के लिए। रंडी के लिए तो खास कर बुढ़ापा दोज़ख (नरक) का नमूना है। बुढ़िया कस्बियाँ, जो लखनऊ के गली-कूचों में वहीं फिरती हैं अगर गौर और बारीकी से देखो तो उनमें बाज़-बाज़ रंडियाँ मिलेंगी। रंडियाँ भी कौन-सी जो कभी ज़मीन पर पैर न रखती थीं, क़यामत बरपा कर रखी थी, हज़ारों भरे-पूरे घर तबाह कर दिए, सैकड़ों जवानों को बरबाद कर दिया, जहाँ जाती थीं लोग आँखें बिछाते थे अब कोई उनकी तरफ आँख उठाकर भी नहीं देखता। पहले जहाँ बैठ जाती थीं लोग वाह-वाह हो जाते थे। अब कोई टके दे तो भी एतबार नहीं। पहले बिन माँगे मोती मिलते थे अब माँगे भीख नहीं मिलती।"

उपनय भाण्डकमेतद्यदर्जितं मामकेन देहेन ।
विदधामि तीर्थयात्रामास्स्व सुखं प्रेयसा सार्धम् ॥५४४॥

जिसे मैंने अपने शरीर से उपार्जन किया है वह धनभाण्ड मुझे ला दे, तीर्थयात्रा करूँगी, तू प्रियतम के साथ सुख से रह ॥५४४॥

(यहाँ तक वेश्यामाता की उक्ति हुई, विकराला बताती है कि फिर वेश्या को उससे क्या कहना चाहिए।)

आर्यजननिन्दितानां पापैकरसप्रकाशनारीणाम् ।
एतावानेव गुणो यदभीष्टसमागमो निरावरणः ॥५४५॥

बिना किसी आवरण (लज्जा-शङ्का) के प्रिय का समागम यही आर्यजनों से निन्दित, पापरस प्रधान नारियों का गुण है ॥५४५॥

नो धनलाभो लाभो लाभः खलु वल्लभेन संयोगः ।
अधिगतादप्यस्मिन्नभवति मनसः प्रमोदाय ॥५४६॥

धन का लाभ कोई लाभ नहीं, लाभ तो प्रिय के साथ समागम है। जिसके प्रति मन में राग हो (अथवा जो आँखों के सामने हो) उससे धन का लाभ मन को प्रसन्न नहीं करता ॥५४६॥

गाढानुरागभिन्नं तारुण्यरसामृतेन संसिक्तम् ।
न भजति सहृदयहृदयं विभवार्जनसम्भवा चिन्ता ॥५४७॥

जिसमें गाढ़ अनुराग मिला हुआ है जो तारुण्य के रस से सम्यक् प्रकार से सींचा गया है ऐसे सहृदय के हृदय पर धन अर्जन की चिन्ता नहीं सवार होती ॥५४७॥

लाभः स एव परमः पर्याप्तं तेन तेन तुष्टास्मि ।
विनिवेश्य यदुत्सङ्गे निक्षिपति मुखे मुखेन ताम्बूलम् ॥५४८॥

वही परम लाभ पर्याप्त है जिससे मैं तुष्ट हो चुकी हूँ। जो कि गोद में बैठा कर मुख से मुख में ताम्बूल अर्पित करता है ॥५४८॥

सुरतश्रमवारिकणान्परिमार्ष्टि निजांशुकेन गात्रेषु ।
यदुरसि निधाय विहसंस्तस्य न मूल्यं वसुन्धरा सकला ॥५४९॥

जो कि गोद में रख कर हँसता हुआ अपने वस्त्र से अङ्गों में सुरत के पसीने को पोंछता है उसका मूल्य सारी पृथ्वी नहीं है ॥५४९॥

शिथिलितनिजदाररतिर्मयि सक्तमना अनन्यकर्तव्यः ।
यदसौ जितनलरूपस्तिरस्कृतं तेन गणिकयाम् ॥५५०॥

जो कि नल के रूप को जीतने वाला यह अपनी भार्या में अनुराग शिथिल करके सब काम छोड़ कर मुझमें मन लगा चुका है उससे मेरे भाग द्वारा गणिका-समुदाय तिरस्कृत है ॥५५० ॥

बहुकुसुमरसास्वादं कुर्वाणा मधुकरी विधिनियोगात् ।
ईदृक्प्रसवविशेषं लभते खलु येन भवति कृतकृत्या ॥५५१॥

बहुत से फूलों का रसास्वादन करती हुई भौंरी विधि की प्रेरणा से कभी ऐसा भी फूल पा जाती है जिससे उसका जीवन सफल हो जाता है ॥५५१॥

अयि सरले तावदिमा उपदेशगिरो विशन्ति कर्णौ ते ।
यावन्नान्तर्भूतं तच्चेतसि मामकं चेतः ॥५५२॥

अरी सीधी-सादी, तेरी ये उपदेश की बातें तब तक मेरे कानों में पैठतीं जब तक मेरा मन उसके मन में अन्तर्गत हुआ न होता ॥५५२॥

श्रीरस्तु दुर्गतिर्वा वेश्मनि वासो महत्यरण्ये वा ।
स्वर्लोके नरके वा किं बहुना तेन मे सार्धम् ॥५५३॥

बहुत कहने से क्या ! उसके साथ मुझे धन हो अथवा दरिद्रता, घर में रहना पड़े अथवा जंगल में रहना पड़े, स्वर्ग जाना हो अथवा नरक में ॥५५३॥

इदमास्तेऽलंकरणं दुर्जननि गृहाण किं ममैतेन ।
तेनैव भूषिताहं गुणनिधिना भट्टपुत्रेण ॥५५४॥

दुष्ट माता यह है गहना ले ले, मुझे इसकी क्या जरूरत ! मैं तो गुणों के निधि उसी भट्टपुत्र से भूषित हूँ ॥५५४॥

उचितस्थाननियुक्तान्यपनीय विभूषणानि सावेगम् ।
एवमभिधाय यास्यसि मातुः पुरतः समुत्सृज्य ॥५५५॥

यह कह कर शरीर के उचित स्थानों में लगे गहनों को झटके से निकाल माता के सामने रख कर चली जाना ॥५५५॥

इति रागात्स श्रुत्वा चेतसि कुरुते कदाचिदेवमिदम् ।
स्नेहाधिष्ठितमनसामविधेयं नास्ति नारीणाम् ॥५५६॥

यह सुनकर प्रेम से वह कदाचित् अपने मन में यह करे कि अनुराग से

त्याग मन वाली स्त्रियों के लिए कुछ भी असाध्य नहीं ॥५५६॥

जननीं जन्मस्थानं बान्धववर्गं वसूनि जीवं च ।
पुरुषविशेषासक्ताः सीमन्तिन्यस्तृणाय मन्यन्ते ॥५५७॥

किसी खास आदमी में आसक्त स्त्रियाँ जननी, जन्मस्थान, बन्धु-बान्धव, धन, प्राण सब कुछ तृण-समान समझने लगती हैं ॥५५७॥

रणशिरसि हते वज्रे वज्रोपमयन्त्रनिर्गतग्राव्णा ।
प्राणा मुमोच दयिता न मंत्रविधिना हृता रामा ॥५५८॥

युद्धस्थल में वज्र के समान यन्त्र से निकले पत्थर के द्वारा वज्र[1] के मारे जाने पर दयिता ने (शोक में) अपना प्राण त्याग दिया, वह किसी मंत्र के प्रयोग से आकृष्ट न थी ॥५५८॥

कालवशेनायासीत्पंचत्वं दाक्षिणात्यमणिकंठः ।
प्रेमोपगता वेश्या तेनैव समं जगाम भस्मत्वम् ॥५५९॥

दक्षिण देश का वासी मणिकण्ठ कालवश पञ्चत्व को प्राप्त हुआ और उसके प्रेम के वशीभूत वेश्या उसी के साथ चिता में जल कर राख हुई ॥५५९॥

भास्करवर्मणि याते सुरवसतिं वारितापि भूपतिना ।
तद्दुःखमसहमाना प्रविवेश विलासिनी दहनम् ॥५६०॥

भास्कर-वर्मा के स्वर्ग सिधारने पर राजा से रोके जाने पर भी उसका विरहदुःख न सह पाती हुई वेश्या ने अग्नि में प्रवेश कर लिया ॥५६० ॥

ज्वालाकरालहुतभुजि मम्माचार्ये पपात नरसिंहः ।
तस्मिन्नेव शरीरं निजमजुहोच्छोकपीडिता वेश्या ॥५६१॥

मम्माचार्य[2] नरसिंह अग्नि की कराल ज्वाला में गिर गया और शोक पीड़िता वेश्या ने उसी अग्नि में अपना शरीर स्वाहा कर दिया ॥५६१॥

1—श्री टीकाकार श्री त्रिदिवनाथ राय के अनुसार यह 'वज्र' सम्भवतः ललितादित्य के दामाद 'वज्र' की कथा का उल्लिखित है (राजतरंगिणी)।

2—निर्ग्रन्थ या दिगम्बर जैनाचार्य। दिगम्बर जैनी के अनुसार नग्न (वस्त्र रहित) रहना और भिक्षा माँगना आवश्यक कृत्य है।

प्रीतिभराक्रान्तमतिस्त्रिदशालयजीविकां क्रमोपगताम् ।
मञ्जीघनारं मुक्त्वा जीहल्ला मिथपुत्रमा मृत्यो ॥५

प्रीति के भार से आक्रान्त बुद्धि वाली जीहल्ला ने क्रमागत, देव प
गत जीविका छोड़ कर मह विष्णु (एक प्रत्यन्त) प्रामत्य जीहल्ला ि
पुत्र) की मृत्यु-पर्यन्त स्वीकार कर लिया ॥५६२॥

देशान्तरादुपेता प्रसादमात्रेण वीक्षिता वनिता ।
तत्याज न पादयुगं समरे निहतस्य वामदेवस्य ॥५६

दूसरे देश से आई और सिर्फ अनुग्रह की दृष्टि से देखी गई वनिता
में मारे गए वामदेव के पैरों को न छोड़ा ॥५६३॥

भट्टकदम्बकतनये याते वसतिं परेतनाथस्य ।
चक्रे देहत्यागं रणदेवी वारयोषितां मुख्या ॥५६४॥

भट्ट कदम्बक का लड़का जब यमपुरी को सिधारा तब वेश्याओं मे
रणदेवी ने प्राण त्याग दिया ॥५६४॥

अस्यामेव नगर्यां प्रमिणमदास्कालसंचितमशेषम ।
प्रेम्णाकृष्टा गणिका मिश्रात्मजनीलकंठाय ॥५६५

इसी (वाराणसी) नगरी में प्रेम से आकृष्ट गणिका ने बहुत
संचित अपना सारा धन मिश्र के लड़के नीलकण्ठ के लिए अर्
दिया ॥५६५॥

इयमपि मयि विहितास्था मातृवचःश्रवणकलुषिता क्व गत
त्यक्ताभरणं सत प्रविजृम्भितमन्युसंवेगा ॥५

मुझमें विश्वास करने वाली यह भी माता की बात से बिगड़
गहने उतार कर क्रोध के संवेग से यह आज न जाने कहाँ चली गई ॥५६६॥

उत्सृष्टाभरणा परित्येषितमातृमुक्तपरिवाराम् ।
संतर्पयामि संप्रति सर्वस्वेनापि हरिणाक्षीम ॥५

जिस मालती ने मेरे लिए सारे गहने छोड़ दिए, माता भी जिस
साथ छोड़ कर चली गई, अब मैं उस हरिण के समान नयनों वाली को
देकर प्रसन्न करूँगा ॥५६७॥

गेहेन किं प्रयोजनमन्यैरपि बन्धुदारपरिवारैः ।
संसारग्रहकारणमेका खलु मालती मम हि ॥५६८॥

घर से और दूसरे बन्धु-बान्धव, स्त्री तथा परिवार से क्या मतलब ! क्योंकि एक मालती ही मेरे संसार में रहने का कारण है ॥५६८॥

अमृतकरावयवैरिव घटिता सा दृढतरं परिष्वज्य ।
चेतो नयति समत्वं ब्रह्मण आनन्दरूपस्य ॥५६९॥

मानों चन्द्र के अवयवों से गढ़ी हुई जो (मालती) कस कर आलिङ्गन करने पर चित्त को आनन्दमय ब्रह्म की समता में पहुँचा देती है ॥५६९॥

आविर्भवदात्मभवक्षोभक्षतधीरता घनं रभसात् ।
विगलितकुचयुगलावृतिरालिंगति मालती धन्यम् ॥५७०॥

प्रकट होते हुए कामदेव के द्वारा किए गए क्षोभ से धैर्य के नष्ट हो जाने पर भी स्थिति में जिसके दोनों स्तनों का आवरण हट पड़ता है वही मालती धन्य पुरुष को आलिङ्गन करती है ॥५७०॥

निर्दयतरौष्ठखण्डनसव्यग्रहुंकारमूर्च्छितं सुरते ।
अहहेति यचस्तस्या अपुण्यभाजो न शृण्वंति ॥५७१॥

जिन्होंने पुण्य नहीं कमाया है वे सुरत के समय दया-रहित होकर ओठ के कटने की व्यथा से युक्त, हुंकार के कारण मूर्च्छित उसकी 'अहह' इस आवाज को नहीं सुनते ॥५७१॥

स्मृतिजमजनितविकृतिव्रततिच्छन्नं करोति संसारम् ।
प्रावढसुरतसंगरविमर्दसंक्षोभिता दयिता ॥५७२॥

दृढता पकड़ने रहने वाले रतियुद्ध के विमर्द के कारण व्याकुल प्रिया (मालती) संसार को कामजनित विकृतियों की लताओं से ढक लेती है ॥५७२॥

गाढतरारिलष्टवपुर्मज्जते यान्ता प्रमोदसंमोहम् ।
शिथिलीकृता तु किंचिद्विविधविकारं समुद्भवति ॥५७३॥

प्रिया जब दृढ़ आलिङ्गन में जकड़ दी जाती है तब आनन्द में विभोर हो जाती है और थोड़ा भी शिथिल कर देने पर नाना प्रकार के विकार प्रकट करने लगती है ॥५७३॥

सन्त्यपरा अपि सत्यं पुरुषोचितकर्मपण्डिताः प्रमदाः ।
सृष्टा तया तु नियतं विपरीतरतक्रियागोष्ठी ॥५७४॥

सत्य है कि पुरुषोचित के काम में बहुत-सी और भी प्रमदाएँ हैं तथापि इस मालती ने निश्चय ही विपरीत सुरत के कार्यों का निर्माण किया है ॥५७४॥

तन्त्रीवाद्यविशेषानुद्दामानन्यज मनस्तस्याः ।
कुहरितरेचितकम्पितसम्पादननैपुणं करोति जडान् ॥५७५॥

उद्दाम कामवेग वाली उस मालती के रति-कालिक कुहरित (रतिकाल का कूजन, वीणा पक्ष में 'गिटकरी') रेचित (रतिकालीन निःश्वसित, पक्ष में मींड) कम्पित (रतिकालीन सिहरन, पक्ष में झंकार) प्रभृति के सम्पादन का कौशल तन्त्रीवाद्य प्रभृति वाद्य यंत्रों को जड़ या बेसुरा बना डालता है ॥५७५॥

ललितांगहारजृम्भितवलितस्मितवेपनानि मालत्याः ।
पश्यञ्जहाति कामो रतिमोहनचेष्टितेषु बहुमानम् ॥५७६॥

मालती के शोभन अङ्गविक्षेप, जँभाई, चाल मुस्कान और कम्पन को देखता हुआ काम अपनी भार्या रति की मोह उत्पन्न करने वाली चेष्टाओं में मान छोड़ देता है ॥५७६॥

न ग्राम्यं परिहसितं नातिभ्रमतरलितोऽक्षिविक्षेपः ।
मुखयोगनिरोधो दोहददानं न पुष्पबाणस्य ॥५७७॥

वैराग्य की जन्मभूमि और भारी यौवन के भार से मन्द चाल से चलने वाली उस मालती के परिहास (हँसी-मजाक) में कोई गँवारपन नहीं है चंचल आँखों का विक्षेप विभ्रमहीन नहीं है, उसके मुख में मुख लगाने पर कामदेव की दोहदस्थान[1] (अर्थात् पूर्ण तृप्ति) नहीं होता ॥५७७॥

नार्थपरो सधनरसो न पराभववेदने विचक्षणता ।
नासौष्ठवं प्रसंगे मोक्षणगुणकीर्तनेषु मालत्याः ॥५७८॥

उसके भावों का अनुराग धनपरक नहीं है, दूसरों के अभिनय पर अन्न

1—गर्भिणी स्त्री की खाने पीने या देने की स्वाभाविक अभिरुचि को 'दोहद' कहते हैं। उस रुचि के पूरण उसके अभिलषित वस्तु का सम्पादन 'दोहदप्रदान' कहलाता है। यह संस्कृत-साहित्य में वृक्षों को समयकुसुमित करने के लिए

लेने में चतुर नहीं है,[1] काम कला के प्रसंग में कोई प्रचारणा नहीं करती और दूसरों के गुणगान में वाणी की प्रचारणा नहीं होने देती ॥५७८॥

नापरपुरुषश्लाघा न त्यागः कालदेशवैषम्ये ।
वैदग्ध्यजमभ्यासं स्वपनमरेण मन्दयातायाः ॥५७९॥

मुझे छोड़ दूसरे पुरुष की तारीफ नहीं करती, समय और देश के अनुसार धन का त्याग भी नहीं करती[2] ॥५७९॥

कविसमय के रूप में 'दोहदराग' प्रसिद्ध है जो दस वृक्षों के कारण दस भेदों से कहा जाता है—

स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्
पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम् ।
मंदारो नर्मवाक्यात् पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाताच्चूतो
गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात् कर्णिकारः ॥

प्रस्तुत आर्या के उत्तरार्ध का भाव यह है कि जब तक उस वृक्ष का दोहदराग तब नहीं होता तब मालती पुष्प से अलंकृत होती है। उपर्युक्त श्लोक में उक्त स्पर्शादि दसविध दोहदराग को कवि ने एक ही 'पुष्प' शब्द से सङ्कलित कर लिया है। तात्पर्य यह है कि मालती के स्पर्श, गण्डूषसेक, पादाघात, वीक्षण, आलिङ्गन, नर्मवाक्य, पटुमृदु हसन, मुखवात, गीत और सामने नर्तन से क्रमशः उन्हीं वृक्ष का 'दोहदराग' होता है और इनके अभाव में उनका 'दोहदराग' नहीं होता।

१—यह इतनी भोली भाली है कि यह नहीं जान पाती कि कौन किस तात्पर्य से उसके साथ व्यवहार करता है अर्थात् प्रतिभामूलक चतुरता उसमें लेशमात्र भी नहीं।

२—देश और काल के अनुसार वस्त्राभूषण आदि प्रदान की कला है जो 'काम्य प्रयोग' कहलाती है—

देशकालानुगुणा वस्त्रमाल्याभरणाभिः शोभार्थं शरीरस्य प्रसाधनाद्यत्ता।

मृगग्रहपरिष्वजनं हंससमाश्लेषणं नकुलपरिरम्भम् ।
पारावतावगूहनमाचरति सुमध्यमा यथावसरम् ॥५८०॥

शोभन मध्यभाग वाली वह उपयुक्त समय से कभी मृगराग-आलिङ्गन,[१] कभी हंस-समाश्लेषण,[२] कभी नकुल-परिरम्भ[३] और कभी कपोतावगूहन[४] का प्रयोग करती है ॥५८०॥

तद्वक्रवचन हास्यव्यवहृतिहृतमानसस्य जायते ।
अनुकूलसुन्दरा अपि भरणीया केवलं दारा ॥५८१॥

उसके वक्रोक्तियुक्त हँसी-मजाक के व्यवहारों से हृत मन वाले व्यक्ति के लिए परिणीता भार्या अनुकूल और सुन्दर होने पर भी केवल भरण-पोषण के योग्य रह जाती है[५] ॥५८१॥

सूचयति पृथक्करणं भ्रातॄणां वक्ति विषमशीलत्वम् ।
विवृणोति गृहविसंस्थामभिनन्दति पितृकुलस्य गुणवत्ताम् ॥५८२॥

भाइयों को आपस में अलग-अलग कर देती है परस्पर-प्रतिकूल स्वभाव पैदा कर देती है घर की स्थिति गड़बड़ा देती है, अपने पिता के घर की प्रशंसा करती है ॥५८२॥

१-४—यहाँ विविध आलिङ्गनों की चर्चा है। वात्स्यायन कामसूत्र में इनका निर्देश नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि आलिङ्गन अज्ञात है। स्वसंगम्य होने के कारण आचार्यों ने इन्हें नहीं कहा है। मृगराग-आलिङ्गन—जकड़ कर जैसे पकड़ कर आलिङ्गन करना है अर्थात् देह में देह समाहित करके स्त्री के कंधे पर माथा रखना। हंसालिंगन—हंस की तरह बार बार मिलना और अलग होना। नकुलालिंगन—नकुल की तरह पैर तक एक दूसरे के शरीर में लिपट जाना। मीनाल से इसका उल्लेख श्रीमद्भागवत में प्राप्त है—

'गाढ़दग्धं घनस्नेह मुग्धदृष्ट्या स्फुरत्स्पृहम्।
आलिलिङ्ग चिरं कान्ता नकुलो नकुलीमिव (६।१०८।१३-१४)

पारावतावगूहन—कबूतर के समान आमने सामने बैठ मुँह में मुँह का मिलाना।

५—तात्पर्य यह कि कार्यातुरा आदमी जब इसके हँसी मजाक के फेर में पड़ जाता है तो विवाह करके लाई हुई पत्नी को सिर्फ अन्न वस्त्र देकर भरणपोषण मात्र करता जाता है उसे त्याग कर इसी में रमण करता जाता है।

अन्यसुतपक्षपातं कथयति मातुस्तिरस्करोति पतिम् ।
पार्श्वनिमग्ना जाया मा यातु विमुच्य कार्मुकं मदनः ॥५८३॥

कहती है कि आप दूसरे लड़के का पक्षपात करती हैं, पति का तिरस्कार करती है। इस प्रकार कामदेव अपना धनुष छोड़ कर भी बगल में पड़ी पत्नी की पूजा करवाता है ॥५८३॥

एवं कृतेऽपि सुन्दरि यदि तिष्ठति नायकः प्रकृत्यैव ।
इत्थं पथि परिभोगफलसख्या नैपुण्येन वक्तव्यः ॥५८४॥

सुन्दरि, ऐसा करने पर भी यदि नायक स्वभावस्थ ही रहे तो तुम्हारी दूती को उसके निकट निपुणता के साथ रास्ते में प्यार के द्वारा (आभूषण) आदि के अपहरण की बात इस भाव से करनी चाहिए¹ ॥५८४॥

गृहकार्यव्यग्रतया चित्तग्रहणाय वा कुलस्त्रीणाम् ।
नायाते भवति सखी प्रावृड्घनकलुषिते दिशां चक्रे ॥५८५॥

'घर के काम-काज में फंस जाने के कारण अथवा कुलवन्ती स्त्रियों के मन रखने के निमित्त आपके नहीं आने पर सखी, जब दिशाएं बरसने वाले मेघों से कलुषित हो गई ॥५८५॥

प्रग्रीवकशयनगता स्फारीभवदात्मसम्भवविकारा ।
त्वद्वर्त्मनिहितनेत्रा गीतामन्येन गीतिकामशृणोत् ॥५८६॥

कोठे की शय्या पर जाकर लेट गई उसका काम-विकार बिल्कुल बढ़ने लगा² और उसकी आँखें तुम्हारे राह में बिछ गई तभी उसने किसी के द्वारा गाई हुई यह गीतिका सुनी ॥५८६॥

'यदि जीवितेन कृत्यं सम्भावय विरहिणि प्रियं तूर्णम् ।
घनरसितस्य हि पुरतः कदलीदलकोमलः कुलिशपातः ॥५८७॥

विरहिणि' यदि तुम्हें अपने जीवन से कुछ काम है तो शीघ्र ही प्रिय का अभिसरण कर क्योंकि मेघों की गड़गड़ाहट के सामने वज्रपात भी केले के पत्ते के समान कोमल हो जाता है ॥५८७॥

१—विदग्धता से भरी दूती का अभिप्राय कि यदि आभूषण आदि उपाय निष्फल हो जाय तब तुम अन्य उपाय आरम्भ करना। कामशास्त्र के पैठिक अधिकरण में 'पारदारिक' का यह उपाय निर्दिष्ट एवं वर्णित है।

२—'आत्मसम्भव' से काम-विकार द्योतित है। कालिदास लिखते हैं—

आकर्ण्य मामवादीदन्यास्ता युवतयः सखि कठोराः ।
या विषहन्ते दीर्घप्रियतमविरहानलासारम् ॥५८८॥

सुन कर वह मुझसे बोली कि सखि, वे कठोर-प्रकृति युवतियाँ धन्य हैं जो प्रियतम के विरहाग्नि की वर्षा देर तक सह लेती हैं ॥५८८॥

मम तु दिनान्तरितेऽपि प्रेयसि लब्ध्वा सहायसामग्रीम् ।
विदधाति मकरकेतनउत्कलिकाविधुरितम् हृदयम् ॥५८९॥

मेरे लिए तो एक दिनभर भी प्यारे के व्यवधान कर देने पर मेरी सहायक सामग्री न पाकर कामदेव मेरे हृदय को उत्कण्ठा-विधुर करने लग जाता है ॥५८९॥

उत्कण्ठयति भृशं मां समीरणो बकुलकुसुमगन्धाढ्यः ।
प्रच्यावयन्ति धैर्यं मधुरध्वनिभिः कलापभृतः ॥५९०॥

मौलसिरी के फूलों को पाकर तीव्र समीर अत्यधिक उत्सुकता उत्पन्न करता है और मयूर अपनी मधुर ध्वनियों से धीरज च्युत करने लगे हैं ॥५९०॥

सतडिद्बलाकामसिताम्बुधरावलीं समुद्यन्तीम् ।
उत्सहते सा वीक्षितुमविरलमालिङ्गितो यया कान्तः ॥५९१॥

बिजली और बकपंक्ति के साथ आकाश में उड़ान लेती हुई काले-काले बादलों की पंक्ति वही देखने का उत्साह कर सकती है जिसने पूर्णरूप से प्रिय का आलिङ्गन कर लिया है ॥५९१॥

स्वेच्छागमनलघुत्वं बहुलापायं निशासु पन्थानम् ।
न विचारयति महिला प्रमोष्टजनसंगमाकुला ॥५९२॥

प्रिय जन के मिलन की उत्सुकता में मेरी महिलाएँ स्वेच्छा से चल पड़ने की लघुता को और रातों में बहुत बहुत विघ्नों वाले मार्ग को परवाह नहीं करतीं ॥५९२॥

'मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः ।
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किम्पुनर्दूरसंस्थे ॥'

बालरामायण का यह पद्यार्थ दर्शनीय है—

'विरहमविरहं वा मानुषं पश्यि मेघाः ।
सुखिनमसुखिनं वा सर्वमुत्कण्ठयन्ति ।'

प्रियतो भूषणशोभा त्वरयति मे मानसं मनोजन्मा ।

रंजयति मनो नितरां कलधौतनिवेशितं रत्नम् ॥५६३॥

प्रत गहन पहना, मेरे मन का कामदेव त्वरित कर रहा है सोने में जड़ा हुआ रत्न मन को ज्यादा भाता है' ॥५६३॥

घनजलदावृतककुभि प्रदोषसमये प्रदोषगमनाय ।

विदधानया कुबुद्धिं रागान्धे किमिदमारब्धम् ॥५६४॥

उसे गमनोद्यत देख उसकी सखी ने पद्य वचन का प्रयोग करते हुए कहा—जब कि घन मेघ दिशाओं में चारों ओर आच्छन्न हैं ऐसे प्रदोष काल में (अर्थात् जिसने पहले वाले गहन आदि दोषों से युक्त अवसर होगा अर्थात् रात्रि का आरम्भ) गमन के लिए कुबुद्धि पैदा करके अरी प्रेम की अन्धी, तू ने क्या आरम्भ किया है ! ॥५६४॥

वचनप्रपंचसारं जायायिसमन्यदेशसम्बन्धम् ।

पुरुषमभिगन्तुकामा नवेयमभिसारिका दृष्टा ॥५६५॥

ऐसे पुरुष के प्रति जो छिछ बातें बनाता है अपनी पत्नी से अलग रहता और दूर स्थान पर रहता है गमन की इच्छा वाली यह एक नये ढंग की अभिसारिका देख पड़ी है (अथवा ऐसी अभिसारिका नहीं देखी नहीं !) ॥५६५॥

जलधौतविलेपनां गलदम्भोबिन्दुलुलितकेशान्ताम् ।

तिम्यत्तनुलीनावृतिचण्डानिलसलिलपातकंटकिताम् ॥५६६॥

वर्षा के जल से धुले अंगराग से युक्त बालों से टपकते जल से भीगे केशों वाली अस्त-व्यस्त हो जायेगी शरीर भीगा जान पड़ेगा वस्त्र शरीर पर चिपके नहीं रहेगा, प्रचण्ड हवा और पानी के लगने से रोमांच होंगे ॥५६६॥

अविभावितसमविषमप्रसरालदंघ्रि सहायकरलग्नाम् ।

पुरतोऽध्वन प्रमाणं मुहुर्मुहु साध्वसेन प्रच्छन्तीम् ॥५६७॥

ऊँची-नीची जमीन मालूम न पड़ेगी, पैर लड़खड़ाने लगेंगे साथी के हाथ का सहारा लेगी आगे रास्ते की दूरी का बार-बार डर के मारे पूछेगी ॥५६७॥

अन्यस्त्रीषु च पत्यौ व्यग्रे गुरुस्नेहेण पथमपि प्राप्ताम् ।

उन्मार्गयोऽम्यपरिजननिर्यदितामिति विकल्प्य सह सचिवे ॥५६८॥

बहुत कष्ट से किसी प्रकार पहुंच भी गई तो उस समय घर के द्वार पर

अपने पास पौजन भी अधर होंगे तब घर की दूसरी स्त्रियाँ और पति यह शंका करके व्यग्र हो उठेंगे कि ॥५९८॥

किं प्रेम्णोऽयं महिमा किमुतानल्पं धनप्रलोभस्य ।

किं वाऽन्यतः प्रवृत्ता प्रवेरिता वासवर्पेण ॥५९९॥

यह क्या प्रेम की महिमा है अथवा धन के अधिक लोभ की सीमा है या किसी दूसरे काम से इधर-उधर से आती हुई यहाँ पहुँची है ॥५९९॥

संनिहितकलत्राणामनुचितमिति बाह्यलोकसंवदनात् ।

अन्यस्मिन्नुदवसिते विसर्जितामिष्टमालतीकेन ॥६००॥

पड़ोसी लोग जब आपस में बात करेंगे कि 'जिनके पास स्त्री है उनके लिये यह (वेश्या समागम) अनुचित है' तब प्रिय मालती प्रिय है यह व्यक्ति तुझे दूसरे घर में मिलता होगा ॥६००॥

लोकेन हास्यमाना बिभ्राणा वाससी जलक्लिन्ने ।

रूपमदमुत्सृजन्ती वैलक्ष्याद्विहसितेन नतवदना ॥६०१॥

लोग तुझ पर हँसेंगे, उस समय तेरे कपड़े भीगे होंगे तू अपने रूप का गर्व छोड़ती रहेगी तथा लज्जा के मारे लोगों की खिल्ली से तेरा मुँह झुक जायगा ॥६०१॥

पश्चात्तापगृहीता कण्टककर्दमविमिश्रपादतला ।

मद्वचः स्मरन्ती द्रक्ष्यस्यभिसारिका सुकर्माणि ॥६०२॥

तू पछताएगी काँटे और कीचड़ के मेलों से तेरे तलवे छलनी हो जायेंगे, तब मेरी बात तुझे याद आयगी ऐसी दशा में भी तुझ अभिसारिका को वे पुरस्कार लाभ देखेंगे ॥६०२॥

इति परुषमभिदधाना मातरमवधीर्य युष्मदभ्याशम् ।

चौरहृतका व्रजन्ती विद्रावितरक्षिणः सखी मुमुषुः ॥६०३॥

यह कहने वाली माता को छोड़कर तुम्हारे पास आते हुए भी तुम्हें सखी को गुंडों ने रक्षकों को भगा कर लूट लिया ॥६०३॥

एषा प्रपञ्चरचना यदि भवति मृषा पुनः पुरस्तस्य ।

वणिगिदमुपेत्य वक्ष्यति सहायसंचोदितो भवतीम् ॥६०४॥

यदि यह रचना उसके सामने असत्य हो जाय तो तुम्हारे किसी

महोली के द्वारा भेजा हुआ पत्रिका लाकर तुमसे यह बोलेगा ॥६०४॥

पूर्वं हस्तस्योपरि मुक्ताहारस्य केयरास्मिन्नस्त् ।
परिचारिकया नीता अन्यानपि मृगयते व्ययस्य कृते ॥६०५॥

'पहले जो मुक्ताहार मेरे पास धरोहर रखता था उस पर तुम्हारी दासी तीस कल्प (उस काल के तीस रुपए) ले गई और अब तुम्हारे प्रिय के लिए और भी रुपये खोजती है ॥६०५॥

यत् घनसारकुंकुमचन्दनधूपादिमुत्कर्कं दत्तम् ।
तत्सम्पुटके लिखितं शृणु पिण्डलिकां करोमि ते पुरतः ॥६०६॥

जो कि कपूर, कुंकुम, चन्दन, धूप वगैरह मैंने उधार में दिया है वह सब खाते में लिख रखा है, पुनः तेरे सामने हिसाब (पिण्डलिका) करता हूँ ॥६०६॥

एतावन्तं कालं नावष्टम्यार्पिता मया त्वमसि ।
रिक्तं भाण्डस्थानं साम्प्रतमिति याचना क्रियते ॥६०७॥

अब तक मैंने तुमसे इसके बारे में कुछ भी नहीं कहा है किन्तु अभी तो बरतन ही खाली है, इसलिए मांग कर रहा हूँ ॥६०७॥

एवंवादिनि तस्मिन्नपि विलज्जानता क्षणं स्थित्वा ।
प्रियपूर्वं प्रणयितया वाचा वाच्यः सवैलक्ष्यम् ॥६०८॥

जब वह इस प्रकार कहे तब उसे कुछ शर्म के कारण झुकी आँखों से ठहरकर लज्जित आवाज में प्रिय और विनय पूर्वक कहना ॥६०८॥

हारस्तथैव तिष्ठतु मध्यस्थस्यार्पितेन मूल्येन ।
शेषं ततो मद यतद्दिवसै पूरयिष्यामि ॥६०९॥

किसी मध्यस्थ के हाथ उस कीमत पर हार भी गिरवी रख दो ... दो-तीन दिनों में बाकी फिर पूरा पूरा दूँगी ॥६०९॥

इयमपि कपटप्रणयना पूर्वतमा चेतसेदमभिधेयम् ।
आशंसन्तेऽनिष्टं यातरुदया हि याचिताः प्रायः ॥६१०॥

यह कपटप्रणयना भी ... तब ... प्रायः मांगने के कारण हो, उन पर आप अनिष्ट की आशंका करने लगते हैं ॥६१०॥

अपटुशरीरे स्वामिनि विज्ञप्ता भगवती मया गत्वा ।
भवतु निरामयदेही जीवितनाथस्तव प्रसादेन ॥६११॥

मैंने देवी के मन्दिर में जाकर मनौती की कि मेरे प्राणनाथ तेरी कृपा से स्वस्थ हो जांय ॥६११॥

सम्पन्नवाञ्छितार्था बल्युपहारेण पूजयिष्यामि ।
सामग्रीविरहेण तु न वितीर्णस्तत्र मे मनसि शंका ॥६१२॥

इच्छा पूरी होने पर पूजा के उपहार मैं चढ़ाऊँगी और सामग्री के अभाव के कारण (देवी के) उपहार नहीं चढ़ाया इस कारण मेरे मन में शङ्का बनी रहती है ॥६१२॥

अस्मिन्व्यर्थीभूते रिक्तीकृतजीर्णवेश्मनो वाह्यम् ।
उत्पाद्य मन्दगामिनि सर्वविनाशः प्रकाशमुपनेयः ॥६१३॥

यह दाव भी जब काम न कर सके तो हे मन्दगामिनि, कोई घर खाली करके उसमें आग लगवा देना और सब के सामने फैलाना कि तेरा सब कुछ नष्ट हो गया ॥६१३॥

स्निग्धत्वमसं बुद्धा सहभोजनशयनवसनलिंगेन ।
एभिरुपायद्वारैर्वान्त विरिक्तस्त्वया कार्यः ॥६१४॥

साथ भोजन, साथ शयन और साथ ही रहने के चिह्न से यह मालूम करके कि कामुक ज्यादा स्नेह करने लगा है तू इन (निर्दिष्ट) उपायों[1] द्वारा उसका सारा धन ऐंठ लेना ॥६१४॥

वार्धुपिककदर्थनया भोगध्वंसात्सहायवचनैर्वा ।
अवधारितेऽपि निपुणं परगामि विलुप्तसारत्वे ॥६१५॥

रे प्रशस्त अंगों वाली, कर्ज देने वाले सूदखोरी की भर्त्सना से, व्यापार के नष्ट हो जाने से अथवा उसके साथियों की बातों से उसके सत्वरहित होने का पूरा पता लग जाने पर भी ॥६१५॥

१—माता के साथ पुत्री का मिथ्याकलह मिथ्याकलह के समय अलंकार पहन मार्ग में चोरी द्वारा अलंकारों का अपहरण, बनिया का कर्ज देवता को पूजा करने के लिए मनौती इत्यादि ।

पथ्यवचोनिर्धरणमायत्यामीहितोपघातीति ।
यत्नादमी विधेया गम्यस्य विमोक्षणोपायाः ॥६१६॥

(उसके निष्कासनार्थ) कड़वी बातों का प्रयोग आगे आने वाले समय में परम अभीष्ट की सिद्धि का बाधक होगा' ॥६१६॥

पृथगासननिर्देशः प्रत्युत्थानादिकेऽपि शैथिल्यम् ।
सासूयसोपहासा आलापा मर्मवेधि परिहसितम् ॥६१७॥

(उसके आने पर) अलग आसन की ओर बैठने के लिए इशारा, प्रत्युत्थान आदि में भी शिथिलता, बातें ईर्ष्या और उपहास से भरी, मर्म को बेध देने वाला मज़ाक ॥६१७॥

तत्प्रतिपक्षश्लाघा तदधिकगुणरागकीर्तनावृत्तिः ।
भवति प्रियं मामादनय बहुमनाप्यिन्वद्रूपणाख्यानम् ॥६१८॥

उसके विरोधी की प्रशंसा, उसके विरोधी के गुणों में अपना अनुराग का बार-बार कीर्तन, यह हमेशा प्रिय बोलने तब 'बहुत बक-बक करने वाला' यह दोष लगाना ॥६१८॥

वचनान्तरोपपातैस्तत्प्रस्तुतसंकथासमाक्षेपः ।
तद्व्यवहारजुगुप्सा तद्व्यपदेशस्तदर्थविस्त्यागः ॥६१९॥

दूसरी बातों को बीच में डालकर उसकी चल रही बातचीत को उड़ा देना, उसके व्यवहारों से घृणा दिखाना, उसके समीप से हटना ॥६१९॥

व्याजेन पालहरणं स्वापावसरे विवर्तनं शयने ।
निद्राभिनयस्थापनमुद्वेगः संमुखीभवने ॥६२०॥

दिन के समय किसी बहाने से काम के समय पलंग पर मुँह फेर कर सो जाना, नींद का ढोंग करना, सामने सम्मुख होने पर उद्विग्न होना ॥६२०॥

गुह्यस्पर्शनिरोधः स्वमायसंस्था रताभियोगेषु ।
चुम्बति वदनविकम्पनमालिंगति कठिनगात्रसंकोचः ॥६२१॥

गुप्त अंग के स्पर्श पर रोक, सुरत प्रसंग करने पर भी सुप्त हो रहना, चुम्बन की चेष्टा करने पर मुख को दूसरी ओर से फेर लेना, आलिंगन करने पर कठिन हो जाना और अंगों को सिकोड़ लेना ॥६२१॥

असहिष्णुत्वं ग्रहणनखरदशनक्षतिप्रसंगेषु ।
दीर्घरते निर्वेदः स्वपिहीति रताभियोगके भूयः ॥६२२॥

प्रहार, नखों और दन्तों के क्षतों के प्रसंगों में असहिष्णुता, देर तक रति में खिन्नता, रति के लिए बार-बार प्रार्थना करने पर 'सोओ' कहना ॥६२२॥

तदयुक्तावनुबन्धो वैदग्ध्यविकासने तथा हासः ।
रात्र्यवसानस्पृहया पुनः पुनर्यामिकप्रश्नः ॥६२३॥

अपनी निपुणता जाहिर करे तो हंस पड़ना, रात बीत जाने की इच्छा से बार-बार पहरुवे से प्रश्न ॥६२३॥

निःसरणं वासगृहादुषसि समुत्थाय तल्पतस्त्वरया ।
सरभसमुदीरयन्त्या निशा प्रभाता प्रभातेति ॥६२४॥

रात बीत गई, बीत गई, यह कहते हुए भोर होने पर जल्दी से सेज छोड़ कर कोठरी से निकल जाना[1] ॥६२४॥

उभयेच्छया प्रवृत्तं निरुपाधि प्रेम भवति रमणीयम् । ४
अन्योन्यसमासक्ता संस्थानमिवाभिजातमणिहेम्नोः ॥६२५॥

'जो प्रेम (नायक और नायिका) दोनों की चाह से छल-कपट छोड़ कर किया जाता है वही मजा देता है जैसे खान में पैदा हुए मणि और सोने का परस्पर संयोग होने पर ही बना हुआ अलंकार अच्छा लगता है ॥६२५॥

यस्त्वेकाश्रयरागः परिभवदौर्बल्यदैन्यनाशानाम् ।
स निदानमसन्दिग्धं सीतां प्रति दशमुखस्येव ॥६२६॥

और जो कि एकतरफा प्रेम है वह पस्ती, कंगाली, दीनता और नाश का निःसन्देह वैसे ही कारण है जैसे सीता के प्रति रावण का एकतरफा प्रेम ॥६२६॥

यानि हरन्ति मनांसि स्मितवीक्षितजल्पितानि रक्तानाम् ।
तानीव विरक्तानां प्रतिभाति विवर्तनानीव ॥६२७॥

अनुराग करने वालों की जो मुस्कान, बातें और चितवन — वो

1—आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में पद-दलित अनुराग के निष्क्रमणार्थ दशाओं को उद्धृत करते हुए उन्हें 'पश्चात्ताप' कहा है (—[illegible]) ।

दूर किया करती है, अनुराग न करने वाली स्त्रियों के ये ही विलक्षण चिह्न प्रतीत होते हैं ॥६२७॥

विदधातु किमपि वचनमपि निगृह्यमाणा मुहूर्तमासिष्ये ।
इति यत्र वचः स्त्रीणां तत्रापि रमन्त एव पशुतुल्याः ॥६२८॥

'चाहे कुछ भी करे, परन्तु पकड़ रखेगा तो किसी तरह क्षण भर के लिये ठहर जाऊँगी' ऐसा जहाँ स्त्रियों का वचन हो जाय वहाँ पशु जैसे लोग [redacted] स्नेह करते हैं ॥६२८॥

✓ यत्र न मदनविकाराः सद्भावसमर्पणं न गात्राणाम् ।
तस्मिन्मुद्रितभावे पशुकर्मणि पशव एव रज्यन्ति ॥६२९॥

जो न कामजनित विकार हैं न अंगों का प्रेमपूर्वक समर्पण है उस भाव शून्य पशुकर्म में पशु ही राग करते हैं ॥६२९॥

अवधीरणयोपहतः प्रतिदिवसं हीयमानसद्भावः ।
अभिमानवान्मनुष्यो योषितमुत्तमामपि त्यजति ॥६३०॥

तिरस्कार का मारा प्रतिदिन जिसका प्रेम कम होता जाता है ऐसा अभिमानी पुरुष अपनी प्यारी पत्नी को भी छोड़ देता है ॥६३ ॥

शशिनिकोचं तस्याः पाणितलं पाणिना समाहत्य ।
अम्बरमुपहसति स्त्री ददातु तस्मै मही रन्ध्रम् ॥६३१॥

आँखें सिकोड़ कर अपनी के हाथ को हाथ से ठोंक कर स्त्री जिस पुरुष की खिल्ली उड़ाती है उसे धरती अपने में शरण दे ॥६३१॥

पुरुषान्तरगुणकीर्तनमपदेशेन चात्मनो निन्दाम् ।
शृण्वन्नपि यः स्वस्थः स्वस्थोऽसौ कालपाशबद्धोऽपि ॥६३२॥

अन्य जन के बहाने दूसरे पुरुष के गुणों का गान और अपनी निन्दा सुनता हुआ भी जो स्वस्थ रहता है वह यम के पाश में बँधा होकर भी स्वस्थ है ॥६३२॥

अवगम्याभिप्रायं स्वामिन्याः परिजनोऽपि यं पुरुषम् ।
अपहसति तिरस्कार्यं तस्य न मूल्यं वराटिकाः पञ्च ॥६३३॥

मालकिन का अभिप्राय समझ कर नौकर-चाकर भी जिस तिरस्कार के योग्य पुरुष की हँसी उड़ाते हैं उसकी कीमत पाँच कौड़ी भी नहीं है ॥६३३॥

सत्त्वात्तत्त्वसमुत्थम्मनुष्यज्ञोर्योंतरं न जानाति ।
स्थाने भवति स पशुपतिरपसंशयमर्थमन्त्रलाभस्य ॥६३४॥

जो पुरुष तत्त्व और असत्त्व के व्यवहारों में भेद नहीं जानता वह पशुपति (मूर्खराज, श्लेष अर्थ से शिव) निःसन्देह अर्थमन्त्र (गणपादि, पक्ष में मन्त्रार्थ) के लाभ का पात्र है ॥६३४॥

क्रमकृशितगौरवांशो रिक्ततया लाघवं परापतितः ।
अप्राप्तपरिच्छेदः प्लवतेऽसौ युवतिसरिति कुमनुष्यः ॥६३५॥

धीरे धीरे जिसका गौरव (भारीपन) जाता रहता है और खाली हो जाने से जिसने लाघव (हलकापन) पा जाता है, ऐसा थाह न पाया हुआ निन्दनीय पुरुष तरुणी रूपी नदी में तिरता रहता है ॥६३५॥

यत्नेन कपटघटितान् शृंगारोद्दीपार्थमनुभावान् ।
रतिशिल्पजीविकाभिर्मूढास्तत्त्वेन गृह्णन्ति ॥६३६॥

रतिकला से जीवन निर्वाह करने वाली वेश्याओं द्वारा यत्नपूर्वक शृंगार को उद्दीप्त करने के लिए छल से प्रदर्शित कटाक्ष विक्षेप आदि अनुभावों को मूढ़ बुद्धि के पुरुष तत्त्वतः समझने लगते हैं ॥६३६॥

या धनहार्या नार्यो निर्मर्यादाः स्वकार्यतात्पर्याः ।
सह ताभिरपीहन्ते यत्र मन्दाः संगतमजर्यम् ॥६३७॥

जो स्त्रियाँ धन खरच कर मिलती हैं और मर्यादाओं से रहित एवं अपने मतलब साध लेने भर को होती हैं उनके साथ भी मन्द लोग कभी पुरानी न पड़ने वाली मैत्री चाहते हैं ॥६३७॥

अपरोक्षधनो गम्यः श्रीमानपि नान्यथेति निर्दिष्टम् ।
कन्दर्पशास्त्रकारैः कुतः कथा सुप्तविभवस्य ॥६३८॥

जिस आदमी का धन प्रत्यक्ष जाहिर है, कामशास्त्र के रचयिताओं ने उसे गमन के योग्य कहा है और जो कि धनी होता हुआ भी दान वाला नहीं है उसे गमन के योग्य नहीं बताया है, फिर जिसके पास पूँजी हो नहीं उसकी बात ही क्या ! ॥६३८॥

व्यासमुनिनापि गीतं द्वावेव नराधमौ मनो दहतः ।
योऽनाढ्यः कामयते कुप्यति यश्चाप्रभुत्वयुक्तोऽपि ॥६३९॥

व्यासमुनि के मत से भी संसार में दो प्रकार के अधम पुरुष बताए हैं एक वह

जो दरिद्र होकर भी इच्छा करता है, दूसरा वह जो असमर्थ होकर भी कोप करता है ॥६३६॥

क्षीणद्रव्ये देहिनि दारा अपि नादरेण वर्तन्ते ।
किमुतादानैकरसाः शरीरपणवृत्तयो दास्यः ॥६४०॥

जिसके पास द्रव्य नहीं उस पुरुष में पत्नी भी आदर नहीं रखती, फिर जो धन लेने में ही रसिक और शरीर का विक्रय किया करती हैं उन दासियों की बात क्या ? ॥६४ ॥

अविदितहेयादेयास्तिर्यञ्चोऽपि त्यजन्ति पीतरसम् ।
कुसुमं किमु कार्यविदो वेश्या नरमात्तसर्वस्वम् ॥६४१॥

जो पक्षी त्याज्य और ग्राह्य की बात नहीं जानते वे भी चुसे रस वाले फूल को छोड़ देते हैं फिर [illegible] को पार करवाने छूटे धन वाले आदमी को तो छोड़ देती हैं हो ॥६४१॥

उत्पादयति सदानो रागं रागात्मको यथाभ्यधिकम् ।
निर्देहं निर्दानोऽपि सदा नो निःसन्देहं तथैव मनुजन्मा ॥६४२॥

जिस प्रकार दान वाला प्रेमी निश्चित रूप से प्रेम उत्पन्न करता है उस प्रकार निःसन्देह नहीं देने वाला आदमी [illegible] प्रेम उत्पन्न नहीं कर पाता ॥६४२॥

यद्गीतं तद्गीतं भाविनि लाभेऽपि नातिबहुमानः ।
तत्कालहस्तनिपतितमनियतपुंसां मुदे वित्तम् ॥६४३॥

जो बीता गया वह तो बीता गया, अब हानि तथा लाभ में भी कोई आदर नहीं, जिनके पुरुष नियत नहीं ऐसी वेश्याओं को वही धन खुश करता है जो तत्काल हाथ में आ जाए ॥६४३॥

पीडितमधु मधुजालं शुष्कीभूतं च भ्रमरपरित्यक्तम् ।
मुञ्चन्ति मदनगेहं सुप्ताश्च प्रपन्टरामाश्च ॥६४४॥

मधुमक्खियाँ जिस प्रकार जिस छत्ते से मधु निचोड़ लिया गया है और जो [illegible] सूख गया है उसका परित्याग कर देती हैं उसी प्रकार [illegible] मदन [illegible] वालों का परित्याग कर देती हैं ॥६४४॥

एकः क्रीणात्यद्य प्रातर्भविता तथापरः क्रेता ।
अन्यवशो क्षणमेकं न विक्रयः शाश्वतोऽस्ति वेश्यानाम् ॥६४५॥

एक आदमी आज खरीदता है तो कल सवेरे दूसरा आदमी खरीदार होगा, उनका एक क्षण भी दूसरे के अधीन होता है, वेश्याओं का विक्रय हमेशा-हमेशा के लिए नहीं हो जाता ॥६४५॥

सन्दर्शितपरमार्थं भ्रूक्षेपकटाक्षदृष्टिहसितादि ।
शृण्वंति ये सकर्णास्तत्कृतमन्यत्र संक्रान्तम् ॥६४६॥

दूसरे कामुक के प्रति संक्रान्त, परम अर्थ को स्पष्ट कर देने वाले भ्रूविलास, कटाक्षदृष्टि और हँसी को कानवाले सुन ही लेते हैं अर्थात् बुद्धिमान लोग आशय को समझ ही लेते हैं ॥६४६॥

यदि नाम निराकरणे न समर्थाच्छिन्नकार्यसम्बन्धेऽपि ।
काचिन्महानुभावा बोद्धव्यं तदपि चेतनावद्भिः ॥६४७॥

यदि कोई महानुभावा वेश्या लेन-देन के सम्बन्ध टूट जाने पर भी पुरुष का निराकरण करने में नहीं समर्थ होती तो अक्लमन्दों को खुद समझ लेना चाहिए ॥६४७॥

तेनार्थेनोपकृतं तयापि तस्य स्वदेहदानेन ।
तच्चातीतं सम्प्रति निरर्थकः शुष्कशृंगारः ॥६४८॥

पुरुष ने धन से उपकार किया था उसने भी अपना शरीर अर्पित करके उसका उपकार किया, अब तो वह उपकार अतीत हो गया फिर सूखा शृङ्गार किस काम का ? ॥६४८॥

अवधीरणा रसायनमवमानो भवति यस्य परितुष्ट्यै ।
योऽन्योऽसौ पुरुषखरः खरतरनिर्भर्त्सितोऽस्ति कुलटानाम् ॥६४९॥

जो वेश्या के तिरस्कार को रसायन मानता है और उसके द्वारा अपमान से सन्तुष्ट होता है वह गन्दा आदमी कड़े से कड़े फटकार के, तिरस्कार के योग्य है ॥६४९॥

दीपज्वालालसने व्रजतः खलु निर्वृतिं तयोरित्थया भेदः ।
प्रथमा स्नेहेन विना तथापरा स्नेहयोगेन ॥६५०॥

दीप की ज्वाला और वेश्या दोनों बुझ जाती हैं किन्तु दोनों में इतना भेद

है कि पहली स्नेह (तेल) के बिना बुझ जाती है और दूसरी स्नेह (राग) के योग से बुझ जाती है ॥६५०॥

धर्मं कामनमविनयगुणवर्षि स्वस्य मदनभोगवतः ।
अर्थोऽर्थवतोऽभिगमात्कामं समरतिनरोपभोगेन ॥६५१॥

(वेश्याएँ) कामातुर दरिद्र प्राणी को रतिदान करके 'धर्म' लाभ करती हैं, धनवान् व्यक्ति के साथ समागम करके 'अर्थ' लाभ करती हैं और 'समरत'[1] व्यक्ति के साथ उपभोग करके तीसरे पुरुषार्थ 'काम' का लाभ करती हैं ॥६५१॥

यस्तु न धर्मप्राप्त्यै नार्थाय न कामसाधनोपायः ।
स पुमान्सच्चरितनरैः पर्यनुयुक्तः किमाचष्टे ॥६५२॥

जो पुरुष न धर्म की प्राप्ति के लिए न अर्थ के लिए और न काम के लिए उपयोगी है वह आचारवान् लोगों से पूछे जाने पर क्या कहेगा ? ॥६५२॥

कामोद्वेगगृहीतं धूर्तैरुपहस्यमानशृंगारम् ।
दारिद्र्यमहतं यौवनमबुधानां केवलं विपदे ॥६५३॥

ना समझ लोगों का यौवन, जो कामजनित उद्वेग से ग्रस्त है धूर्तों द्वारा जिसके शृङ्गार की खिल्ली उड़ाई जाती है और गरीबी से बुरी तरह घिर गया है, केवल विपत्ति का कारण है ॥६५३॥

व्यपगतकोपे रागिणि याति लयं पानमात्रलाभकृते ।
मुद्रा मधुपरिकांक्षे न तु गणिका चिंतितस्वार्था ॥६५४॥

उस समय में जिसका कोप (कुन्तल) समाप्त हो चुका है, अर्थात् निर्धन हो चुका है तथा जो रागयुक्त है, केवल मधुपान के लिए लुभाई हुई मधुकरी लीन हो जाती है, किन्तु स्वार्थ साधन में व्याकुल चित्त वाली गणिका ऐसा नहीं करती ॥६५४॥

याऽसौ पापधिया सकटाक्षनिरीक्षणेऽपि वेश्यानाम् ।
दर्शनमात्रतुष्टिभिरेवं ध्वस्ति सा कथं पुरुषे ॥६५५॥

जिन वेश्याओं का कटाक्षमयी दृष्टि से देखने में भी कुछ न कुछ प्रयोजन

1—समरत्या—[illegible] स्त्री-पुरुष का रति-प्रसंग । दोनों में [illegible] होने पर 'उत्तम' [illegible] पर 'अधम' होता है ।

होता है व उन पुरुषों से जो कमल देखने मात्र से विचलित हो जाते हैं कैसे ठगी जा सकती है ? ॥६५५॥

क्लेशाय दुर्भगानां नाना स्थिति गात्रभंगविन्यास ।
गणिकाभिनयमनुरूपमाकृष्टये स्वापतेयपुष्टा माम् ॥६५६॥

मान स्तुति, गात्र-भंग और विन्यास व गन्धकाओं के चार अभिनय दरिद्रों का कष्ट रूप है और धनवानों का अपनी ओर आकृष्ट करते हैं ॥६५६॥

किं धक्ष्यति सौमोऽपि ज्वलन' खलु तार्क्ष्य कुलांगारम् ।
यो दह्यतेऽविरामं विरक्तवासोतिरस्कारैः ॥६५७॥

जो आदमी रागशून्य वेश्या के कपटपूर्ण तिरस्कारों से नहीं दग्ध होता, क्या उस कुलाङ्गार को प्रचण्ड अग्नि जला सकेगी ? ॥६५७॥

गृहमेतदीश्वराणां कोठारं दुष्प्रवेशमन्येषाम् ।
फूत्कृतमिदमुद्भुजया न मालती कामसम्प्रदानपरा ॥६५८॥

घर धन वालों के लिए है, दूसरों के लिए अरण्य की भाँति दुष्प्रवेश है सुन्दर भुजाओं वाली मालती ने फूत्कार कर कह रखा है कि मालती काम (मन्मथ) का सदावर्त नहीं चलाती [1] ॥६५८॥

इति घोषितनिजचेष्टैर्निगदितकन्दुकाक्षरान्यकुत्वलक्ष्या ।
माकर्णयतो मायो देयोपहृतस्य तस्य मर्मस्थ' ॥६५९॥

मणि हुई दूती शब्द का विचार न करके इस प्रकार कह अक्षर कहेगी जबकि उस भिन्न मर्म वाला मानव का मन सुनता रहेगा ॥६५९॥

एवमभिधेयमानो क्षुभ्यति यदि नो पशुर्नराकारः ।
सन्दिं सुन्दरि साध्य' प्रथितवचसा त्वया कामो ॥६६०॥

इस प्रकार कहे जाने पर भी यदि वह आदमी के आकार वाला पशु नहीं

1—'समरात्र ग्राम में यमुना से वाराणसी की इस प्रकार बात चीत है—और मित्रों, इस लायक भी बात नहीं रहे कि एक कन्या भी कन्याओं पूरी करें। फिर सौरी के मकान पर जाना क्या पड़ा था। कुमार को मालूम नहीं वैसा वार ऐसे की भीख होती है। तुम जानते यह समस्त नहीं सुनी कि रही किसकी ओर। हम लोग गुप्तवान करें तो गायें क्या ? दो चार आइए, फायदा कर है मना नहीं करती। मगर उसको अपनी इज्जत का ख्याल होना चाहिए'।

समझे तो हे सुन्दरि, तू विनीत वचन होकर उस कामी से यह कहना ॥६६०॥

प्रोषित एव त्वयोपरि हृदयं मे किन्तु गुरुजनाधीना ।
मातृवचोऽतिक्रमणं न समर्था संविधातुमहम् ॥६६१॥

तुम पर मेरा दिल लुभाया ही है किन्तु मैं बड़ों के अधीन हूँ। माता की बात का उल्लङ्घन करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं ॥६६१॥

अर्हसि तावदतस्त्वं गन्तुमितः कतिपयान्यपि दिनानि ।
पुनरपि भवतैव समं भोक्तव्यं जीवलोकसुखम् ॥६६२॥

इसलिए तुम यहाँ से कुछ ही दिनों के लिए चले जाओ, फिर तो तुम्हारे ही साथ दुनियाँ के मज़े लेंगे ॥६६२॥

निर्वासितेऽथ तस्मिन्नन्यः कामी पूर्वमुज्झितो भुक्त्वा ।
तस्य प्राप्तविभूतेर्युक्तिरियं मिलनसन्धाने ॥६६३॥

उसके निकाल बाहर किए जाने पर जो कामी पहले भोग करके छोड़ दिया गया था उसके पास धन इकट्ठा हो जाने पर उस छूटे हुए के साथ मिलाप करने में यह युक्ति है[1] ॥६६३॥

उपवनलीलाविहरणहावोऽभ्यसमंजुनस्य सह तेन ।
वर्णनमितिवृत्तस्य स्मरजविकाराश्च दीपिते तस्मिन् ॥६६४॥

जब वह मिले तो पहले जो उसके साथ हास-पूर्वक मनोहर उपवन होता (पुष्पावचय आदि) और विहार (जलकेलि आदि) आदि किए थे उन सारी घटनाओं का (उसे सुनाते हुए) वर्णन करना और कामजनित विकार प्रकट करना ॥६६४॥

१—कामसूत्र है—

'वर्तमाने निष्पीडितार्थमुत्सृजन्ती पौराणिकेन सह सन्दध्यात्'

अर्थात् जब मौजूदा कामुक का माल सब निचोड़ लिया जाय तब उसे छोड़ती हुई वेश्या पुन पहले के छूटे हुए कामुक के साथ सन्धि कर। इसको यहाँ 'मिलनसन्धान' कहा है। अब इसके अनुसार कुट्टनी विकराला मालती को 'मिलनसन्धान' की युक्तियाँ समझाना आरम्भ करती है।

इदमुपवनमतिधन्यं निर्भरमालिङ्गितं सुरभिसम्पदा ।
मत्स्कन्धार्पितपाणिर्बभ्राम स यत्र जीविताधीशः ॥६६५॥

सौरभसम्पत्ति से पूर्ण आलिङ्गित यह उपवन अतिधन्य है जहाँ मेरा प्राणेश्वर मेरे गले में हाथ डाल कर घूमा करता था ॥६६५॥

सख्य इतो भ्रमरकुलत्रासितया प्रियतमो मया सहसा ।
वक्षोभवत्पयोधरमुपगूढोऽभोरसीत्कारम् ॥६६६॥

सखियो, यहाँ भौंरों से डरी हुई मैंने प्रियतम को धीरे धीरे सीत्कार करते हुए इस प्रकार सहसा आलिङ्गन में कस कर बाँध लिया कि मेरे स्तन दब कर चपटे हो गए ॥६६६॥

रणदिन्दिन्दिरवृन्दे कूजत्कलकण्ठवाररमणीये ।
अनतिविमुक्तकगृहे मन्दीरणविधुतकुसुमसंच्छन्ने ॥६६७॥

वासन्ती लता के इस कुञ्ज में, जहाँ भौंरे गुंजार करते रहते हैं, कोयल की कूक से रमणीयता बनी रहती है और जो कुछ हवा से हिलते हुए फूलों से आच्छादित है ॥६६७॥

मयि जाताधिकरागो बलवति मदने सहायसामग्र्या ।
कान्तः पल्लवशयने नो तृप्तिमगाद्विविक्तकार्येषु ॥६६८॥

मुझमें उत्पन्न राग वाला प्रिय सहायक सामग्री के कारण मदन के जोर मारने पर पल्लव के बने सेज पर एकान्त में होने वाले कार्यों से तृप्त नहीं हुआ ॥६६८॥

प्रेङ्खोलनस्य युक्त्या विध्यन्पार्श्वद्वयं नतिपूर्वम् ।
यत्रे मां मदनमयो प्रसभप्रेङ्खामिमां समारूढाम् ॥६६९॥

जब मैं झूले पर बैठी थी तब उस झूले में पेंग मारने के बहाने मेरे दोनों पार्श्वों को नखों से पीड़ित करते हुए मेरे काम को जगा डाला ॥६६९॥

स्पृहणीयोऽयमशोकः स्पृष्टो यद्धस्तभेन हस्तेन ।
मत्सम्पर्कसकार्यं नूतनदलपल्लवान्विचारयता ॥६७०॥

यह अशोक का वृक्ष स्पृहणीय है जिस प्रिय ने मेरे कार्यों के प्रवर्तक

समझे तो हे सुन्दरी, तू विनीत वचन बोलकर उस कामी से यह कहना ॥६६०॥

प्रीयत एव सर्वोपरि हृदयं मे किन्तु गुरुजनाधीना ।
मातुर्वचोऽतिक्रमणं न समर्था संविधातुमहम् ॥६६१॥

तुम पर मेरा दिल लुभाया ही है किन्तु मैं बड़ों के अधीन हूँ, माता की बात का उल्लङ्घन करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं ॥६६१॥

अर्हसि तावदतस्त्वं गन्तुमितः कतिपयान्यपि दिनानि ।
पुनरपि भवतैव समं भोक्तव्यं जीवलोकसुखम् ॥६६२॥

इसलिए तुम यहाँ से कुछ ही दिनों के लिए चले जाओ, फिर तो तुम्हारे ही साथ दुनियाँ के मजे लेंगे ॥६६२॥

निर्वासितेऽथ तस्मिन्न्यः कामी पूर्वमुज्झितो भुक्त्वा ।
तस्य प्राप्तविभूतेर्युक्तिरियं भिन्नसन्धाने ॥६६३॥

उसके निकाल बाहर किए जाने पर जो कामी पहले भोग करके छोड़ दिया गया था उसके पास धन इकट्ठा हो जाने पर उस छूटे हुए के साथ मिलाप करने में यह युक्ति है[1] ॥६६३॥

उपवनलीलाविहरणहासोज्ज्वलमञ्जुलस्य सह तेन ।
कथनमितिवृत्तस्य स्मरजविकाराश्च वीक्षिते तस्मिन् ॥६६४॥

जब वह मिले तो पहले जो उसके साथ हास-पूर्वक मनोहर उपवन क्रीड़ा (पुष्पावचय आदि) और विहार (जलकेलि आदि) आदि किए थे उन सारी घटनाओं का (उसे सुनाते हुए) कथन करना और कामजनित विकार प्रकट करना ॥६६४॥

१—कामसूत्र है—

'वर्तमाने निष्पीडितार्थमुत्सृजन्ती विशीर्णेन सह सन्दध्यात्'

अर्थात् जब मौजूदा कामुक का माल सब निचोड़ लिया जाय तब उसे छोड़ती हुई वेश्या पुनः पहले के छोड़े हुए कामुक के साथ सन्धि करे। इसको यहाँ भिन्न सन्धान कहा है। अब इसके अनुसार कुट्टनी विकराला मालती को 'भिन्नसन्धान' की युक्तियाँ समझाना आरम्भ करती है।

इदमुपवनमतिधन्यं निर्भरमालिङ्गितं सुरभिलक्ष्म्या ।
मत्स्कन्धार्पितपाणिर्बभ्राम स यत्र जीवितादीशः ॥६६५॥

सौरभलक्ष्मि से पूर्ण आलिङ्गित यह उपवन अतिधन्य है जहाँ मेरा प्राणेश्वर मेरे कन्धे में हाथ डाल कर घूमा करता था ॥६६५॥

सख्य इतो भ्रमरकुलत्रासितया प्रियतमो मया सहसा ।
बद्धोऽभवत्पयोधरमुपगूढोऽस्योरसीत्कारम् ॥६६६॥

सखियो, यहाँ भौंरों से डरी हुई मैंने प्रियतम को धीरे धीरे सीत्कार करते हुए इस प्रकार सहसा आलिङ्गन में कस कर बाँध लिया कि मेरे स्तन दब कर लग्न हो गए ॥६६६॥

रणदिन्दिन्दिरवृन्दे कूजत्कलकण्ठवाररमणीये ।
अत्रातिमुक्तकगृहे मरुदीरणविधूतकुसुमसंछन्ने ॥६६७॥

माधवी लता के इस कुञ्ज में, जहाँ भौंरे गुंजार करते रहते हैं, कोयल की कूक से रमणीयता बनी रहती है और जो कुछ हवा से हिलते हुए फूलों से आच्छादित है ॥६६७॥

मयि जाताधिकरागो बलवति मदने सहायसामग्र्या ।
कान्तः पल्लवशयने नो तृप्तिमगाद्विविधकार्येषु ॥६६८॥

मुझमें उत्पन्न राग वाला प्रिय सहायक सामग्री के कारण मदन के जोर मारने पर पल्लव के बने सेज पर एकान्त में होने वाले कार्यों में तृप्त नहीं हुआ ॥६६८॥

प्रेङ्खोलनस्य युक्त्या विध्यन्त्यास्मद्द्वयं नखैः पूर्वं ।
चक्रे मां मदनमयीं यत्रस्थिप्रेङ्खामिमां समारूढाम् ॥६६९॥

जब मैं लता के इस झूले पर बैठी थी तब उस झूल में पेंग मारने के बहाने मेरे दोनों पार्श्वों का नखों से पराजित हुए मेरे काम को जगा डाला ॥६६९॥

स्पृहणीयोऽयमशोकः स्पृष्टो यद्वल्लभेन हस्तेन ।
अस्मदवतंसकार्ये नूतनदलपल्लवान्विचारयता ॥६७०॥

यह अशोक का वृक्ष स्पृहणीय है जिस प्रिय ने मेरे कानों के अवतंसक

बनाने के लिए नव पल्लवों का तोड़ते हुए स्पर्श किया था ॥६७०॥

अस्मिन्सहकारतले तस्योत्सङ्गे सलीलमासीना ।
अशृणवमहमिति याच पश्यन्ती विलसितानि तरुणानाम् ॥६७१॥

इस आम के पेड़ के तले उसकी गोद में पड़ी, तरुणों की विलास लीला देखती हुई मैंने यह बातें सुनी ॥६७१॥

उत्थापय मानरसं दयितं चरणाग्रनिपतितं तूर्णम् ।
अत्याकृष्टं त्रुट्यति सुदृढमपि प्रेमबन्धनं मूढे ॥६७२॥

(मानिनी नायिका को सखी का उपदेश) 'अरी मानिनी, पैरों में गिरे प्रिय को शीघ्र उठा, मूढ़े, सुदृढ़ प्रेम का बन्धन भी ज्यादा खींचने पर टूट जाता है' ॥६७२॥

तिष्ठन्नपि यातसमः किं तेन निवारितेन सखि पशुना ।
यामीति निष्प्रकम्पा विनिःसृता यस्य साधरे वाणी ॥६७३॥

(नायक की अरसिकता से रुष्ट नायिका की सखी के प्रति उक्ति) 'सखि, ठहरा हुआ भी तो वह चले गए ही के समान है उस पशु को रोकने से क्या ? जिसके मुख से 'जाता हूँ' यह वाणी बिना रुकावट के अधर पर आ गई ॥६७३॥

आयुःसारं यौवनमृतुसारः कुसुमसायकवयस्य ।
सुन्दरि जीवितसारो रतिभोगरसामृतस्वादः ॥६७४॥

(ज्ञातयौवना मुग्धा अथवा मानिनी नायिका के प्रति किसी रसिक व्यक्ति की उक्ति)'सुन्दरि आयु का सार यौवन है ऋतुओं का सार कामदेव का प्यारा वसन्त है और जीवन का सार रतिसुख के रसामृत का स्वाद लेना है, ॥६७४॥

रम्यं कुसुमस्तबकं कुरु मे प्रिय कैंकिरातमवतंसम् ।
तिष्ठतु वा किमनेन प्रत्यग्रमशोककिसलयं धाय ॥६७५॥

(स्वाधीनपतिका प्रगल्भा नायिका प्रणयी से आदर के साथ कनफूल बनवाने के लिए निर्देश करती है) 'प्रिय, सुन्दर अशोक के फूलों के गुच्छे को मेरे कान का अवतंस बना दो अथवा रहने दो इससे क्या ? नया सुन्दर अशोक का किसलय ही लगा दो ॥६७५॥

आस्तामास्तामेतत्प्रापय मां सिंदुवारमभिरामम् ।
नहि नहि राजति सुतरां चूतद्रुममञ्जरी कर्णे ॥६७६॥

इसे भी जाने दो, मुझे सिन्दुवार दो। नहीं नहीं, कान में आम की बौर ही बहुत अच्छी लगती है' ॥६७६॥

धिक्तारुण्यमकान्तं धिक्कान्तं यौवनेन रहितं च ।
धिक्तद्द्वयमपि मन्मथसामर्थ्यविकासितं विना सुरतम् ॥६७७॥

(विलासिनियों को सुरत के लिए प्रगल्भिनी किसी नायिका की प्रहे-लिका) उस जवानी को धिक् है जो प्रिय के बिना गुजरती हो और उस प्रिय को भी धिक् है जिसमें जवानी नहीं है और उन दोनों को भी धिक् है जो कामशास्त्र के प्रयोग वाले सुरत से रहित हैं ॥६७७॥

जनितोऽप्यपराधशतैर्वामे तस्मिंश्चिरप्ररूढोऽपि ।
अवगतमधुना सख्या न वसन्तमतीत्य वर्तते मानः ॥६७८॥

(गुरुमानवाली नायिका के बहुत दिनों के मान को सहसा भंग देख कर आश्चर्य करके सखी उससे कहती है) 'उस प्रतिकूल प्रिय के विषय में सैकड़ों अपराधों के कारण उत्पन्न और बहुत दिनों से बढ़ा हुआ भी सखी का मान अभी पहुँचे हुए वसन्त को पार नहीं कर सका' ॥६७८॥

वर्षस्तस्य हि सारः कालसमः प्रथममेलकस्थानम् ।
सचकितमागच्छन्ती सोत्कलिकैर्यत्र दर्शयते रमणी ॥६७९॥

(सखी के द्वारा प्रिय के समागम के लिए नायिका को प्रलोभन) 'यह समय का लवमात्र भी वर्षों का सार है जब उत्कण्ठाओं से भरी रमणी प्रथम मिलन के सङ्केत-स्थल पर आश्चर्य-भाव से आती हुई दिखाई देती है ॥६७९॥

किं निर्मितोऽसि धात्रा मनोऽपरः किमु वसन्तगुण एष ।
कुसुमशरपूर्णतूणः किमुतायमन्य एष कन्दर्पः ॥६८०॥

(प्रिय के प्रति नायिका का चाटुमय वचन) क्या तुम विधाता का स्वरूप निर्माण हो अथवा क्या एक अन्य मूर्ति वसन्त हो, अथवा क्या पुष्प के बाणों से भरे तरकस को धारण करने वाला दूसरा कामदेव ही हो' ॥६८०॥

नो पश्यसि यदि ककुभः मधुरोज्ज्वलकुसुमसुरभिरमणीयाः ।
परभृतकूजनमिश्रं न शृणोषि यदि द्विरेफझंकारम् ॥६८१॥

गन्धं यदि च न लभसे वासितदिग्व्योम सुमनसां सुभगम् ।
अनुभवसि यदि स्पर्शं नो शीतलदाक्षिणात्यपवनस्य ॥६८२॥

रसनेन्द्रियैकशेषः परसंपर्कजनितेन परिभूतः ।
नार्हसि तथापि त्यक्तो निजाश्रमं गन्तुमन्यतो नितराम् ॥६८३॥

(किसी नायिका के प्रणयी को कोई दूसरी नायिका मिठाई का निमन्त्रण देकर अपहरण करने की चेष्टा करती थी कि उसी समय नायिका ने प्रणयी को उपालम्भ दिया) 'ऋतु से विकसित फूलों की सुरभि से रमणीय दिशाओं को यदि नहीं देखते हो कोयल की कूक से मिले भौंरे की झङ्कार को यदि नहीं सुनते हो दिशाओं और आकाश को बसा देने वाली फूलों की मनोहर गन्ध यदि नहीं सूँघते हो शीतल दक्षिण पवन के स्पर्श का यदि अनुभव नहीं करते हो तो जिसकी एक रसनेन्द्रिय ही शेष रह गई है ऐसे तुम अन्य नारी के साथ घूमने के कारण लोगों द्वारा परिभव प्राप्त कर चुके हो तब भी अपना आश्रय छोड़ कर कहीं दूसरी जगह बिलकुल नहीं जा सकते हो ॥६८१-६८३॥

अस्मिन्सरसि सलीलं करयन्त्रविनिर्यदम्बुधाराभिः ।
दयितेन ताडिताहं मयाप्यसावाहतो मृणालिकया ॥६८४॥

इस सरोवर में प्रिय ने हाथ की पिचकारी से निकलती हुई जलधाराओं से लीला पूर्वक मुझे ताड़न किया था और तब मैंने भी उस मृणाल से आहत किया ॥६८४॥

पुनरन्तर्जलमग्नो मामुपगम्याविभाव्य सहसा ।
उच्चिक्षेप सहासं हासितसन्निहितपरिवारः ॥६८५॥

फिर वह पानी के भीतर पैठ गया और मेरे पास अनजान में आकर मुझे सहसा हँसते हुए ऊपर उछाल दिया इस दृश्य को देख कर पास की सखियाँ हँस पड़ीं ॥६८५॥

संसक्ताद्रविरणं जघनं नः परयतस्तदा तस्य ।
प्रथमाकाभाकूतं भेजे सम्भोगशृंगारः ॥६८६॥

जब उसने मेरे जघन को जिसमें भीगा हुआ वस्त्र चिपक गया था देखा तब उसे देखकर उसने (मेरी) पहली इच्छा के आशय से सम्भोग-शृङ्गार का आनन्द पाया ॥६८६॥

कामप्रदेशवेलव्यापारस्थितिविशेषघटनाभिः ।
चिरस्थोऽपि हि यूना नवत्वमुपनीयते रागः ॥६८७॥

समय स्थान पर व्यापार और स्थिति-विशेष की घटनाओं के कारण युवकों का बहुत दिनों का भी राग नया हो जाता है ॥६८७॥

सादरमर्पयतोऽङ्गं गोत्रस्खलनापराधिनस्तस्य ।
सख्यः स्मरामि सहसा विलक्षता क्लिष्टहसितस्य ॥६८८॥

सखियो, मुझे याद आता है जब कि वह मुझे आदर-पूर्वक कमल देने लगा उसी समय वह दूसरी का नाम कह देने का अपराध कर बैठा, तब सहसा वह लज्जा के कारण बहुत क्लेश की हँसी हँसने लगा ॥६८८॥

प्रत्यग्रनखव्रणितस्तनान्तरे क्षिपति लोचने स्पृहया ।
प्रेयसि ह्रीताच्छादनमकरवमहमब्जिनीपत्रम् ॥६८९॥

जब उस प्रियतम ने नखों के नये क्षतों से व्याप्त मेरे स्तन पर ललचाई आँखें डालीं तब मैंने कमलिनी के पत्ते से उसे ढक लिया ॥६८९॥

क्षिप्त्वावकित्तसम्भोगमितनलिनीपलाशपुटमाराद् ।
आहृतया यद्विहृतं स्वस्थधिया तन्न शक्यते वक्तुम् ॥६९०॥

कमल का सम्पुट (दोना) बना कर उसमें जल भर कर उसने जब सहसा मेरे ऊपर दूर से फेंका तब मैं जो आचार कर उठी उसे साधारण अवस्था की स्त्री नहीं कर सकती थी ॥६९ ॥

सुश्लिष्टो हावविधिर्मदनालसगात्रजृम्भितं स्खलितम् ।
गुह्यस्थानप्रकटनमङ्गुलिविस्फोटनं स्मितं सुभगम् ॥६९१॥

अनन्तर सुन्दर प्रकार में हावभाव का प्रयोग, मदनजनित आलस्य के

कारक सुन्दर जंभाई, गोपनीय अङ्गों का प्रकटन, उँगलियों का चटकाना, सुभग मुस्कान ॥९६१॥

नीवीग्रन्थिविमोक्षो मुहुर्मुहु केशपाशविश्लेषः ।
स्वाधरदशनग्रहणं बालकपरिचुम्बनं रतोत्सुकता ॥९६२॥

नीवी की गाँठ खोलना, बार-बार बँधे केशपाश का शिथिल करना, अपने अधर को दाँतों से पकड़ना, बच्चे को चूम लेना, और सुरत की उत्सुकता ॥९६२॥

साकांक्षितं प्रियस्या तरलायतलोचनं मुहुः कान्ते ।
उद्दिश्य तद्वयस्यकमिति शोकमयस्य वस्तुगिरः ॥९६३॥

प्रिय के प्रति बार बार आकांक्षापूर्ण ढंग से अपनी तरल और आयत आँख करती हुई उसके साथी को उद्देश्य करके इस प्रकार शोकमयी वाणी बोली ॥९६३॥

एकीभावं गतयोर्जलपयसोर्मित्रचेतसोश्चैव ।
व्यतिरेककृती शक्तिर्हंसानां दुर्जनानां च ॥९६४॥

'पानी और दूध तथा दो मित्रों के हृदय जब मिल कर एक हो जाते हैं तब उन्हें अलग-अलग करने की शक्ति 'हंसों की तथा दुर्जनों की होती है ॥९६४॥

येन तदा मामूचे परिजनमुत्सार्य विधृतनटमन्युः ।
दर्शितहितस्वरूपः परपीडाकरणपण्डितः प्रसभः ॥९६५॥

(जब तुमसे मेरा विच्छेद हुआ) उस समय दूसरे को पीड़ित करने में पंडित (तेरा वयस्य) परिजन को पास से हटा कर अपना बनावटी शोक प्रकट करके मेरे हितकारी का रूप धारण कर मुझसे बोला ॥९६५॥

अविदितगुणान्तराणां यो दोषः प्रान्तदेशवासानाम् ।
स्वाघामपुंकुमा अपि यद्विदधति बहुमति नीले ॥९६६॥

जिन्हें दूसरे गुणों का परिचय प्राप्त नहीं और जो देशान्तर में रहा करते हैं उनका कोई दोष नहीं, क्योंकि केसर के देश कश्मीर में रहने वाले लोग 'नील' का ही ज्यादा आदर करते हैं ॥९६६॥

क्व महीतलरम्भा त्वं यशस्तुतचन्द्रप्रभा स्वदेहरुचा ।
चित्रलता क्व वराकी नीचैरुपसेवितारोहा ॥६९७॥

अपने शरीर की कान्ति से चन्द्र की प्रभा का तिरस्कृत करने वाली पृथ्वीतल की रम्भा सी तुम कहाँ और कहाँ बेचारी चित्रलता जिसके नितम्बों को नीच पुरुष भजे रहते हैं । ॥६९७॥

यस्य न खलु विगणिता प्रह्वात्मानो महाधना कुलजाः ।
सोऽद्य हृदयेन तस्यां त्वयि तिष्ठति वाह्यवृत्तेन ॥६९८॥

जिसके चलते तुमने बड़े धनवानों और कुलीनों को भी ठुकरा दिया वह आज तेरे प्रति ऊपरी व्यवहार प्रकट करके रहता है ॥६९८॥

तामेव समाचरणां सद्भावेन प्रवर्तितां निपुणे ।
विन्दन्ति तत्र कुशलाः स्नेहविरुद्धप्रभेदेन ॥६९९॥

सद्भाव से किए गए जिस आचार-व्यवहार को निपुण जन जानते हैं, उसे ही स्नेह के विपरीत होने पर कुशल लोग भिन्न प्रकार से जान लेते हैं ॥६९९॥

तव तु विरक्तप्रेम्णस्तस्य मीविचेतनं मनोवृत्तिम् ।
नारोहति तु मयैवं निवेदितं पारिचित्येन ॥७००॥

अस्तु जिसका प्रेम घट चुका है उसकी मनोवृत्ति सत्कार्य के निर्णय करने में प्रवृत्त नहीं होती उसे ही मैंने जान पहचान के कारण निवेदन किया ॥० ॥

इति दुर्जनाभिनि सृतवाग्विषद्रुपितसमस्तवपुषो मे ।
ईर्ष्याग्नि प्रभृतारिसरस्यप्रणयखण्डनप्रभवा ॥७०१॥

इस प्रकार दुर्जन रूपी साँप के मुख से निकले वचन रूपी विष के कारण मेरा समस्त शरीर दूषित हो उठा और अधिक दिनों के बढ़े प्रणय के खण्डन हो जाने से उत्पन्न ईर्ष्या के कारण अतिशय उद्दीप्त हो गया ॥७ १॥

लघुहृदयतया तस्माद्भाषितवज्रपातविहतानाम् ।
वस्तुविशेषवितर्कों न स्पृशति प्रायशो मनः स्त्रीणाम् ॥७०२॥

स्त्रियों का हृदय प्रायः छोटा होता है इस लिए दुष्ट बातों के वज्र से आहत होने पर उनके मन में यह विचार करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती कि कहने वाला कौन है । ॥७०२॥

प्रियमपि वदन्दुरात्मा क्षिपति विपत्सागरे दुस्तारे ।
आसाद्य प्राणभृतो मृतये परिलेढि जिह्वया खड्गः ॥७०३॥

दुरात्मा पुरुष मधुर वचन बोलता हुआ भी विपत्ति के दुस्तर समुद्र में फेंक देता है, खड्ग मृत्यु के लिए प्राणी को पाकर उसे जीभ से चाटने लगता है ॥७०३॥

अतिकोमलमतिपरिमितवर्णं लघुतरमुदाहरति शठः ।
परमार्थतः स हृदयं दहति पुनः कालकूटघटित इव ॥७०४॥

'शठ व्यक्ति बहुत कोमल बड़े नपे-तुले शब्दों से सुन्दर ढंग से बोलता है, वस्तुतः विष का बना हुआ जैसा वह हृदय को दग्ध करता है ॥७०४॥

हितमधुराक्षरवाणीव्यवहारमनुप्रविश्य तल्लीनम् ।
सरला दुराशयानामुपघातं फलत एव विन्दन्ति ॥७०५॥

दुष्ट अभिप्राय वाले जनों की वाणी को, जो व्यवहार में घुस कर उसी में घुल-मिल कर एकाकार हो जाती है, सरल प्रकृति के लोग विनाश के परिणाम या फल को भुगत कर जान पाते हैं ॥७०५॥

परसंतापविनोदो यत्राहनि न प्रयाति निष्पत्तिम् ।
मतमना असाधुर्न गणयति तदायुषो मध्ये ॥७०६॥

जिस दिन दूसरे को सन्ताप देने का विनोद पूरा नहीं हो जाता उस दिन को दिन असाधु पुरुष अपने जीवन की आयु के बीच गणना नहीं करता (अकृतकार्य हो जाने के कारण वह सोचता नहीं कि उस दिन भी वह जीवित रहा है) ॥७०६॥

दिवसांस्तानभिनन्दति बहु मनुते तेषु जन्मनो लाभम् ।
ये यान्ति दुष्टबुद्धेः परोपतापाभियोगेन ॥७०७॥

उन दिनों का बहुत स्वागत करता है और अपने जन्म लाभ का अनुमान करता है, जो उस दुष्ट बुद्धि वाले पुरुष के दूसरे को कष्ट पहुँचाने के कार्य में पूर्ण अभिनिवेश के साथ बीत रहे होते हैं ॥७०७॥

विकसितवदनः पिशुनः प्रोत्फुल्लविलोचनो यथा भ्रमति ।
मन्ये तथा न जातः सदहितकरणश्रमो मध्यः ॥७०८॥

पिशुन मुख मण्डल वाला नीच पुरुष आँखें इधर-उधर करके जो घूमता है

उससे ध्यान पड़ता है कि सज्जनों के आदित करने का उसका प्रयत्न प्रसफल नहीं हुआ है ॥७०८॥

शठमृगयुः कुमतिशरैरज्ञातप्रतिविधानसाधुमृगान् ।
अभ्यस्तलक्ष्यवेधो निमग्नपरिश्रमं भजति ॥७०९॥

जिसका निशाना सध गया है ऐसा शठ पुरुष रूपी बहेलिया तिरस्कार के बाणों से उन साधु जन रूपी मृगों को, जिनमें प्रतिक्रिया की भावना बिलकुल नहीं, मारता हुआ नहीं थकता ॥७०९॥

अनुकूलवरपुरंध्रिषु पुरुषाणां बद्धमूलरागाणाम् ।
नयति मनो दुःशील कुसुमास्त्रो हीनपात्रेषु ॥७१०॥

अनुकूल और श्रेष्ठ नारियों में जिन पुरुषों का राग बद्धमूल है उन पुरुषों के मन को दुःशील कामदेव हीन पात्रों से पहुँचा देता है ॥७१०॥

सावरणं प्रजतोऽन्यां कौतुकदृष्ट्या प्रसक्तो दयिताम् ।
बुद्ध्वापि विदग्धधियो वर्तन्ते नाटयधर्मेण ॥७११॥

छुअन्छिप कर कौतुक के लिए प्रसक्त पराई के पास जाते हुए प्रिय जनों को जान कर भी चालाक स्त्रियाँ नाटकीय व्यवहार करने लगती हैं ॥७११॥

सत्यं प्रेमणि वृद्धे व्यथयति हृदयं मनागपि स्खलितम् ।
अवधृतनिजमाहात्म्यास्तथापि धीरा न मुह्यन्ति ॥७१२॥

यह ठीक है कि प्रेम के अधिक हो जाने पर थोड़ा भी विचलन हृदय को कष्ट पहुँचाने लगता है तब भी अपनी महत्ता पर अवलम्बित रहने वाले धीर जन विमोह नहीं प्राप्त करते ॥७१२॥

स्वच्छन्दं पिबतु रसं भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा वनानि कुसुमेषु ।
अनुभूतगुणविशेषः पुनरेष्यति मालतीं मधुपः ॥७१३॥

भौंरा स्वच्छन्द होकर नाना वनों में घूमता हुआ फूलों का रसपान करे फिर वो गुण की विशेषता का अनुभव करके मालती के पास आएगा ही ॥७१३॥

मालत्या गुणवत्ता नो सम्यग्वेत्ति मधुकरस्तावत् ।
अनुभवमेति न यावत् सुमनोन्तरसङ्गमास्वादे ॥७१४॥

भौंरा तब तक मालती के गुणों की बात का सम्यक् प्रकार से नहीं

जानता कम तक दूसरे पुरुष के संगम का आस्वाद अनुभव नहीं कर लेता ॥७१४॥

कोमलमानकदर्थो भजमानो भजति दीप्ततामधिकाम् ।
सञ्ज्वाल्यमानदारुः पावक इव सुप्रमस्नेहः ॥७१५॥

अग्नि जिस प्रकार काष्ठ के प्रज्वलन करने से अधिकतर दीप्तता लाभ करता है सुप्रम स्नेह उसी प्रकार लघु मान को उपभोग करके और भी उद्दीप्त हो उठता है ॥७१५॥

यः पुनरतिकोपानलसन्तापवशेन दूरमाकृष्टः ।
काचमणिः खलु स यया परिणामे खण्डखण्डमुपयाति ॥७१६॥

जिस प्रकार काचमणि देर तक अग्नि में सन्तप्त होने के फलस्वरूप खण्ड खण्ड हो जाता है उसी प्रकार स्नेह कोपजनित सन्ताप के कारण अन्त में छिन्न-भिन्न हो जाता है ॥७१६॥

वेतनलाभाद्बहवः सेव्यन्ते सौष्ठवेन पण्यजनाः ।
विश्राम्यति यत्र मनः स तु दुष्प्रापः सहस्रेषु ॥७१७॥

पारिश्रमिक पाने के लिए बहुत पुरुषों की वेश्याएं पूर्ण रूप से सेवा करती हैं लेकिन जहाँ मन को विश्राम मिलता है वह हजारों में कठिनाई से मिल पाता है ॥७१७॥

मन्वादिमुनिवरैरपि कालत्रयवेदिभिः सुदुर्ज्ञेयम् ।
तत्सुकृतं यस्य फलं रमसागतवल्लभाश्लेषः ॥७१८॥

वह पुण्य, जिसका फल घुरा होकर आई प्रियतमा का आलिङ्गन है, भूत भविष्य और वर्तमान को जानने वाले मनु आदि श्रेष्ठ मुनियों द्वारा भी कठिनता से जाना जा सकता है ॥७१८॥

यातेऽपि नयनमार्गं प्रेयसि यस्याः स्मृतिर्व्यलीकेषु ।
मन्ये तां प्रति नियतं कुण्ठितशरपंचको मदनः ॥७१९॥

प्रियतम के दिख जाने पर भी जिस स्त्री को उसके अपराधों की याद बनी रहती है, मैं मानती हूं कि निश्चय ही उसके प्रति कामदेव के पांचों बाण कुण्ठित हैं ॥७१९॥

जोऽयत एव कथंचिद्धिगिमिमां महद्भिरवगीताम् ।
विजहाति यन्न गणिका तद्वांछितरमणलाभलोभेन ॥७२०॥

जिस किसी प्रकार जीना पड़ेगा हो, ऐसी स्थिति में गणिका श्रेष्ठ जनों से निन्दित इस कुत्सित वृत्ति का जो नहीं परित्याग करती उसका कारण उसे अभिलषित कामुक के लाभ का लोभ है ॥७२०॥

कण्टकिन कटुकरसाकरीर खदिरादिविटपगुल्मान् ।
उपभुञ्जाना करभी दैवादाप्नोति मधुरमधुजालम् ॥७२१॥

कांटेदार एवं कडुवे रस वाले करीर, खैर आदि वृक्ष और गुल्मों को चबाती हुई मादा ऊंट मीठे मधु के छत्ते को भी पा लेती है ॥७२१॥

का स्त्री न प्रणयिवशा का विलसिनयो मनोभवविहीना ।
को धर्मो निरुद्यम: किं सौख्यं वल्लभेन रहितानाम् ॥७२२॥

प्रेमी के वश में न रहने वाली स्त्री कौई स्त्री है ? काम भावना से रहित विलास कोई विलास है ? उद्यमभाव से रहित धर्म कोई धर्म है ? और प्रिय से दूर रहने वालियों को कोई आनन्द है ? ॥७२२॥

स्वाच्छन्द्यफलं बाल्यं तारुण्यं रुचिरसुरतभोगफलम् ।
स्थविरत्वमुपशमफलं परहितसम्पादनं च फलम् ॥७२३॥

बचपन का फल स्वच्छन्दता है, सुन्दर सुरत यौवन का फल है शान्ति बुढ़ापे का फल है और दूसरे का भला करना जन्म का फल है ॥७२३॥

भमिदयतोमिवमामीमवगम्य गृहीतयेव नूतेन ।
यौवनमुखेन सार्धं मयेम यूयं परिष्वङ्गा ॥७२४॥

दद बरती हुई सखी को यान मुन कर विराय से प्रन्न को भाँति मैंने ही यौवनसुख के साथ तुम्हें भी विष्वङ्ग कर डाला ॥७२४॥

मधुनानुतापपावकमभ्यगता पच्यमानसर्वाङ्गी ।
निष्फलजन्मप्राप्तिर्जीवाम्युच्छ्वासमात्रेण ॥७२५॥

इस समय पश्चात्ताप की आग में पड़ गई हूँ, मेरे अंग-अंग पक रहे हैं, मेरा जन्म लेना निष्फल हो रहा है मैं उच्छ्वास मात्र से जीवित हूँ ॥७२५॥

स्थानेषु येषु युष्मत्संगतया क्रीडितं चिरं धृत्या ।
तानि खलु वीक्षमाणा भवामि कण्ठस्थितप्राणा ॥७२६॥

जिन स्थानों में तुम्हारे साथ धैर्यपूर्वक देर तक खेली थी उन्हें देखती हूँ तो मेरे प्राण कंठ तक आ जाते हैं ॥७२६॥

अन्यवशेन विसंज्ञा कृतभूषा यंत्रसूत्रसंचारा ।
दारुमयीव प्रतिमा विदधामि विडम्बना बह्वीः ॥७२७॥

दूसरे द्वारा सजाई-बनाई गई, यंत्र-सूत्र के अनुसार संचार करने वाली अचेतन काठपुतली की भाँति बहुत-बहुत विडम्बनाएँ करती हूँ ॥७२७॥

यदि नामोदरभरणप्राप्त्यै कुरुतेऽन्यपुष्पसंश्लेषम् ।
तदपि न पुष्टिर्भृङ्ग्या अपिबन्त्या अरविन्दमकरन्दम् ॥७२८॥

यद्यपि भौंरी पेट भरने के निमित्त दूसरे फूलों का आलिङ्गन करती है तथापि जब तक वह कमल के रस का पान नहीं करती तब तक उसे तृप्ति नहीं होती ॥७२८॥

आस्तामपरो लोकः क्रीडापेक्षी परापदि प्रीतः ।
व्यसनान्तरे पतन्ती न वारिता परिजनेनास्मि ॥७२९॥

क्रीड़ा की अपेक्षा रखने वाले दूसरों के कष्ट में प्रसन्न होने वाले आदमी की बात जाने दीजिए, यहाँ तो अपने किसी परिजन ने भी दुःख के समुद्र में गिरती मुझे नहीं निवारण किया ॥७२९॥

किं वा बहुभिः कथितैः सम्प्रति हि मयापि नियमिता बुद्धिः ।
स्थास्यामि संनियुक्ता भवद्गृहे प्रेष्यभावेन ॥७३०॥

बहुत कहने से क्या ? अब मैंने भी अपनी बुद्धि रोक ली है। आपके घर में नियुक्त होकर दासी के रूप में रहूँगी ॥७३०॥

इति नेत्रादिविकारैर्यामुपनीतं प्रलीनधैर्याङ्गम् ।
मारग्रहाभिभूतं परिमृष्टप्राग्निरागृतिस्मरणम् ॥७३१॥

हे सुभ, इस प्रकार यह जब तुम्हारे नेत्रों के विकारों के वश में आ जायगा उसकी धीरता जाता रहेगी काम के ग्रह से अभिभूत हो जायगा अपने पहले के निष्क्रमण की घटना की याद मिट जायगी ॥७३१॥

प्रादुर्भूतरिरंसे क्षणे क्षणे जघनदेशगतदृष्टिम् ।
पक्वाम्रमिव विमोक्ष्यसि पूर्ववदाचूष्य निःशेषम् ॥७३२॥

उसकी रमणेच्छा पुनः उत्पन्न हो उठेगी, क्षण-क्षण में तेरे जघन की ओर दृष्टिपात करेगा, तब पहले की भाँति पके आम की तरह उसे पूरा चूस कर छोड़ देना ॥७३२॥

स्वशरीरामिषदिग्धं वक्रस्मितदृष्टिपातवाग्बडिशम् ।
प्रक्षिप्याकृष्य जडं स्फुरणेन विवर्जितं सुपरिपुष्टम् ॥७३३॥

टेढ़ी मुस्कान, टेढ़ी निगाह और टेढ़ी बात के बंसी (मछली फंसाने वाली) को फेंक कर अपने ही शरीर के मांस से युक्त, विवेकहीन, स्पन्दन-रहित, मोटे ताजे (कामुक रूपी) मत्स्य को खींच कर ॥७३३॥

हस्तद्वयान्तरागतमुपचारस्य परिव्ययेन संस्कृत्य ।
भुक्त्वा यावन्मांसं त्यक्ष्यसि चर्मास्थिशेषितं मत्स्यम् ॥७३४॥

हाथों में आए हुए उस मित्र-मत्स्य को मसाले से तैयार कर मांस के पूरे भाग को खाकर चमड़ी और हड्डी को शेष करके छोड़ देना ॥७३४॥

शृणु सुश्रोणि यथास्मिन्कमलेश्वरपादमूलमञ्जर्या ।
अमरार्पदुहित्रा राजसुतश्चर्वितश्च मुक्तश्च ॥७३५॥

हे सुन्दर नितम्ब वाली, सुन जैसा कि यहाँ (वाराणसी में) अमरदत्त की लड़की और कमलेश्वर पाद स्वामी में स्थित हुई मञ्जरी ने राजपुत्र को चबा करके छोड़ दिया ॥७३५॥

आसीच्छ्रीसिंहभटो नाम्ना नृपतिर्महीयसां श्रेष्ठः ।
तस्यात्मजोऽपि तस्थौ निवेशनं देवराष्ट्रसम्बद्धम् ॥७३६॥

मञ्जरी का आख्यान

'पूर्व राजाओं में श्रेष्ठ श्री सिंहभट नाम का राजा था उसका पुत्र (समरभट) देवराष्ट्र (प्राचीन महाराष्ट्र) के अन्तर्गत निवास करता था ॥७३६॥

स कदाचिद्भूपसभाजनेच्छया परिमिताप्तपरिवारः ।
अनुवर्तमान आगात्सारम्भोदीर्णविषयचरितानि ॥७३७॥

मौसम के उचित वस्त्र और आचरण का अनुसरण करता हुआ वह किसी

समय काशी विश्वनाथ के दर्शन की इच्छा से थोड़े से परिजनों के साथ यहाँ आया ॥७३७॥

मूर्धत्रिभागसंस्थितवृहदम्बरचोरकेशसंयमनः ।
प्रम्लाच्छगात्ररागो घनकुंकुमलिप्तकर्णकेशाग्र ॥७३८॥

वह अपने माथ पर तीन भागों में कसावदार बंधी हुई पगड़ी धारण किए था। उसके शरीर की लाली हल्की और अच्छी थी। उसने कान के समीप केश के अग्रभाग को गाढ़े कुंकुम रस से रंग लिया था ॥७३८॥

सिद्धार्थबीजदन्तुरललाटतिलकोपयुक्तताम्बूलः ।
श्रवणनिवेशितकुण्डलटिट्टिभकप्रायकन्धराभरणः ॥७३९॥

उसके ललाट पर सफेद सरसों चिपके हुए थे जो तिलक का काम देते थे। वह पान खाए था। उसके कानों में कुण्डल और गले में, 'टिट्टिभक' नाम का अलंकार था ॥७३९॥

केयूरस्थानगतः सुवर्णमृतमन्त्रगर्भजतुगुडकः ।
मणिबन्धनविन्यस्तप्रवलांकुरजातरूप मणिमालः ॥७४०॥

केयूर के स्थान में उसने सोने के पत्र से मंत्र बांध कर मढ़े लाह की गुटिका पहन रखी थी और हाथ की कलाइयों में चकमक करती हुई सोने की माला डाल रखी थी ॥७४ ॥

धृतवेत्रदण्डकूर्चकपरिवेष्टितवासिधेनुसङ्गाग्रः ।
मृदुतरमटिकावरणः प्रख्योल्वणसुञ्चुवाकचरणत्रः ॥७४१॥

उसके हाथ में बेंत का भाबदार डंडा था, कटि बंध में छुरी और तलवार थी। शरीर का वस्त्र बड़ा हल्का था और जूते जोर से चरमराने की आवाज करते थे ॥७४१॥

गम्भीरेश्वरवास्यां सम्न किल तव वयस्यको धीरः ।
प्राप्स्यति सापि दुराशा यन्नियतयेन यःमया प्राप्तम् ॥७४२॥

सेवा निपुण परिजन मार्ग से भीड़ हटा रहे थे। यहाँ विट और चेटियाँ भरी थीं। उनके बीच में जाते हुए समरभट ने उनकी ये बातें सुनीं—
(किसी गणिका की विट के प्रति उक्ति) 'तेरा साथी धीर गम्भीरेश्वर

दसा[1] में आमन्त्र है दुराशा यह भी तीन वर्षों में जो मैंने पाया है नहीं पायेगी ॥७४२॥

वर्षयति दिशः फलिता अमृतगभस्तिं करेऽवतारयति ।
सुरदेवि चन्द्रवर्मा निर्वस्तुकवाक्प्रपंचेन ॥७४३॥

(किसी विट की वाचालता के सम्बन्ध में गणिका की उक्ति) 'सुरदेवि, चन्द्रवर्मा नाम का विट अपनी व्यर्थ के वाक्प्रपंच से दिशाओं को लाभों से भरी बनाता है और अमृत की किरणों वाले चन्द्र को हाथ में उतारता है' ॥७४३॥

त्वामनुयान्ते सम्प्रति पश्यामि कुरंगिकेऽत्र वसुरोपम् ।
सुनिरूपिता भविष्यसि विषमा गुडजिह्विका तस्य ॥७४४॥

(किसी गणिका को विट का अनुगमन करती हुई किसी गणिका के प्रति उक्ति) 'कुरंगिके, इन दिनों तुझे वसुरोप के पीछे चलती देख रही हूँ। बाद में उसकी मिठासभरी टेढ़ी जीभ का तुझे पता चलेगा ॥७४४॥

चर्वयति जलं योऽसौ हरिणि हतो धूर्तताभिमानेन ।
लिखति शतं दशगुणतया स निमज्जति तरलिकावर्ते ॥७४५॥

(गणिका के घर में पड़े धनिक के सम्बन्ध में दासी के प्रति गणिका की उक्ति) 'हरिणि, अपने धूर्त होने के अभिमान में जो यह मस्तक को ठगता रहता है—एक को बढ़ा दे कर (अपने ग्रास में) उसका दसगुना करके दर्ज करता है, वह अब (मायाविनी) तरलिका के चपेट में पड़ गया है ॥७४५॥

गृह्णासि यत्पटान्ते मम पश्यत एव मन्द मदिराक्षीम् ।
मत भाषयोरवश्यं मा मस्यसि नोत्तमंतरं भवति ॥७४६॥

(कोई विट अपने साथी की असावधानी को लेकर उसका तिरस्कार

1—काशी स्थित अमरीश्वर के मन्दिर की देवदासी। सम्भवतः यह मन्दिर आज भी काशी में सिंधिया घाट के ऊपर विद्यमान है। प्राचीनकाल में देवमन्दिरों में नृत्य-गाने के लिए युवति स्त्रियाँ काम पर नियुक्त की जाती थीं और 'देवदासी' कहलाती थीं। यह प्रथा आगे चलकर एक सामाजिक कुप्रथा बन जाने के कारण बन्द कर दी गई। दक्षिण के मन्दिरों में कुछ काल में यह प्रथा अब भी प्रचलित है।

करता है) 'मुग्ध, मेरे देखते ही जो तू मदिराक्षी का आँचल खींचता है तो हम दोनों का न कहना। हृदय (का भाव) कहा नहीं जाता ॥७४६॥

योऽयं गृहीतवृषिकः कुशकर्णी विधृतदण्डकाषायः ।
लोकस्पर्शाशङ्की कृतापसारो विलोकयन्पार्श्वे ॥७४७॥

(कोई गणिका किसी साधु के आचारों से उसके बनावटी होने का अनुमान करके अपने मनोरथ की सिद्धि का निर्धारण करते हुए कहती है) हे कुमुदिनि यह जो बगल में आसन लिए, कानों में कुश लगाए, दण्ड और काषाय वस्त्र धारण किए, लोगों के छू जाने के डर से उन्हें हटाता, बगल में इधर उधर देखता ॥७४७॥

कुर्वाणो मौनव्रतमुत्पादितसकलवैष्णवश्रद्धः ।
हरिशासने प्रपन्नस्त्रिपुरान्तकदर्शनापदेशेन ॥७४८॥

मौन व्रत धारण करता, विष्णुभक्तों के मन में श्रद्धा की भावना उत्पन्न करता (नारद पञ्चरात्र आदि) वैष्णव शास्त्रों की शरण में प्रपन्न, शिवजी के दर्शन के बहाने ॥७४८॥

रूक्षेण पश्यति युक्त्या साकाङ्क्षं वर्जितान्यजनदृष्टिः ।
कुमुदिनि मम हृदयगतं भविता व्याजलिङ्गिनानेन ॥७४९॥

युक्ति से दूसरे लोगों की आँखें बचा कर औरतों को हसरत भरी निगाह से देखता है इस हेतु मेरा हृदय कहता है यह ढोंगी साधु होगा' ॥७४९॥

परमपश्यमानो निरीक्षितो वीक्षते परां ककुभम् ।
ब्रूते किंचित्सस्पृहमभिमुखो भवति कीलितध्यानः ॥७५०॥

(वेश्या द्वारा कामुक का वर्णन) 'इस तरह (हमें) देखता है कि जब उसे कोई (दूसरा) न देख ले। लोगों की आँखें जब उस पर रहती हैं तब यह अन्य दिशा की ओर देखने लगता है, कुछ भी सस्पृह होकर बोलता है और पूछने पर उसकी आवाज दब जाती है ॥७५०॥

न जहाति समासन्नं नोत्सहते पार्श्वगोचरे स्थातुम् ।
एष मनुष्यो मन्ये निष्प्रतिमः साभिलाषश्च ॥७५१॥

नजदीक स्थान छोड़ता नहीं और पास में खड़े होने का साहस नहीं करता, मुझे लगता है यह आदमी बड़ा प्रेमी और चाहने वाला है' ॥७५१॥

तेऽद्योता खलु दिवसा क्रियते नर्म त्वया समं येषु ।
अधुनाचार्याणी त्वं पाशुपताचार्यसम्पर्कात् ॥७५२॥

(कोई धनी गणिका द्वारा पाशुपत धर्मी के शिष्य बनने के बाद उपस्थित हुआ उसके प्रति ईर्ष्यावश कहता है) वे दिन अब नहीं रहे जब तेरे साथ इसी प्रकार करते थे । अब तो पाशुपताचार्य की संगति में तू भी 'आचार्यिन बन गई है' ॥७५२॥

भ्रमसि यथेष्टं तावत्कुर्वाणो युवतिपल्लवग्रहणम् ।
लोलिकदास न यावन्नरदेवीपाशिकां विशसि ॥७५३॥

(शठ सेवक के प्रति गणिका की उक्ति) 'लोलिकदास, जब तक नरदेवी के पाश में नहीं फँस जाता तब तक जवान औरतों का पल्ला पकड़ते हुए अपने मन से तू घूमता रहता है ॥७५३॥

एवंप्रकारवाक्यप्रसक्तविटचेटिकासमाकीर्णम् ।
सेवाचतुरपुरःसरं विजनीकृतपरमदेवकुलम् ॥७५४॥

(सेवा निपुण परिजनों द्वारा आगे-आगे मार्ग में भीड़ हटाए जाने पर विटों और चेटिकाओं से भरे मन्दिर की ओर जाते हुए उसने इस प्रकार उन लोगों की बातचीत सुनी) ॥७५४॥

उत्पादितहरपूजो निष्ठुरयाष्टीकनियमिते लोके ।
त्वरितनियोगिस्थापितमासनमध्यास्त समरभटः ॥७५५॥

त्रिपुरनाथ जी की पूजा करके, छड़ी वाले लठैतों द्वारा लोगों के रोके जाने पर समरभट भृत्यों द्वारा शीघ्र ही रखे हुए आसन पर बैठ गया ॥७५५॥

अथोपविष्टनर्तकवांशिकगायकप्रकारयुवतिगणः ।
श्रेष्ठिप्रमुखवणिग्जनढौकितताम्बूलकुसुमपटवासः ॥७५६॥

उसके आगे नाचने वालों वंशी बजाने वालों, गाने वालों तथा तरह तरह औरतों (प्रायःपुरनियों वारयात्रा) का समूह बैठा । फिर सेठों और महाजनों ने उसे पान फूल और पटवास (कपड़ों आदि वासने का सुगन्धित चूर्ण) उपहार में अर्पित किया ॥७५६॥

विविधविलेपनसरटितचक्रकवरखड्गधारिणान्यैः ।
पृष्ठत आत्तकृपाणे शिरोभिरक्षैश्च विश्वस्तैः ॥७५७॥

उसके पास नाना प्रकार की चित्रकारी किए चक्रक धारी (चक्राकार ढाल धारण करने वाले) और तलवारधारी पुरुष विद्यमान थे। पीछे की ओर कृपाण लिए विश्वस्त अंगरक्षक खड़े थे ॥७५७॥

ताम्बूलकरङ्कभृता सन्दंशगृहीतवीटिकाग्रहणे ।
ईषत्स्पृष्टं कुर्वन्मन्दं खटकामुखेन वामेन ॥७५८॥

जब ताम्बूलकरङ्कवाहक पुरुष ने संदंश के प्रकार से पान के बीड़े को पकड़ा तब उससे उसने अपने बायें हाथ के खटकामुख के प्रकार से थोड़ा स्पर्श करते हुए ताम्बूल ग्रहण किया[1] ॥७५८॥

पार्श्वनिषण्णनर्मप्रियसचिवन्यस्तपूर्वतनुभागः ।
पप्रच्छ कुशलवार्तां स वणिग्जननर्तकप्रभृतीन् ॥७५९॥

उसने अपने बगल में बैठे परिहासप्रेमी मित्र की ओर शरीर का ऊपरी अग्र भाग झुका लिया और बनिये तथा नर्तक प्रभृति से कुशल-समाचार पूछने लगा ॥७५९॥

अथ वैतालिक उच्चैरुपसंहृतलोककलकले धीरम् ।
अभितुष्टाव तमित्थं प्रसन्नगम्भीरया वाचा ॥७६०॥

अनन्तर वैतालिक[2] ने, जब लोगों का कोलाहल शान्त हो गया तब उसे

१—हाथ से किसी वस्तु को पकड़ने की नृत्यप्रसिद्ध मुद्राओं में 'संदंश' और 'खटकामुख' का उल्लेख अभिनयशास्त्र के ग्रन्थों में आता है। प्रस्तुत में ताम्बूल करंक वाहक पुरुष ने 'संदंश' हस्त से ताम्बूल अर्पित किया और 'खटकामुख' हस्त से राजा ने उसे ग्रहण किया। पं० टीकाकार ने इसके विपरीत अर्थ किया है जो यथाप्रसिद्ध अर्थों में संगत नहीं बैठता। 'संदंश' हस्त (अर्थात् सड़सीनुमा हाथ की मुद्रा) जब तर्जनी और अङ्गुष्ठ के अग्रभाग का संयोग होता है तब नीचे वाला और बीच वाला हिस्सा देखा नहीं होता ऐसी स्थिति में यह मुद्रा 'संदंशहस्त' कहलाती है। खटकामुख—जब तर्जनी और मध्यमा का योग किसी वस्तु को पकड़ने के लिए होता है और उसमें अनामिका का योग होता है ऐसी स्थिति में यह मुद्रा 'खटकामुख' कहलाती है।

२—वैतालिक—स्तुतिपाठक चारण प्रकार। जो समय समय पर राजाओं का गुण-गान करते हैं। उनका लक्षण शारदातनय लिखते हैं—

रागपदहृदयश्लोकै रागैस्तालयुतावलिभिः स्तोत्रैः ।
[illegible] (भावप्रकाशन)

विशुद्ध शब्द, गम्भीर तथा ऊँची आवाज में धीर स्वभाव वाले उस राजपुत्र की इस प्रकार स्तुति की ॥७६०॥

जय देव परबलान्तक गुरुचरणाराधनैक कृतचित्त ।
परवनिताजनमोहन दारिद्र्यतम प्रचण्डकर ज्वाल ॥७६१॥

देव आपकी जय हो आप शत्रु सेना को नष्ट कर देने वाले हैं, गुरुजनों की सेवा में आपका चित्त लगा रहता है आप वनिताजन को मोहित करने वाले हैं, दारिद्र्यरूपी अन्धकार के निवारण करने वाले प्रचण्ड सूर्य हैं ॥७६१॥

रणधीरवंशभूषण गुरुवसुधादेवपूजनप्रह्व ।
शरणागताभयप्रद हितजनबन्धुजीवमध्याह्न ॥७६२॥

रणधीर नायक आप कुलपुरुष के वंश के आप भूषण हैं गुरुजनों और ब्राह्मणों की पूजा में नम्रभाव से युक्त हैं, शरण में आए जनों के आप अभय प्रदान करने वाले हैं, हितजनों, बन्धु-बान्धवों और बन्धुजीव पुष्पों के आप मध्याह्न और पोषणकर्ता हैं ॥७६२॥

ईदृक्प्रतापदहनो भावत्को व्याप्तगगनदिक्चक्रः ।
दृष्टो ज्वलायमानो रिपुवनितातिलकशोभासु ॥७६३॥

उस प्रकार आकाश और दिक्चक्रवाल में व्याप्त आपकी प्रतापाग्नि शत्रु-वनिताओं के तिलक की शोभा में जल रही जाती है (क्योंकि जब वे द्वारा ही शत्रु वनिताएँ प्रथम पति के मारे जाने पर प्रसन्न मार्ग के तिलक को धो देती हैं) ॥७६३॥

एष विशेषः स्पष्टो वह्नेश्च त्वत्प्रतापवह्नेश्च ।
अंकुरति तेन दग्धं दग्धस्यानेन नोद्भवो भूप ॥७६४॥

अग्नि और तुम्हारी प्रतापाग्नि इन दोनों में यह स्पष्ट भेद दिखाई देता है कि अग्नि से जला हुआ फिर अंकुरित हो जाता है और तुम्हारी प्रतापाग्नि से जले हुए का उद्भव फिर नहीं होता ॥७६४॥

शीतलभुजतरुवृत्तो विग्रहरसिको विमुखशस्त्ररतिः ।
राजस्थितिं न मुंचति हृतसकलश्रीकोऽपि तव विपक्षगणः ॥७६५॥

तुम्हारे शत्रु राजलक्ष्मी के हर लिए जाने पर भी श्री के पन का मोह

करते हैं (श्लेष—वन में जाकर भोजन अर्थात् बिल्वफल का भोजन करते हैं), पत्र अर्थात् वाहनों से घिरे रहते हैं (श्लेष—पत्र अर्थात् पत्तों से अपने शरीर को ढके रहते हैं), विग्रह अर्थात् युद्ध के रसिक हैं (श्लेष—विग्रह अर्थात् शरीर के रसिक हैं, शरीर को निरन्तर श्रम से दृढ़ बनाते हैं), शस्त्र का अनुराग छोड़ बैठे हैं (अब शस्त्र उनके लिए व्यर्थ हैं) इस प्रकार अब वे राज्य की मर्यादा नहीं छोड़ रहे हैं ॥७६५॥

ददतो वाञ्छितमर्थं सदानुरक्तस्य तव गृहं त्यक्त्वा ।
स्त्रीचापलेन कीर्तिर्नग्नासक्ता गता ककुभः ॥७६६॥

यद्यपि तुम मनचाहा धन देते हो और अनुराग करते हो तब भी स्त्री जाति की स्वाभाविक चपलता के कारण कीर्ति नग्न (नंगा, श्लेष से बन्दी जन) पुरुषों में आसक्त होकर दिशाओं में चली गई[1] ॥७६६॥

भवतो भवतो धैर्यं तेन हि निहतोऽन्धको रिपुः प्रथमः ।
मुक्तास्त्वया हि बहवो रिपवस्तु प्रेक्षका समरे ॥७६७॥

आपका धैर्य शिवजी से भी अधिक है, क्योंकि उन्होंने अग्रीभूत अन्धक असुर को मारा और आपने युद्ध में देखने वाले बहुत से शत्रुओं को भी मुक्त (मुक्ति को प्राप्त) कर दिया ॥७६७॥

भ्रमता धात्रीमखिलामिदमाश्चर्यं मया परं दृष्टम् ।
धनदोऽपि सन् जनानन्दन परिहरसि यदुग्रसम्पर्कम् ॥७६८॥

मैंने सारी धरती पर भ्रमण करते हुए एक आश्चर्य देखा कि हे लोगों को आनन्द देने वाले, तुम 'धनद' (कुबेर) होकर भी 'उग्र' (शिवजी) का सम्पर्क त्याग करते हो (अभिप्राय यह कि धन देने वाले होकर भी उग्र या अभिमानी जनों का सम्पर्क त्याग करते हो) ॥७६८॥

इदमपरमद्भुततमं युवतिसहस्रैर्विलुप्यमानस्य ।
वृद्धिर्भवति न हानिर्यत्तव सौभाग्यकोषस्य ॥७६९॥

दूसरा परम आश्चर्य यह है कि हजारों युवतियाँ तुम्हारे सौभाग्य के खजाने को लूटा करती हैं तथापि उसकी वृद्धि ही होती है हानि नहीं ॥७६९॥

1—कीर्ति का नग्न अर्थात् वन्दि पुरुषों में आसक्त होकर दिशाओं में चला जाना व्याजस्तुति है अर्थात् तुम्हारी कीर्ति को बन्दीजन या स्तुति-पाठ करने वाले लोग दिग्दिगन्त में जा-जाकर प्रसारित करते हैं।

अपरं विस्मयजननं चपलत्वं नापयाति यद्भवतः ।
ललनालोचनकुवलयदलत्विषा क्षालितस्यापि ॥७७०॥

आश्चर्य यह भी होता है कि ललनाओं के कुवलय दलों की कान्ति से सिंचित होने पर भी आपकी चपलता (चञ्चलता) नहीं जाती ॥७७०॥

हृदयेषु कामिनीनामेकोऽनेकेषु वससि येन त्वम् ।
अनङ्ग कुसुमास्त्रपाणे पुरुषोत्तम तेन विश्वरूपोऽसि ॥७७१॥

जिस कारण एक होकर भी अनेक कामिनियों के हृदयों में रहते हो उसी कारण हे पुरुषोत्तम फूल के बाण धारण करने वाले कामदेव का उत्तम करने वाले तुम विश्वरूप (नारायण) हो[1] ॥७७१॥

किं वहसि वृथा गर्वं प्रियोऽहमिति योषितां नराधीश ।
कांक्षन्ति स्म मुरारिं षोडशगोपीसहस्राणि ॥७७२॥

हे नराधीश स्त्रियों का मैं प्रिय हूँ यह व्यर्थ गर्व धारण करते हो मुर के शत्रु श्रीकृष्ण को सोलह हजार गोपियाँ चाहती थीं ॥७७२॥

कार्पण्येन ययाचे मखसमये यो बलिं हृषीकेशः ।
न स भवति समो भवता दानैकनिषण्णहृदयेन ॥७७३॥

जिस हृषीकेश अर्थात् विष्णु ने दीन भाव प्रकट करके यज्ञकाल में राजा बलि से याचना की, वह एक मात्र दान करने में जिसका हृदय स्थिर है ऐसे आपके समान नहीं है ॥७७३॥

भूमिभृतामुपरिस्थित उन्नतये सकलजीवलोकस्य ।
तृष्णासंतापहरो मेघ इव कदा न दातास्त्वम् ॥७७४॥

समस्त जीवलोक की उन्नति के लिये भूमिभृत् अर्थात् राजाओं (श्लेष से

१—अनङ्ग के उत्तम करने वाले नारायण पक्ष में अनङ्ग का पिता और राजपुत्र के पक्ष में कामोद्दीपक। अथवा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण प्रद्युम्न के जनक एवं सबके हृदय में रहने के कारण 'विश्वरूप' कहे जाते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । गीता

अथवा समस्त प्राणियों के हृदय में समान रूप से निवास करते हैं। यह राजपुत्र पृथ्वी में उत्तम है और कामिनियों के मदन को उद्दीपित करने वाला है एवं समस्त कामिनियों के मन में अधिकार कर लेने के कारण 'विश्वरूप' कहा गया।

पर्वतों) के ऊपर स्थित रहने वाले, सन्ताप को शमन करने वाले एवं वर्षा करने में निपुण आप मेघ के समान देखे जाते हैं ॥७७४॥

बहुमार्गो भङ्गयुतः कुसृतिपरो गोत्रभेदकरणपटुः ।
गंगाजलप्रवाहः पुण्यवशात् केवलं तव समानः ॥७७५॥

पुण्य के कारण ही गङ्गाजल का प्रवाह तुम्हारे समान है, क्योंकि तुम बहुमार्ग (बहुत प्रकार के मार्ग या व्यवहार-रीतियों वाले) हो और वह अनेक मार्गों से चलता है, तुम भङ्गयुत (भ्रूभङ्ग से युक्त) हो और वह भङ्ग अर्थात् तरङ्गों से युक्त है, तुम कुसृतिपर हो अर्थात् धोखा धड़ी करने वाले कुटिल लोगों के प्रति शठता की नीति अपनाते हो और वह टेढ़े-मेढ़े मार्ग में प्रवाहित है, तुम गोत्रभेद अर्थात् अपने को कुछ अन्य कुलों से विशिष्ट करने में निपुण हो और वह गोत्रभेद अर्थात् पर्वतों की भेदन के कार्य में समर्थ है ॥७७५॥

दुर्व्यवहारोत्पत्तिर्मौग्ध्यप्रसरो येन विवेकित्वापसृतिः ।
एकस्त्वं दोषज्ञः कृतीकृतो येन कलिकालः ॥७७६॥

दोषों को जान कर उनके निवारण करने वाले अकेले आपने कलिकाल को जिसमें दुर्व्यवहारों की उत्पत्ति होती है, मुग्धता से जो भरा रहता है और जो अविवेक वाला है, कृतयुग (सत्ययुग) बना दिया है जिसमें दुःख से (रहित) व्यवहारों की उत्पत्ति होती है, जिसमें निष्कपट भाव होता है और जो विवेक से युक्त होता है ॥७७६॥

सुगतोऽपि नाभिविमुखो वृषध्वजोऽपि न विषादित्वायुक्तः ।
उपतापस्नोऽपि रिपौ कथमसि सन्नासिको जातः ॥७७७॥

आप कैसे सुगत (बुद्ध) होकर भी बुद्ध से विमुख नहीं हैं और वृषध्वज (शिव) होकर भी कैसे विषादिता (विषपान की प्रवृत्ति) से युक्त नहीं हैं, शत्रु के प्रति उपतापस्न होकर भी कैसे सन्नासिक (इसके युक्त नासिका अर्थात् कृपाप्राप्त) हैं । ॥७७७॥

स मणिरनेकभोगी गुरुभारसहः स्थिरात्मतास्थानम् ।
नरदेव विश्वमेतदपरशेषगुणैस्त्वमासि स्पष्टः ॥७७८॥

हे नरदेव सन्मणि (सज्जनों में श्रेष्ठ फणों पर मणि धारण करने वाले) अनेक भोग (बहुविध सुख भोगने वाले ; हजार फनों वाले) गुरुभारसह

(पृथ्वी के शासन का भारवहन कार्य करने वाले) धैर्य (या स्थैर्य) के पात्र तुम, आश्चर्य तो यह होता है कि इस प्रकार शेष अर्थात् सर्पराज के गुणों से युक्त होकर भी अशेष गुणों से युक्त हो (अर्थात् शेष या सर्पराज के गुण तुममें नहीं हैं, प्रत्युत यह कि सारे गुण तुममें विद्यमान हैं) ॥७७८॥

प्रकृतिलघोर्येन कृता जघन्यवर्णस्य गौरवापत्तिः ।
जघनचपला यदार्या स पिङ्गलस्ते कथं तुल्यः ॥७७९॥

छन्दःशास्त्र के रचयिता वह पिङ्गलाचार्य कैसे तुम्हारे सदृश है ? जिन्होंने प्रकृतिलघु (स्वभाव से ही छोटे, हीन जाति वाले) जघन्य (अन्तिम, निन्द्य) वर्ण (अक्षर, ब्राह्मण आदि वर्णों में शूद्र) को गौरव (गुरुता उत्कर्ष) प्राप्त कराया है तथा जघन-चपला (इस नाम का एक मात्रा छन्द व्यभिचारिणी स्त्री, जो अपने जघन से चपल है) को जो आर्या (छन्द, सच्चरित्रा नारी) माना है ॥७७९॥

यस्य न जातिर्नात्मा नार्थज्ञानं न मानसे प्रशमः ।
भवसि भवसागररत्नं तेनाद्वयवादिना सदृशः ॥७८०॥

जिसकी तुम जाति का सम्बन्ध नहीं हो ! जिसको आत्मा (अर्थात् अपने आदमी) नहीं हो ! धन के लिए जिसके तुम ज्ञान के विषय नहीं ! और शान्ति मान तुम जिसके हृदय में निवास नहीं करते हो ! इस प्रकार तुम संसार के सारभूत रत्न होकर अद्वयवादी अर्थात् विज्ञानाद्वैत (विज्ञान के अतिरिक्त सबको मिथ्या) कहने वाले बुद्ध के द्वारा उपमेय नहीं हो ॥७८०॥

तत्रापि वृद्धियोगस्तस्मिन्नपि पुरुषगुणगणख्यातिः ।
परिभाषा तत्रापि व्याकरणान्नातिरिच्यसे तेन ॥७८१॥

उस व्याकरणशास्त्र में भी वृद्धि का योग है, वहाँ भी पुरुष के गुणगणों की ख्याति है, परिभाषा वहाँ भी है, इस लिए तुम व्याकरण शास्त्र से अति-रिक्त नहीं हो ॥७८१॥

निर्व्याजस्तवनोऽपि त्यक्ताक्षेपोऽपि निन्द्यमानोऽपि ।
सद्भूतसकलगुणैर्नायं त्वं गामलक्ष्ये ॥७८२॥

व्याजपूर्ण स्तुति से रहित होकर भी आक्षेप (अर्थात् मिथ्यानिन्दा) की

ओढ़ कर भी उपधान शून्य होकर भी हे नाथ तुम अपने सद्रूपक (अर्थात् शोभन रूप) और कान्ति के गुणों से पृथ्वी को अलंकृत करते हो[1] ॥७८२॥

अन्यैव वर्णनैषा भवतस्तु लोकान्तरास्थिता कापि ।
वामो यथैव शत्रुषु मित्रेषु तथैव वामोऽसि ॥७८३॥

यह तुम्हारा गुण वर्णन कुछ और ही लोकोत्तर है जैसा कि तुम जिस प्रकार शत्रुओं के सम्बन्ध में वाम (प्रतिकूल) हो उसी प्रकार मित्रों के सम्बन्ध में वाम (सुन्दर) हो ॥७८३॥

पूजयसि येन गुरुजनमभिनन्दसि येन साधुचरितानि ।
प्रीणयसि येन विप्रान्नृपनन्दन तेन तेन वृषलस्त्वम् ॥७८४॥

जिस कारण अपने गुरुजन की सेवा करते हो, जिस कारण सत्कार्यों का अभिनन्दन करते हो और जिस कारण ब्राह्मणों को प्रसन्न करते हो, हे नृप-नन्दन उस कारण वृषल (धर्म अथवा श्रेष्ठ) हो ॥७८४॥

दैन्यमिदं यच्छ्लाघा क्रियते ते रक्षसापि न समस्य ।
न स्ववशमकरोद्योषितमिति भवांस्तु भुङ्क्ते प्रसह्यरिपुलक्ष्मीम् ॥७८५॥

यह दयनीयता की बात है कि तुम जो कि राक्षस के भी समान नहीं हो, फिर भी तुम्हारी प्रशंसा की जा रही है, क्योंकि उस राक्षस ने नारी सीता पर अपना बलात्कार नहीं किया और तुम शत्रु की लक्ष्मी का हठपूर्वक उपभोग करते हो ॥७८५॥

तावणिकाभाद्यवचस्तवने यत्लाभहेतुरस्माकम् ।
तत्स्तवति ते स्वरूपे यामि नमः सन्तु सौख्यानि ॥७८६॥

हे रमणीय चाटुपूर्ण वचनों द्वारा स्तुति करना जाकि हम लोगों के लिए प्राप्ति या लाभ का हेतु होता है वह तो तुम्हारे स्वरूप के साथ संगत हो जाता है, अतः जाता हूँ, तुम्हें प्रणाम, तुम्हारे सुख हों ॥७८६॥

1—यहाँ श्लेष के प्रकार से कवि ने व्याजस्तुति आक्षेप रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग किया है।

प्रत्वानन्तरमथदभ्यन्दिनमभिनन्द्य साधुवादेन ।
मास्त्व किमाकुलता ते यास्यसि तुष्टो मया प्रहित ॥७८७॥

तब पुन कर उसने वैतालिक को 'साधु 'साधु' कह कर अभिनन्दन किया और कहा—ठहरो इतनी तुम्हें घबड़ाहट क्या है ! मेरे द्वारा सन्तुष्ट करके भेजे जाने पर जाना ॥७८७॥

पुनरपि पठ तद्युगलं गीतिकयोर्यत्पुरा पठितम् ।
कक्षान्तरितेन मम स्थितस्य कुलपुत्रिकावासे ॥७८८॥

जब मैं कुल पुत्रिकावास में कक्ष के भीतर बैठा था उस समय जिन दो गीतिकाओं को तुमने पढ़ा था उन्हें फिर पढ़ दो ॥७८८॥

त्वयि वदति साधुवादं वागियमुन्मुद्रिता बुधसमाजे ।
अभिधायेति पपाठ निःस्थापनविशुद्धनादेन ॥७८९॥

'तुम्हारे द्वारा साधुवाद किए जाने पर मेरी यह वाणी बिल्कुल उल्लसित हो उठी है' यह कह कर उसने उर, कण्ठ और सिर के स्थान से विशुद्ध आवाज में पाठ किया ॥७८९॥

एका स्वजनकुपिता विरसान्या प्रणयभंगवैलक्ष्यात् ।
काचिन्निकटवरासनमप्राप्य बिभर्ति निर्वेदम् ॥७९०॥

'एक सुन्दरी स्वजन तिरस्कार (अपमान) से कुपित हो गई है, दूसरी प्रणय के भग हो जाने के कारण उदास हो रही है, और बिल्कुल उत्तम समीप आसन न पाकर मन अनुभव करती है ॥७९ ॥

अन्या कलहान्तरिता नवपरिणयलज्जयापरा सहिता ।
रमणीगणमध्यगतः स्मरातुरः किं करोतु बहुजानिः ॥७९१॥

कोई पति को अपमानित करके पीछे पछता रही है, कोई नई शादी से लज्जित हुई है, रमणियों के बीच पड़ा बहुत पत्नियों वाला कामातुर क्या करे ! ॥७९१॥

अभ्युपगमावबोधकमस्तकचलनं विधाय विहस्य ।
मुख्याचार्यमवादीदेतस्मिन्निः सुसंगतम् ॥७९२॥

मनुष्य का सूचक शिरश्चालन कर, यों उठकर यह मुख्याचार्य से बोला, 'अब क्या समीप होगा' ! ॥७९२॥

स उवाच ततो वणिजो नेतारो यत्र यत्र पात्राणि।
शाठ्यायतनं दास्यस्तत्र कुतः सौष्ठवं नाट्ये ॥७६३॥

तब उसने कहा, 'जहाँ बनिये नेता हों, जहाँ शठता के निवास-स्थान दासियाँ पात्र हों वहाँ नाट्य में कहाँ से अच्छाई होगी ? ॥७६३॥

काचिद्बलिनाक्रान्ता काचिन्न जहाति कामिनं रुचिरम्।
अन्या पानकगोष्ठ्यां नयति दिनं प्रीतकैः सार्धम् ॥७६४॥

किसी पर बलशाली पुरुष सवार है, कोई मनभाये कामुक को नहीं छोड़ती ही कोई प्रेमियों के साथ पान-गोष्ठी में दिन बिताती है ॥७६४॥

नोत्सृजति सततमेका पुरुषागमनाशया गृहद्वारम्।
शूलापालः कथयति लब्धोत्कोचो रजस्वलामपराम् ॥७६५॥

कोई हमेशा पुरुष के आने की आशा से घर का दरवाजा नहीं छोड़ती। वेश्याध्यक्ष[1] घूस पाकर दूसरे को रजस्वला कह देता है ॥७६५॥

रङ्गगतापि क्षुद्रा शृणोति यदि परिचितं गृहायातम्।
उद्दिश्य व्यापि कार्यं व्रजति ततः प्रकृतमुत्सृज्य ॥७६६॥

रङ्गभूमि में पहुँची हुई भी क्षुद्र वेश्या जब यह सुनती है कि उसके घर कोई परिचित आदमी पहुँचा है तब कार्य का उद्देश्य करके प्रस्तुत काम छोड़ कर चल देती है ॥७६६॥

आतारुण्योद्भेदात्कान्ते दृष्टिर्यया न्यस्ता।
सामाजिकमध्यस्था सा कथमन्यासु याति परभागम् ॥७६७॥

जिसने यौवन के खिलते ही अपने सुन्दर प्रिय में आँखें डाली हैं वह सामाजिकों के बीच जाकर कैसे अधिक शोभा को प्राप्त करेगी ? ॥७६७॥

१—वेश्याध्यक्ष—यह एक वेश-भीतर का प्रधान कर्मचारी होता था जो वेश्या के मुख्य कार्यों के सम्बन्ध की पूरी तैयारी करता था। कुट्टनीमत के ६४ वें श्लोक में इसे ही 'शूलापाल' कहा है—

शूलापालस्थापितप्रतिपद्   ५

चेतोवशिता सत्त्वं सत्त्वे सति चारुता प्रयोगस्य।
न भवति सा वेश्यानामल्पापि पुरुषहृतहृदयानाम् ॥७९८॥

मन के बिना सत्त्व नहीं होता, सत्त्व के होने पर अभिनय की चारुता होती है, और वह अभिनय की चारुता शराब, मांस और पुरुष में चित्त लगाने वाली वेश्याओं का नहीं होती ॥७९८॥

वयमपि देवनिकेतनमनङ्गहर्षे गते त्रिदशलोकम्।
आश्रितवत्योऽगत्या तीर्थस्थानानुरोधेन ॥७९९॥

हम लोग भी महाराज अनङ्गहर्ष[1] के स्वर्ग सिधारने पर इसके तीर्थस्थान होने के कारण और दूसरी राह न होने से यहाँ बस गये हैं ॥७९९॥

इह तु कदाचित्किंचिद्वृत्तिनिरोधाभिशंकया निरुत्साहाः।
रत्नावल्यामेता विदधति करपादविक्षेपम् ॥८००॥

यहाँ कभी-कभी तो निरुत्साह ये वेश्यायें कुछ जीविका के नष्ट हो जाने के डर से 'रत्नावली' (हर्षदेव रचित नाटिका) के अभिनय में हाथ-पैर का विक्षेप कर देती हैं ॥८० ॥

वत्सेशभूमिकास्या इयमनुकुरुते नरेश्वरचमस्यम्।
वासवदत्ताचरितप्रयोगमेषा विडम्बयति ॥८०१॥

वत्सराज की भूमिका इसकी होती है, यह उसके नमस्चित का अनुकरण करती है, यह वासवदत्ता के चरित्र का अभिनय करती है ॥८०१॥

उद्यमसाहित्यवशाच्छोभातिशयेन मदनुबन्धेन।
अनया प्रसिद्धिराप्ता सिंहलराजात्मजानुकृतौ ॥८०२॥

शोभा के उत्कर्ष के सहित उद्यम के समन्वय के कारण एवं मेरी प्रेरणा

यहाँ का प्रसंग है कि मुक्तापीड का नरवाहन गणिका से रूप (कञ्चुक) पाकर उसे अभिनय के लिए बुलाना चाहता था कि वह तो अभी रत्नावली है जैसे का सकती है।

१—अनङ्गहर्ष—यह 'रत्नावली' के रचयिता महाराज हर्षदेव का उपनाम है। विद्वद्गोष्ठी में उनकी ख्याति इसी उपनाम से थी। संस्कृत के अन्य कवियों के भी उनके किसी विलक्षण चमत्कारी वचन के कारण उपनाम चल पड़े थे।

स इसने सिंहल राजपुत्री (रत्नावली) के अभिनय में प्रसिद्धि पाई है ॥८०२॥

विविधस्थानकरचनां परिक्रमं गात्रचलनलालित्यम् ।
काकुविभक्तार्थगिरो रसपुष्टिं वासनास्थैर्यम् ॥८०३॥

मञ्जरी के नाना प्रकार की स्थानक[1] रचना के लिए परिक्रम अङ्गों को मोड़ लेने के लालित्य, कण्ठस्वर की भिन्नताओं (काकु) के द्वारा वाणी के भिन्न अर्थ के प्रकाशन रस की पुष्टि भावना की स्थिरता ॥८०३॥

सात्त्विकभावोन्मीलनमभिनयमनुरूपवर्तनाभरणम् ।
मिश्रामिश्रे वाद्ये लयाच्युतिं वर्णयन्ति मंजर्याः ॥८०४॥

सात्त्विक भावों के उन्मीलन, अभिनय, भूमिका के अनुरूप वर्तन अर्थात् नेपथ्य रचना और आभूषण धारण मिश्र-अमिश्र वाद्य का (पाठ भेद के अनुसार) नाट्य[2] में लयच्युति (अर्थात् लय का भ्रष्ट होना) की सराहना करते हैं ॥८०४॥

एषाभिधानकीर्तनगुणितस्वशरीरकुसुमशररोषा ।
सहसोद्भिन्नमनोभवभावदशा सिन्धुवारविवरेण ॥८०५॥

(रत्नावली की भूमिका में) उदयन का नाम लेते ही जिसके अपने शरीर पर कामदेव का रोष बढ़ गया है जिसकी कामजनित विकार की अवस्था सहसा उद्भिन्न हो उठी है ऐसी इस मञ्जरी ने सिन्धुवार वृक्ष के विवर से ॥८०५॥

१—स्थानक—नृत्याभिनय के समय चार प्रकार का परिवर्तन होता है—मण्डल उत्प्लवन भ्रमरी और चारी। 'मण्डल' के स्थानक, आयत आलीढ प्रत्यालीढ शुभ अस्थित वर्द्धमान, मोटित समसूची और पार्श्वसूची इत्यादि भेद हैं। स्थानक का लक्षण—

कटिस्पृष्ट्याऽर्धपञ्चारपञ्चाङ्ग्या समपादतः ।
समरस्तानया तिष्ठेत् तत् स्यात् स्थानकलक्षणम् ॥

स्थानक के और भी ६ भेद हैं—समपाद, एकपाद, नागबन्ध, ऐन्द्र, गारुड और ब्राह्म (अभिनय दर्पण)।

२—वह नाट्य या रूपक जो नृत्य गीत आदि से समन्वित हो मिश्रनाट्य है जैसे विक्रमोर्वशीय रत्नावली इत्यादि। जिसमें नृत्य-गीतादि का समन्वय न हो वह अमिश्रनाट्य है जैसे मालती-माधव मुद्राराक्षस इत्यादि।

पश्यंती वत्सेश्वरमनुकार्यानुकरणभेदपरिमोषम् ।
साधुध्वनिमुखराननसामाजिकजनमनःसु विदधासि ॥८०६॥

वत्सराज की भूमिका वाले व्यक्ति को 'साधु' 'साधु' की आवाज से मुखर मुख वाले सामाजिक लोगों के मनों में अनुकार्य और अनुकरण का भेद मिटा दिया है[1] ॥८०६॥

वत्सपतिमालिखंती कामावस्थां क्रमेण भजमाना ।
क्षेपपुलकस्वेदैरावहति विसंष्ठुलं हस्तम् ॥८०७॥

वत्सराज का चित्र खींचती हुई क्रम से कामदशा का भाव करती हुई इस मंजरी का हाथ कम्प, रोमाञ्च तथा पसीने के कारण बिलकुल बेकाम हो जाता है ॥८०७॥

सदृशेऽप्यनुभावगणे करुणरसं विप्रलम्भतो भिन्नम् ।
दर्शयति निरभिकांक्षितमुद्बन्धनगोचरापन्ना ॥८०८॥

दृश्यि में भाव यह अनुभाव समूह के समान होने पर भी विप्रलम्भ शृङ्गार से भिन्न करुणरस को संयोगसुख की आशा से रहित करके प्रदर्शित करती है[2] ॥८०८॥

तस्मिन्निदर्शंतीत्थं मंजरिकां सामिलापमवलोक्य ।
पस्पर्श राजपुत्रः किमसाविति वेत्रदण्डेन ॥८०९॥

इस प्रकार इस्त्याचार्य मंजरी का गुण वर्णन कर ही रहा था कि राजपुत्र

1—अभिनेता की सबसे बड़ी सफलता यह मानी जाती है कि वह दर्शकों के मनमें अनुकार्य और अनुकरण का भेद अपने नैपुण्य से मिटा दे। उन्हें यह भ्रम हो कि दुष्यन्त का अभिनय किसी व्यक्ति के द्वारा किया जा रहा है और न अभिनय देख रहे हैं बल्कि उनके मन में यह भाव हो कि वह एक मात्र दुष्यन्त को ही देख रहे हैं। यह अभिनय की सर्वोच्च भूमि मानी जाती है।

2—करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार के अनुभाव प्रायः एक ही होते हैं। केवल पहले में जो शोक स्थायी भाव होता है वह दूसरे में संचारी भाव हो जाता है। दोनों की सबसे मुख्य भेदक बात यह है कि करुण में प्रिय मिलन की आशा नहीं होती और विप्रलम्भ में होती है।

ने मञ्जरी को उत्कण्ठा से देखकर 'क्या बात है' (यह कहते हुए) उसे वेत्र के दंड से स्पर्श किया ॥८०९॥

बुबुधाय तस्य भावं प्रसारयन्युवतिसंकथाकेलिम् ।
न्यक्कुर्वन्वारवधूः सचिवः प्रशशंस बन्धकीगमनम् ॥८१०॥

राजपुत्र के मनोभाव को ताड़ कर, युवतियों के सम्बन्ध में बातचीत की केलि फैलाते हुए मंत्री ने वेश्याओं की निन्दा करते हुए कुलटा (बन्धकी) स्त्री के गमन की प्रशंसा की ॥८१०॥

दाररतिः संततये व्याधिप्रशमाय चेटिकाश्लेषः ।
तत्खलु सुरतं सुखदं कृच्छ्राप्यं यदन्यनारीषु ॥८११॥

अपनी स्त्री में अनुराग सन्तान के लिए किया जाता है और दासी का आलिङ्गन व्याधि के शमन के लिए करते हैं लेकिन वही सुख सुख है जो परकीय नारियों में बड़े कष्ट से मिल पाता है ॥८११॥

स्वव्यापारैकमतेः परचिन्ता नास्ति मे कदाचिदपि ।
पश्यन्त्यास्त्वामीदृशमद्य तु मे मानसं व्यथितम् ॥८१२॥

(यह कह कर उसने परकीय नारी के प्रति दूती के वचन का उदाहरण दिया)

'मैं अपने काम-काज में लगी रहती हूँ, कभी भी दूसरे की चिन्ता मुझे नहीं होती। आज तुझे ऐसा देखते ही मेरा मन व्यथित हो उठा ॥८१२॥

यदि वेद्मि तस्य वसतिं सामर्थ्यं यदि भवेत्ततोऽप्यधिकम् ।
सद्यस्त्वा दग्धविधिं लगुडैः संचूर्णयिष्यामि ॥८१३॥

अगर उसका घर जानती और अगर उससे भी अधिक सामर्थ्य वाली होती तो उस जले विधाता को अभी जाकर लाठियों से चूर कर देती ॥८१३॥

वपुरिदमनुपममीदृग्यदि विहितं तव कृशाङ्गि हतधात्रा ।
अनुरूपरमणविरहात्किमिति कृतं यज्जन्ममफलम् ॥८१४॥

उसने इस प्रकार का अनुपम शरीर बनाया है तब अनुरूप प्रिय से न मिला कर क्यों उसने इस जन्म को निष्फल बना दिया है ? ॥८१४॥

शैशवमस्तु जरा वा व्याधिर्वा रोगेन्द्रियप्रणाशो वा ।
स्वाकारं तारुण्यं न तु कुपतिकदर्थनाग्रस्तम् ॥८१५॥

लड़कपन हो या बुढ़ापा हो या व्याधि हो या किसी रोग से मृत्यु हो लेकिन सुन्दर आकार से युक्त यौवन कुरूप पति की पीड़ा से ग्रस्त न हो ॥८१५॥

केलि: प्रदहति मज्जां शृंगारोऽस्थीनि चाटवः प्राणान् ।
न करोति मनस्तुष्टिं दानमसभ्यस्य गृहभर्तुः ॥८१६॥

कुरूप पति के साथ क्रीड़ा देह के मांस को, उसका शृङ्गार हड्डियों को, उसके चाटुवचन प्राणों को झुलसाने लगते हैं, उसके कुछ देने से भी मन को सन्तोष नहीं होता ॥८१६॥

कुत आगतासि कस्मिन्वेलामियतीं स्थिता किमर्थमिति ।
पृच्छन्नस्वस्थमना जनयति गेही शिरःशूलम् ॥८१७॥

कहाँ से आ रही है ? इतनी देर तक कहाँ रही ? क्यों रही ? इस तरह अस्वस्थ करके पूछता हुआ घर वाला सिर दर्द पैदा कर देता है ॥८१७॥

यदि भवति दैवयोगाच्चक्षुर्विषये समुज्ज्वलस्तरुणः ।
तत्रात्मानं क्षपयति जायां च रटन्गृहस्वामी ॥८१८॥

यदि दैवयोग से कोई सुन्दर जवान आँखों के सामने आ गया तो घरवाला पत्नी को कोसते-कोसते अपने को पीड़ित करता है ॥८१८॥

सविवादे परलोके जनापवादे च जगति बहुवादे ।
दैवाधीने प्रलये न विदग्धा हारयति तारुण्यम् ॥८१९॥

परलोक के सम्बन्ध में तो बड़ा विवाद है, संसार में बहुत लोग बहुत तरह की बातें करते हैं, प्रलय दैव के अधीन होता है, ऐसी स्थिति में चतुर स्त्रियाँ अपनी जवानी व्यर्थ नहीं नष्ट करतीं ॥८१९॥

दुर्भगकरास्फालनमलिनीक्रियमाणशोभमनुदिवसम् ।
तुङ्गमपि पतितकल्पं स्तनशालिनि तव पयोधरद्वन्द्वम् ॥८२०॥

हे स्तनों वाली, कुरूप पति के हाथ के आस्फालन से मलिन जिनकी शोभा

मलिन की जा रही है ऐसे उपल भी स्तन गिरि-जैसे ही हैं ॥८२० ॥

पर्यङ्कः स्वास्तरणः पतिरनुकूलो मनोहरं सदनम् ।
तुलयंति न लवार्धं त्वरितक्षणचौर्यसुरतस्य ॥८२१॥

सुन्दर बिछावन वाला पलंग अनुकूल पति और मनोहर निवास-गृह जल्दी से क्षण भर के चोर्य सुरत के आधे हिस्से की बराबरी नहीं कर सकते ॥८२१॥

सहसा संकटवर्त्मन्यवितर्कितसंमुखागतेनापि ।
अभिलषितेनोद्वहणकमनल्पशुभकर्मणा लभ्यम् ॥८२२॥

सकरे मार्ग में सहसा बिना पहले सोचे-विचारे सामने आ पहुंचे प्रिय के द्वारा टक्कर अनल्प पुण्य से ही प्राप्त है ॥८२२॥

प्रीतिः किल निरतिशया स्वर्गः परलोकचिन्तकैर्गदितः ।
तस्यास्तु न मलाभो हृदयेप्सितपुरुषसंयोगात् ॥८२३॥

परलोक के चिन्तक पुरुषों ने निरतिशय प्रीति को स्वर्ग कहा है और यह प्रीति मन चाहे पुरुष के संयोग से होती है ॥८२३॥

अतटस्थस्वादुफलग्रहणव्यवसायनिश्चयो येषाम् ।
ते शोकक्लेशरुजां केवलमुपयाति पात्रतां मन्दाः ॥८२४॥

अस्थिर (या तट पर स्थित न रहने वाले) मीठे फल के ग्रहण के लिए उद्योग का जिन्हें निश्चय होता है वे मन्द पुरुष केवल शोक, क्लेश और रोगों के पात्र बनते हैं ॥८२४॥

किं प्रतिकूला ग्रहगतिरुत परिणतमन्यथा मदुश्चरितम् ।
स्वानुष्ठानाभ्यसनं किं वा तस्यात्मयोनिहतकस्य ॥८२५॥

क्या ग्रहों की गति ही प्रतिकूल है या अपना पाप ही अब पक चुका है किंवा उस मुये विधाता का अपना पढ़ना मात्र है ॥८२५॥

येन तपस्वी स वृथा स्तौति समीरं त्वदंगसंस्पृष्टम् ।
त्वत्पादान्तभ्रान्तभुवे स्पृहयति कुम्भं त्वयाश्रितां नमति ॥८२६॥

जिससे बेचारा वह पुरुष उस प्राप्त के सम्पर्क वाले समीर को स्पर्श करता

है, मेरे चरण जहाँ चल रहे हों उस धरती की पूजा करता है और तेरे द्वारा सेवित दिशा को नमन करता है ॥८२६॥

ध्यायति युष्मद्रूपं त्वन्नामकवर्णमालिकां जपति ।
एकाग्रीकृतचेतास्त्वदङ्गज सौख्यसिद्धिमभिकांक्षन ॥८२७॥

तेरे रूप का ध्यान करता है तेरे नाम के अक्षरों की माला जपता है। उसने अपने चित्त को एकाग्र कर दिया है तेरे अंग से सौख्य की सिद्धि चाहता हुआ ॥८२७॥

उत्सृष्टसर्व कार्यस्तिर्यग्ग्रीवविलोकय भवतीम् ।
कुरुते गृहाप्ररथ्यां यातायाते शतावर्ताम् ॥८२८॥

सारा कामकाज छोड़ कर गर्दन टेढ़ी करके देखता हुआ घर के सामने वाली गली में सैकड़ों चक्कर लगाया करता है ॥८२८॥

दृष्टोऽसि तया सुचिरं गेहाभ्याशे परिभ्रमन्स्पृहया
संदिश एष दत्त प्राभृतमेतत्तव प्रहितम् ॥८२९॥

(दूती का कामुक के प्रति वचन)

'घर के नजदीक घूमते हुए तुमको। उसने इच्छा से देर तक देखा है उसने यह संदेश और उपहार दिया है ॥८२९॥

शुष्यति श्वासममाना भवत्कृते चेरमनिगमावसरम् ।
इति चतुरशठरमोभिर्विलुप्यते त्वदपदेशेन ॥८३०॥

तुम्हारे लिए घर से निकलने का मौका न पाकर वह सूखती जा रही है—इस प्रकार से चतुर, धूर्त स्त्रियाँ तुम्हारे निमित्त करके उसका धन हरण करती हैं ॥८३०॥

किं वा कथितैरधिकैरस्थानाविष्टचेतसस्तस्याः ।
अनुतिष्ठ यथायुक्तं त्वत्तो मारश्च जीवदाता च ॥८३१॥

अधिक कहने से क्या ? जो कि उसका अपना मन तुम में लगा है सो जैसा उचित हो वही करो, क्योंकि तुम्हीं उसको मारने और जीवनदान देने वाले हो' ॥८३१॥

कुलपतनं जनगर्हां नरकगतिं प्राणसंशयसन्देहम् ।
अङ्गीकरोति तत्क्षणमबला परपुरुषमभियोगी ॥८३२॥

पर पुरुष का अभिसरण करती हुई अबला तत्क्षण कुलपतन, लोगों की निन्दा नरक की गति जीने में सन्देह अङ्गीकार कर लेती है ॥८३२॥

स तु लिखति दासपत्रं त्यजति कुटुम्बं ददाति सर्वस्वम् ।
यावन्न भवति पुरतः परयुवतिर्मोज्झितावरणा ॥७३३॥

परकीया में आसक्त कामुक नौकरी का स्वीकृतिपत्र लिखा देता है[1] परिवार को छोड़ देता है अपना सब कुछ लुटा देता है तब तक जब तक कि पराई युवति आवरण छोड़ कर उसके सामने नहीं हो जाती ॥८३३॥

दृष्टं यद्द्रष्टव्यं समाप्तं कौतुकं विदितमन्यत् ।
इति याति मनसि कृत्वा विहितविधेयस्ततस्तूर्णम् ॥८३४॥

जो देखना था देख लिया कौतुक चला गया, अन्य भी जान ली, ऐसा मन में करके कृतकृत्य होकर वह शीघ्र चला जाता है ॥८३४॥

सापि शिरःस्फोटनगृहीतमुक्ता विलोलसन्त्यक्ता ।
विशति गृहं संत्रस्ता सर्वत आशङ्किता सवैलक्ष्यम् ॥८३५॥

वह पुंश्चली युवती बजाती, दिखाती को निहारती, डरी-डरी सब ओर से आशङ्कित होकर लज्जा के साथ घर में प्रवेश करती है ॥८३५॥

नवचारिणी च या सुरचितकुलटोदितेषु नो निपुणा ।
पृष्टा क्व गतासि त्वं न किंचिदिति सम्भ्रमाद्वदते ॥८३६॥

जिसका शील अभी-अभी ही भंग हुआ है, जो कुलटा की कही बातों के अनुसार चलने में निपुण नहीं है ऐसी स्त्री 'तू कहाँ गई थी' यह पूछे जाने पर हड़बड़ी में कह पड़ती है 'कहीं नहीं' ॥८३६॥

1—दासपत्र लिखति—नौकरी करना स्वीकार कर लेता है। प्राचीनकाल में किसी के यहाँ नौकरी करने के लिए नियमानुसार दास-पत्र लिखने की प्रथा थी। बहुत प्रकार के प्राचीन दास पत्र मिले हैं।

एवं दोषा बहव पुरुषा अपि चपलकौतुका यान्ति ।
त्वं च ग्रहेण लग्ना कार्यविमूढात्र तिष्ठामि ॥८३७॥

चंचल और कुतूहल-भरे पुरुष अपराध थोड़ा होने पर भी कुपित हो जाते हैं, तूने तो हठ पकड़ लिया है और मैं यह कुछ भी नहीं कर पा रही हूँ ॥८३७॥

इति दोलायितहृदया स्थिरीकृताभ्यस्तकर्मणा दूत्या ।
दृष्टेति शङ्कमाना पदे पदे चमति पर्णेऽपि ॥८३८॥

जो प्रपन्न काम में अभ्यस्त है ऐसी दूती द्वारा इस प्रकार की चाल से चलने के लिए स्थिर कर दी गई, दोलायमान हृदय वाली वह पत्ते के भी खड़कने पर मैं देख ली गई यह शंका पद-पद पर करने लगती है ॥८३८॥

सर्वत्र विक्षिपन्ती मुहुर् मुहुश्चकिततरलिते नेत्रे ।
प्राप्ता संकेतमुवं शतगुणितमनोरथाकृष्टा ॥८३९॥

बार बार अपने चकित तरलित नेत्रों को चारों में फैलाती हुई सौगुन मनोरथों से खिंची वह संकेत स्थल तक पहुँचती है ॥८३९॥

भयशृंगारव्रीडामिश्रीभूतानुभावसन्दोहम् ।
जनयन्ती लोलांशुकदृष्टादृष्टांसकुचनाभि ॥८४०॥

यह भय, शृंगार और लज्जा से मिले हुये अनुभाव-समूह को प्रकट करती है, अंशुक वस्त्र के चंचल होने के कारण उसके कंध, स्तन और नाभि कभी-कभी दिख जाते हैं ॥८४०॥

नीवीरसनारम्भं निरुन्धती न न न यामि यामीति ।
निभृतास्फुटाभिधानैः पल्लवयन्ती स्मरस्य कर्तव्यम् ॥८४१॥

नीवी-ग्रन्थि को शिथिल करने का काम वह रोकने लगती है, धूत में जाती हूँ, चली जाती हूँ इस प्रकार के अन्यत्र अस्फुट वचनों से कामदेव के कर्तव्य को पल्लवित करती है ॥८४१॥

नयतीवान्तर्विलयं ग्रसमाना सकलगात्राणि ।
यं रिमस्यतेऽप्ययोषा विश तस्यामृतं पुरत ॥८४२॥

मानो सारे अङ्गों को ग्रसती हुई कामुक को अपने भीतर लीन निर्गत कर

होती है, जो कि परकीया का आलिङ्गन किया जाता है उसके सामने अमृत भी कड़वा है ॥८४२॥

न कृतं तव रहसि पुरो वा व्यावृतकण्ठकुण्ठया वाची ।
गेहस्वामितिरस्कृतिनिष्पादितदुःखयोगनिर्वहणम् ॥८४३॥

'एकान्त में तुम्हारे सामने बाष्प से रुँधे कंठ के कारण कुण्ठित वाणी से घर के स्वामी के द्वारा तिरस्कारों के कारण हुए अपने दुःखावेग की समाप्ति पर्यन्त कहानी मैंने नहीं कही ॥८४३॥

उपधानीकृत्य भुजावन्योन्यं निर्विशङ्कभावाभ्याम् ।
संवलितोरु न सुप्तं शिथिलाङ्गं रतिविमर्दखिन्नाभ्याम् ॥८४४॥

भुजाओं को तकिया बनाकर शङ्कारहित भाव से रतिविमर्द से हम दोनों ने परस्पर में जांघ सटा कर शिथिलाङ्ग हो शयन नहीं किया ॥८४४॥

आत्मगृहादानीतं प्रच्छन्नं स्वादुभोजनं विजने ।
स्वकरेण मया दत्तं निवृतहृदयेन नाशितं भवता ॥८४५॥

अकेले में अपने घर से स्वादिष्ट भोजन छिपा कर ले आई और अपने हाथ से दिया भी तब भी सूखे दिल वाले तुमने उसे फेंक दिया ॥८४५॥

न कृता चरित्ररक्षा न च भुक्तं त्वच्छरीरमपर्यन्तम् ।
इहपरलोकभ्रष्टा क्व यामि किं वा करोमि दुर्गलिता ॥८४६॥

मैंने अपने शील की रक्षा नहीं की और न तुम्हारे शरीर को लोभ्यतापूर्वक उपभोग किया, इस पार उस पार दोनों ओर से भ्रष्ट दुर्गति मैं कहाँ जाऊँ, क्या करूँ ! ॥८४६॥

अवगुण्ठनमिनयवती स्वैरालापं च मन्दसंचारम् ।
सम्प्रति मम पापाया करपिहितमुखा हसन्ति सत्यशा ॥८४७॥

मैं घूँघट वाली बनकर और निज-बात में प्रेम करती हूँ, धीमी आवाज में बातें करती तथा धीमी चाल से चलती हूँ तब अभाग को जानने वाले लोग हाथ से मुँह ढक कर हँसते हैं ॥८४७॥

यासामासीत्सख्यं मया समं समवयःकुलस्त्रीणाम् ।
ता वारयंति मम कुसङ्ग इति तत्प्रियन्तारः ॥८४८॥

बराबर की अवस्था वाली जिन कुलाङ्गनाओं की मेरे साथ मैत्री थी उनके नियमन करने वाले लोग 'कुसंग' कह कर उन्हें मुझसे हटा लेते हैं ॥८४८॥

धिग्वादान्परिजनतः सहमाना मन्युरोधनतवदना ।
तिष्ठामि निरभिमाना निजनिर्मितदोषदौर्बल्यात् ॥८४९॥

अपने ही दोष से हुई कमजोरी के कारण परिजन से धिक्कार की बातें सहती हुई, कुछ भी उत्तर न दे पाती हुई झुके मुख वाली बिना अभिमान के पड़ी हूँ ॥८४९॥

सद्भिर्विधीयमानं प्रसङ्गपतितं पतिव्रतास्तवनम् ।
हृदयेन दूयमाना मुहुः सीदामि शृण्वन्ती ॥८५०॥

सत्पुरुषों द्वारा अवसर पर की गई पतिव्रता नारी की स्तुति सुनती हुई मुहुः मैं हृदय से पीड़ित होती हूँ ॥८५०॥

आसन्न उपविशन्ती मन्दाक्षा मां निषेद्धुमसमर्थाः ।
अन्योन्यमीक्षमाणा ज्ञातिजनाः संकुचन्ति भुञ्जानाः ॥८५१॥

भोजन पर बैठे हुए बिरादरी के लोग पास में बैठती हुई मुझे लज्जा के कारण मना करने में असमर्थ होते हुए परस्पर एक-दूसरे को ताकते हुए संकोच का अनुभव करते हैं ॥८५१॥

अवधीकृतास्त्वयैव क्षणमात्रमनुव्रता गृहोपान्तम् ।
अस्मासु दधौ मन्ता प्रेमस्निग्धामनुव्रतता ॥८५२॥

मेरे घर के आस-पास के स्थान को क्षण भर भी न छोड़ते हुए और हम पर यही प्रेम से स्निग्ध दृष्टि को न डालते हुए तुमने ही मुझे बाहिर कर दिया ॥८५२॥

परगृहघिनाशपिशुना सुभगं मन्याभिरूपाहृतदर्पा ।
इत्थंसाधुत्वपरा भवन्ति पुण्यस्त्रिया एव ॥८५३॥

तुम्हारे सदृश ही लोग दूसरे के घर पर चौपट करने में तत्पर, अपने

को अभिमानपूर्वक सुभग एवं सत्कुलोत्पन्न मानने वाले, गिरगिट के समान राग (रंग, प्रेमभाव) बदलने वाले होते हैं ॥८५३॥

अनभीष्टव्यवहारप्रभवशुचा पोषिताधरा त्वरम् ।
सोपालम्भा विजने धन्या शृण्वन्ति वनकीवाचः ॥८५४॥

इस प्रकार अनभीष्ट व्यवहार के कारण उत्पन्न क्रोध से पीड़ित अधरों वाली उपालम्भ भरे दुःख स्त्रियों की बातें एकान्त में धन्य लोग ही सुन पाते हैं ॥८५४॥

परतरुणीसद्भावस्नेहार्पितनयनमार्गदृष्टस्य ।
वेश्यारचितविलासा कथिता पुरतः पुराणतृणतुल्याः ॥८५५॥

परकीया तरुणी के द्वारा सद्भाव और स्नेह से अर्पित लोचन के कोन से देखे गए पुरुष के सामने कहे हुए वेश्याओं के विलास पुराने घास-फूस के समान हैं ॥८५५॥

उपवनरचितमहोत्सव माराधितदेवताविशेषाणाम् ।
वचनमपि प्रेमार्द्रं स्वैरिण्या श्रवणमेति पुण्यवताम् ॥८५६॥

जिन्होंने अपने देवताओं की आराधना की है उन्हें परकीया तरुणी रति-महोत्सव का आनन्द देती है, उस स्वैरिणी नारी का प्रेमार्द्र वचन भी पुण्यवानों के कान तक पहुँचता है ॥८५६॥

का गणना विषयवशे पुंसि वराके परान्ननास्पृहया ।
व्याजेन वीक्षमाणा ध्यानधियो स्पृशति संज्ञानम् ॥८५७॥

विषयों के वशीभूत बेचारे पुरुषों की गणना क्या ? उधर स्त्री किसी व्याज से दृष्टिपात करती हुई स्थिर ध्यान-भावना वाले मुनियों के भी सम्मान को छू लेती है ॥८५७॥

शिरसा रचिताञ्जलयो वसति निदेशे त्रिविष्टपे गणिका ।
परदाररसास्वादस्तथापि भेजे शचीपतिरहल्याम् ॥८५८॥

स्वर्ग में गणिकाएँ सिर पर अंजलि बाँधे आज्ञा पालन करती रहती हैं

तथापि परकीया के प्रेम में आकृष्ट होकर गोपीजनों के न अप्सरा को उपभोग किया ।।८५८।।

अप्सरसः किं न वशा वैदग्ध्यवतां च किं न धौरेयः ।
येन चकारासक्तिं गोविन्दो गोपदारेषु ।।८५९।।

क्या श्रीकृष्ण के वश में अप्सरायें न थीं क्या वे स्वयं विदग्ध जनों में श्रेष्ठ न थे कि उन्होंने गोपियों में आसक्ति की ।।८५९।।

त्रैलोक्यागता वेश्या स्वाधीना यातुधाननाथस्य ।
तदपि जहार कलत्रं दशरथतनयस्य रामस्य ।।८६०।।

तीनों लोकों की वेश्यायें राक्षसाधिपति रावण के अधीन थीं तथापि उसने दशरथनन्दन राम की पत्नी का अपहरण किया ।।८६० ।।

अथ मञ्जर्या जननी निजपक्ष समर्थने कृतोत्साहा ।
भाषितुमारभते नृपसुतसचिवाभिधितां भाषाम् ।।८६१।।

तब अपने पक्ष के समर्थन में उत्साह करके मञ्जरी की माता ने राजपुत्र के मंत्री की बात का खण्डनार्थ कहा ।।८६१।।

पटयुवतिषु प्रगल्भो नागरिकावदनहृतपुंस्त्वः ।
ग्रामीणोऽविदग्धो निन्दति गणिकां भवद्विधोऽवश्यम् ।।८६२।।

पनहारिनों में प्रगल्भता दिखाने वाला, नागरिक स्त्री को देखते ही अपने पुंस्त्व से स्खलित हो जाने वाला, गवाँर और अविदग्ध आप जैसा आदमी गणिका की अवश्य निन्दा करेगा ।।८६२।।

नाद्य यस्ति मनः पुंसामवगाहितसमोनकेतुशास्त्राणाम् ।
मदनायतनदाक्ष्यहीनं श्रीपत्यतिवन्यनीसुरतम् ।।८६३।।

जिन पुरुषों ने कामशास्त्र का अवगाहन किया है उनके मन को गौरव यदि नामी कुलाय नारी का नगापन और दक्षता से रहित सुरत नहीं लुभाता है ।।८६३।।

स्थापय घटकं तावत्कुरु भूमितले तृणं समास्तरणम् ।
सुरतोपक्रम ईदृक् प्रायो ग्रामीणतरुणमिथुनानाम् ॥८६४॥

घड़े को तब तक रख दो और जमीन पर घास की बिछावन बना दो इस प्रकार ग्रामीण युवक-युवतियों के सुरत का उपक्रम होता है ॥८६४॥

बहलोशीरविलिप्तः श्रवणस्थितजूटकोणमल्लिकामाल्यः ।
पामरनार्या दृष्टः स्मरोऽहमिति मन्यते विटो ग्राम्यः ॥८६५॥

खसकी जड़ के लेप लगाए, बालों में मल्लिका की माला लपेटे गाँव का रहने वाला विट जब गाँव की स्त्री को देखता है, तो अपने को मैं कामदेव हूँ मानने लग जाता है ॥८६५॥

गृहकर्मकृतायासप्रस्विन्नां सलिलकार्यनिर्याताम् ।
उपपतिरुपैति हर्षं निशागमे पामरीं प्राप्य ॥८६६॥

घर के काम-काज में परिश्रान्त पसीने से तर पानी लेने के लिए निकली पामरी को यार के रात्रि के आरम्भ में पाकर प्रसन्न होता है ॥८६६॥

कूपक्षिप्तघटाया नार्यास्तत्काष्ठनिहितचरणाया ।
वलितग्रीवं वीक्षितमुन्मथति मनो ग्रामवासिनां यूनाम् ॥८६७॥

कुएँ में घड़ा डालकर, बीच वाले काठ पर पैर रखकर उस नारी के द्वारा गर्दन मोड़कर दृष्टि डालना ग्रामीण युवक के मन को उभार देता है ॥८६७॥

लग्नोऽपि यत्र ग्रामे कथमपि दैवेन देवयात्रायाम् ।
अद्यापि तत्र मुञ्चति पुलकोद्गमकण्टकं तस्याः ॥८६८॥

गाँव में ठाकुर जी की यात्रा के समय किसी प्रकार दैववश जिस अंग में धक्का लग गया हो उसके उस अंग को आज भी रोमांच नहीं छोड़ता ॥८६८॥

उच्चेषु वर्षासु प्रविष्टया गहनवाटिकां शून्याम् ।
टंकारितेन संज्ञा कृता मया त्वं तु वेत्सि नो मूर्ख ॥८६९॥

कपास चुनने के लिए निर्जन वाटिका में गई उसने ट्न् ट्न् की आवाज से इशारा किया फिर भी तुम ऐसे मूर्ख हो कि न समझ सके ॥८६९॥

आलिंगितमुसलायास्त्वय्येव निविष्टचक्षुषस्तस्या ।
मायस्या भ्रमति पुरो जात खलु शालिकण्डने विघ्न ॥८७०॥

मुसल को आलिंगन किए हुई उस स्त्री की आँखें सामने घूम-घूम कर तुम्हें घूरे, इससे जो लगी रही उससे माटी के धान कूटने में विघ्न हो गया ॥८७०॥

त्वां गोष्ठमाक्षिपन्तं पार्श्वस्थैः स्तूयमानसामर्थ्यम् ।
गृहकर्तव्यं त्यक्त्वा सापश्यद्द्वाररंध्रेण ॥८७१॥

जब तुम गुलेल चला रहे थे और पास वाले तुम्हारी प्रशंसा कर रहे थे तब वह घर का काम छोड़कर तुम्हें दरवाजे के छेद में निहार रही थी ।८७१॥

त्वयि मार्गनिकटवर्तिनि यत्निषेवितमनेदमा तया सुभग ।
प्रत्यासन्नगृहेष्वपि कृत प्रसह्य स्मरातुरो लोक ॥८७२॥

हे सुभग, जब तुम घर के निकट मार्ग में रहते थे तब वह स्नान आदि नित्य कर्म की परवाह न करके भी तुम्हें देखने के लिए जाने रहती थी उस समय पड़ोस के रहने वाले लोग हठात् कामातुर हो उठते थे ।८७२॥

इति चतुरदूतिकोक्तिप्रवर्धितसौभाग्यगर्वपूर्णस्य ।
ऊर्मिसहस्रोल्लसितं भवति मनो ग्राम्यपिङ्गस्य ॥८७३॥

इस प्रकार चालाक दूती के कहने पर बढ़े हुए सौभाग्य के गर्व में चूर गाँव के निवासी चापुड़ का मन हजारों तरंगों में तरंगित हो उठता है ॥८७३॥

विनिवार्य सम्प्रवर्तितवाक्यविलासं मतोत्तमाङ्गेन ।
श्रीसिंहभटस्य सुतं समुवाच वचोऽत्र नर्तकाचार्य ॥८७४॥

अनन्तर उस मल्लिका द्वारा प्रवर्तित वचन-विस्तार को सिर कंपाकर रोककर नाट्याचार्य ने श्रीसिंहभट के पुत्र से कहा ॥८७४॥

मायरभूमौ भवत कुशीलवा मोहनाख्या मुनय ।
अप्सरस स्त्रीलास्ये गान्धर्वे मन्मथमन्मनस्तनय ॥८७५॥

"अभिनय के नाट्य की भूमिका में (उस भूमिका का स्वयं रचना कर)

भरत और दूसरे नटविशेष कोहल आदि मुनि, स्त्री-पात्र के नाट्य में अम्बुदपर्ण, गान्धर्व में कमलजन्मा ब्रह्मा के पुत्र नारद ॥८७५॥

सुषिरस्वरप्रयोगे प्रतिपादनपण्डितो मतङ्गमुनिः ।
यदि रञ्जयन्ति हृदयं भवतो भूमिस्पृशां कुतः शक्तिः ॥८७६॥

तथा वंशी आदि के बजाने में निपुण मतंग मुनि जैसे लोग जब आपके हृदय का रंजन करते हैं, फिर हम पृथ्वी के वासियों की शक्ति कहाँ ! ॥८७६॥

अभ्यधिकं धृष्टत्वं प्रायेण हि शिल्पजीविनो भवति ।
आश्रितनर्तकवृत्तेर्विशेषतो विजितरङ्गस्य ॥८७७॥

प्रायः शिल्पजीवी (कलाकार) लोग बड़े ढीठ हुआ करते हैं, उनमें विशेष रूप से वह जो रंगमंच पर प्रसिद्धि पाया हुआ नर्तक की जीविका वाला प्राणी है ॥८७७॥

विज्ञापयाम्यतस्त्वां निर्मितनाट्यप्रयासभुजा सदयम् ।
अवलोकयाङ्कमेकं मा भवतु मम श्रमो वन्ध्यः ॥८७८॥

इसलिए हे राजन्, मैं आपसे निवेदन करूँगा कि आप नाट्यप्रेमी प्रजा के के लिए दयाकर एक अङ्क का अवलोकन कर लें जिससे मेरा श्रम निष्फल न हो' ॥८७८॥

इति वचनान्तरमतुं पुत्रेण स चोदितो भ्रुवोन्नतया ।
रचिते सकलातोद्ये नियोजयामास सूत्रभृतम् ॥८७९॥

यह कहने पर राजपुत्रद्वारा भौंहें ऊँची करके प्रेरित हुए भरताचार्य ने सब प्रकार के बाजों[1] के स्वरमेलन हो जाने पर सूत्रधार[2] को नाटक आरम्भ करने के लिए आज्ञा दी ॥८७९॥

१—अर्थात् वीणा, मुरज, वंशी और कांस्य इन चतुर्विध बाजों के सुर मिला लेने के पश्चात् ।

२—सूत्रधार—बीजसहित नाटक का अनुष्ठान सूत्र कहलाता है उसे धारण करने वाला नाट्याचार्य ।

मांशिकदत्तस्थानक उद्ग्राहितमिश्रपंचमे सम्यक् ।
प्रावेशिकया ध्रुवया द्विपे महणान्तरेऽविशत्सूत्री ॥८८०॥

बंशी समान भाग (वांशिक) के द्वारा स्थानक [illegible] मन [illegible] सम्यक् प्रकार से मध्यम स्वर की ध्वनि से युक्त पंचम स्वर के साथ [illegible][1], प्रवेशिनी मुख[illegible]गीति के समाप्त होने पर [illegible] (एक विशेष प्रकार के लय) के समाप्त होने के बाद सूत्रधार ने प्रवेश किया ॥८८०॥

उत्साहभावयुक्तः सामाजिकहृदयरंजनं कुर्वन् ।
कविनैपुणवत्त्वेश्वरचरितन्यवियेयत्मास्यसामग्रया ॥८८१॥

उत्साह के भाव से युक्त कवि की निपुणता को प्रकट करने [illegible] के चरित के प्रयोग में [illegible] चातुर की सम्पत्ति द्वारा [illegible] (दर्शक) लोगों के चित्त का अनुरंजन करता हुआ[2] ॥८८१॥

अष्टकलापरिमाणां ध्रुवां परिक्रम्य तालयुक्ताम् ।
आहूय नटीं कृत्वा तया समं स्वगृहकार्यसंलापम् ॥८८२॥

ताल और लय से युक्त आठ कलाओं (मात्राओं) के परिमाण वाली ध्रुवा

1—वांशिक [illegible] स्थानक (स्वर स्थापना) देता है तदनुसार गाने वाला पंचम मिश्र-सप्तम स्वर को उसके साथ मंगल कर सकता है जैसा कि कहा है—

'स्थानग्रहनिमित्तमिश्रो गानदातृः स्वगतः ।
यीमहस्त कम्पामिश्रो वांशिको रस उच्यते ॥

तथा—

'गायणी स्थान-चातुरी तदारम्भदर्शनं तथा ।
वांशिकस्य गुणा एते भरत संस्थाप्य दर्शिताः ॥

संगीतदामोदर

२—यह एक प्रकार का गीत है जो नट द्वारा पात्रों के प्रवेश की सूचना के लिए गाया जाता है ।

३—[illegible] का सामाजिक प्रभाव इस प्रकार है—

का गान कर, नदी को बुला, उसके साथ अपने घर के कार्य सम्बन्धी बातचीत कर ॥८८२॥

सूचितपात्रागमनः किञ्चिद्गत्वा पदानि ललितानि ।
निश्चक्राम गृहिण्या सार्धं निःस्वरणगीतेन ॥८८३॥

पात्र के आगमन सम्बन्धी सूचना दे, कुछ ललित पदों को प्रस्तुत कर, निःस्वरण गीत गाते हुए (वह सूत्रधार) नटी के साथ रङ्गमञ्च से निकल गया ॥८८३॥

आश्रित्य कथोद्घातं प्रविवेश ततः सविस्मयोऽमात्यः ।
दुर्घटसंघटनेन क्षितिनाथस्योदयेन मुदितश्च ॥८८४॥

तब कथोद्[1]घात का आश्रय लेकर आश्चर्य से भरे मंत्री (यौगन्धरायण) ने प्रवेश किया, वह वत्सराज के विचित्र रूप से घटित उदय के कारण प्रसन्न था[2] ॥८८४॥

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी ।
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम् ॥

१—जब पात्र सूत्रधार के कहे हुए अपने वृत्त के समान वाक्य या अर्थ ग्रहण करके प्रवेश करता है वह आमुख 'कथोद्घात' कहलाता है—

स्वेतिवृत्तसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः ।
गृहीत्वा प्रविशेत् पात्रं कथोद्घातः स उच्यते ॥

जैसा कि 'रत्नावली' में सूत्रधार के कहे हुए 'द्वीपादन्यस्मादपि' (१।६) इस वाक्य को पढ़ते हुए यौगन्धरायण प्रवेश करता है।

२—विचित्र घटना यह हुई कि रत्नावली को लाने के लिए यौगन्धरायण ने अपने कंचुकी को भेजा था। वहाँ से आती वसुभूति और रत्नावली को लेकर लौट ही रहा था कि समुद्र में नौका टूट जाने से अलग हो गई। रत्नावली बहती-बहती हुई कौशाम्बी के वणिकों द्वारा बचा ली गई और यौगन्धरायण को अर्पित कर दी गई। उधर कंचुकी और वसुभूति को भी बच जाने की खबर मिल जाती है। इस प्रकार मंत्री यौगन्धरायण वत्सराज उदयन के अभ्युदय की आकांक्षा में बहुत प्रसन्न था।

प्रासादमारुहन्तं कुसुमायुधपर्वचर्चरीं द्रष्टुम् ।
निर्दिश्य वत्सराजं समनन्तरकार्यसिद्धये निरगात् ॥८८५॥

फिर प्रासाद पर मन्मथोत्सव[1] के दृश्य चर्चरी[2] को देखने के लिए भवन के प्रासाद पर चढ़ते हुए वत्सराज को सूचना देकर आगे के कार्य की सिद्धि के लिए[3] निकल गया ॥८८५॥

अथ विशति स्म नरेन्द्रः प्रासादवरं समं वयस्येन ।
अवलोकयन्प्रमोदं प्रमुदितचेताः स्वसौख्यसम्पत्त्या ॥८८६॥

तब अपने मित्र विदूषक के साथ प्रासाद पर गए, उत्सव के आनन्दोल्लास का अवलोकन करते हुए, अपने सौख्य की सम्पत्ति से खुश राजा ने प्रवेश किया[4] ॥८८६॥

विस्मयभावाकृष्टः प्रोत्फुल्लविलोचने ततो विसृजन् ।
नृत्यति पौरजनौघे प्रोवाच वयस्य पश्य पश्येति ॥८८७॥

आश्चर्य के भाव से खिंचा हुआ, विकसित आँखों को दौड़ाता हुआ राजा नाचते हुए नागरिकों की ओर इशारा करके बोला—मित्र देखो देखो ॥८८७॥

१—यह उत्सव प्राचीन काल में वसन्त ऋतु के अवसर पर किया जाता था जो आज 'होली' के नाम से कहा जाता है। इस उत्सव में विशेष रूप से उद्दाम नृत्य-गान के साथ नगर के स्त्री-पुरुष भगवान् कामदेव के आयतन (मन्दिर) में पहुँचते थे और उसकी अर्चना करते थे।

२—चर्चरी यहाँ गीत भेद न होकर इस क्रीड़ा के अर्थ में प्रयुक्त होती है।

३—रत्नावली को उदयन से मिलाने और उसके साथ विवाह कराने की कार्य सिद्धि के लिए।

४—इस प्रसंग का श्लोक है—

राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः ।
सम्यक् पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ॥
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं ।
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥

रत्नावली १।८

तुल्यशिशुतरुणवृद्धं समगुप्तागुप्तयुवतिपरिचेष्टम् ।
अगणितवाच्यावाच्यं क्रीडन्तिजना प्रवृद्धहर्षरसा ॥८८८॥

लोग इस तरह बड़ी खुशी से क्रीड़ा कर रहे हैं कि बालक, जवान और बूढ़े में कोई भेद नहीं रह गया है पेनर्दा और पर्दानशीन औरतें भी बराबर हो गई हैं उनके एक हंसी मजाक हो रहे हैं, यह कोई ध्यान नहीं रह गया है कि क्या कहने योग्य है और क्या नहीं कहने योग्य ॥८८८॥

पिष्टातकपिञ्जरितं रचितोचितविविधकुसुमनिर्यूहम् ।
गात्रायाससमुत्थितबहुनिःश्वासप्रकीर्णपदगोसम् ॥८८९॥

यह बूढ़ा गुलाल से पीतवर्ण का हो गया है, नाना प्रकार के फूलों के गुच्छे सिर में खोंस लिया है, अंगों के थक जाने से उठते हुए भारी निश्वासों के कारण उसके शरीर पर पड़ा हुआ पटवास¹ उड़ पड़ता है ॥८८९॥

तूर्यरवव्यामिश्रितकरतलतालोद्भुजं प्रनृत्यन्तम् ।
मुहुरपि जातस्खलनं संदर्शितदाढ्यसौष्ठवे स्थविरम् ॥८९०॥

तुरही की आवाज से हाथ की ताली मिलाकर ऊपर हाथ उठाए और से नाच रहा है, बारबार गिरता पड़ता है और फिर भी अपने शरीर की मजबूती और दुरुस्ती को प्रदर्शित करता है ॥८९०॥

अस्तु वसन्तः सततं स्वाधीनाभीष्टजनसमाश्लेषः ।
इति गायन्ती रभसादालिगति मदवशात्तरुणी ॥८९१॥

'अपने अधीन रहने वाले प्रिय जनों के आलिङ्गनों वाला यह वसन्त हमेशा रहे' यह गान करती हुई कोई तरुणी मस्ती में वेग से आलिङ्गन कर लेती है ॥८९१॥

अविकन्यया श्रमरहितं शृंगकसलिलेन ताडितस्तस्याः ।
सीमंतिन्या गणयति दुष्टात्मा सुभगमात्मानम् ॥८९२॥

श्रम की परवाह न करके क्षीण पसली हुई नारी द्वारा पिचकारी (शृङ्गक) के जल से मारा गया दुराचारी होकर अपने को सुभग समझ रहा है ॥८९२॥

१—अर्थात् पिष्टातक, जिसे दारू, चावल और कुंकुम आदि द्रव्यों को मिला कर बनाते थे।

भग्ने लज्जासेतौ पर्वावसरेण कुलवधूवदनात् ।
अश्लीलोक्तिजलौघो निर्याति केन वार्यते प्रसरन् ॥८९३॥

इस मदनमहोत्सव के पर्व के अवसर में लज्जा के सेतु के टूट जाने पर कुलवधुओं के मुख से निकले हुए गाली के वचनों के प्रवाह को हठपूर्वक कौन रोक सकता है। ॥८९३॥

द्यूतव्यापारगिरां ललनानां देवनप्रसक्तानाम् ।
आर्यानार्यविभागं वदनावृतिजालिका कुरुते ॥८९४॥

जुआ खेलने में निरत, समान व्यापार और वचनों वाली ललनाओं की मुँह पर की जाली ही बताती है कि यह आर्या है और यह अनार्या ॥८९४॥

अथ सहचरनिर्दिष्टे मदस्खलच्चरणविघटिताभिनयम् ।
वासवदत्ताप्रहिते नृत्यन्त्यौ विविशतुश्चेट्यौ ॥८९५॥

तब वत्सराज के साथी वसन्तक ने दिखाया कि वासवदत्ता के द्वारा भेजी हुई दो चेटियाँ मस्ती में पैरों के लड़खड़ाने के कारण विघटित अभिनय के साथ नृत्य करती हुई प्रवेश करती हैं। ॥८९५॥

दर्शितसरोजवर्तनसाम्याभिनये परेऽभिनेतव्ये ।
विदधाने चोरद्यावापुपमात्र समाचित्य ॥८९६॥

उन्हें कमलवर्तन नामक अभिनय[1] दिखाने के बाद जो अंग का अभिनय[2]

१—यह एक प्रकार का हस्तकर्म अभिनय है जिसमें हाथों को कमल की अनुकृति पर रखा जाता है। कोहल ने कहा है—

पद्मकोशाभिधौ हस्तौ व्यावृत्तादिक्रियान्वितौ ।
आश्लिष्टौ च करौ यत्र व्यावृत्तपरिवर्तितौ ॥
मिथः पराङ्मुखौ सन्तौ सैषा कमलवर्तना ।

२—कमलवर्तन के अभिनय का औचित्य है ही, अतः परिगणन नायक हरन के द्वारा अग्र का अभिनय प्रस्तुत किया। संगीतरत्नाकर के अनुसार—

करता था उसे न करके और रस की दृष्टि[1] वाली उन दोनों ने आयुधपात का आश्रय लेकर अभिनय किया ।।८९६।।

चलितनयनप्रवृत्ति कौतुकघूर्णमानसो नराधिपतिः ।
निजगाद निर्भरमहो क्रीडितमनयोर्विलासिन्योः ।।८९७।।

कौतुक से घुमाये हुए नरराज ने आँखें फेर कर (उत्सुक हो) कहा— 'इन दोनों विलासिनियों ने खूब क्रीड़ा की'[1] ।।८९७।।

करपीडनोपमर्दव्यतिकरसमये कदर्थ्यमानोऽपि ।
स्तनमंडले स्थितोऽहं त्वं पुनराकृष्य कुत्रचित्क्षिप्त ।।८९८।।

अधुनान्तरयसि मामिति कोपादिव वाणवारमभिरामम ।
बहुविधपदन्यासैर्वलास्या हृदि हार उच्छलित ।।९९९।।

अधिक आश्चर्य उत्पन्न करने वाले पदन्यासों से नृत्य करती हुई विलासिनी का उछाल भरता हुआ हार उसकी छाती में क्रोध से यह कहते हुए ताण्डव कर रहा है कि कामुक के हाथों से दबने और मसले जाने की पीड़ा का अनुभव करता हुआ भी मैं स्तनों पर ही पड़ा रहा और तू तो निकाल कर कहीं डाल दी गयी अब मेरे बीच में आकर पड़ती है ।।८९८-८९९।।

चूतलता यस्मिन्स्थानाच्च्युतयोत्तरं दधौ श्लाघ्यम् ।
अभूवपतन्निम् हं न स्त्रैया मदनिकावेणी ।।९००।।

चूतलता ने जैसे स्थानान्तर के स्थान से गिरी हुई माला को अच्छे ढंग से

---

[1] अनुष्टुभ एव लभ्ना स्यात् तर्जनी शिरसस्य चेत् ।
सर्पितः स्यात् तदा ।।
समयापरान्तैस्य शरकर्षादिकमपि ।
अन्योन्यावपविपया सर्पादपशिरसा हर्षित् ।।

१—आप लिखते हैं—

ममा उत्सारणोत्पुतनिष्टब्धपुन्तारका ।
उत्फुल्लमध्या दृष्टिस्तु धीरा धीर रसाश्रया ।।

धारण कर लिया, लेकिन इस मल्लिका ने वेणी को जिसमें लगा फूल का गुच्छा खिसककर गिर रहा था, नहीं सम्हाला ॥९००॥

स्तनभारावनतस्य प्रतनोर्मध्यस्य नास्ति तेऽपेक्षा ।
इत्थमिव पादलग्नौ क्रन्दन्त्या नूपुरौ रसतः ॥९०१॥

'स्तनों के भार से झुके हुए बिल्कुल दुबले पतले मध्यभाग की तुम्हें परवाह नहीं' मानो उसके पैरों में लगे हुए नूपुर इस प्रकार चिल्लाने लगे ॥९०१॥

वहति स्म यं नितम्बं कथमपि कृच्छ्रेण मंदसंचारा ।
कलयति तं तूललघु जयति मनोजन्मनो महिमा ॥९०२॥

उस मनोजन्मा कामदेव की महिमा विजयिनी है जिसके कारण यह अपने जिस नितम्ब को बड़ी कठिनाई से धीरे-धीरे संचार करती हुई धारण करती है अभी उसे रुई के समान हल्का समझ रही है ॥९०२॥

उदयनसमनुज्ञातः प्रननर्त वसन्तकोऽपि मुदितात्मा ।
हास्यजनाभिरामं चर्चरि तालेन तन्मध्ये ॥९०३॥

वत्सराज उदयन से आज्ञा लेकर उनका विदूषक वसन्तक भी प्रसन्न होकर उन चेटियों के बीच हँसी और लज्जा की अभिरामता के साथ चर्चरी गीत का ताल टुकड़ा गा-गाकर बार-बार नृत्य करने लगा ॥९०३॥

धीरोद्धतललितपदे क्रीडित्वा ते चिराय नरनाथम् ।
प्रद्योतस्य सुतायाः सन्देशमवोचतु समुपगम्य ॥९०४॥

वे दोनों चेटियाँ देर तक धीरोद्धत और ललित पदन्यासों में क्रीड़ा करके राजा के पास आकर प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता का सन्देश बोलीं ॥९०४॥

प्रादिशति देव देवीत्यर्धोक्ते सलज्जमन्योन्यम् ।
अवलोक्य मुखं नहि नहि विज्ञापयति प्रणम्य विनयेन ॥९०५॥

'देवी आदेश देती हैं' इतना आधा कह कर दी व लज्जा के साथ परस्पर एक दूसरे के मुँह को ताक कर (बोलीं)—'नहीं, नहीं, प्रणाम करके सविनय निवेदन करती हैं ॥९०५॥'

मकरध्वजस्य पूजां त्वत्पादसरोजसन्निधौ कर्तुम् ।
पृथिवीमण्डलमण्डन समीहते मे मनोवृत्तिः ॥९०६॥

कि, हे पृथ्वीमण्डल के भूषण, आपके चरणकमलों के सन्निकट कामदेव की पूजा करने के लिए मेरा मन इच्छुक है ॥९०६॥

प्रियरतिभोगो मदनो दयितवसन्तो जनस्य मनसि वसन् ।
भावेन भवान्पूज्यो लोकस्थित्या तु कुसुमशरपाणिः ॥९०७॥

(इस अवसर पर) आप प्रिय रति के भोग करने वाले, मदन, वसन्तवत्सल और लोगों के मन में वास करने वाले हैं, अतः मन के भाव द्वारा आप ही पूज्य हैं किन्तु लोकाचार के अनुसार फूलों के बाण वाले कामदेव की पूजा करते हैं' ॥९०७॥

इति दत्त्वा संदेशं प्रकृतिवयःकालसमुचितं भ्रान्त्वा ।
ते मदमदनाविष्टे बभूवतुर्जवनिकान्तरिते ॥९०८॥

यह सन्देश देकर अपनी प्रकृति, अवस्था एवं समय के अनुसार भ्रमण करके मद और मदन से आविष्ट वे चेटियाँ जवनिका[1] के भीतर चली गईं ॥९०८॥

अपनीततिरस्करिणी ततोऽभवन्नृपसुता समं चेटया ।
अविदितरत्नावस्था पूजोचितवस्तुहस्तयानुगता ॥९०९॥

इसके बाद पर्दा (तिरस्करिणी) उठते ही अपनी आत्मपरिचारिका

---

1 – जवनिका—रंग मंच पर अभिनय के अवसर का पर्दा। पाठान्तर 'यवनिका' है। निश्चय ही यह शब्द ग्रीस या ईरान (यवन) से बनने वाले वस्त्र के रूप में लोकप्रचलित था जो भारतीय नाट्यशालाओं के साथ लग गया। कुछ विद्वानों के अनुसार 'यवनी' शब्द से इसका सम्बन्ध मान कर यह अनुमान है कि भारतीय नाट्य पर यूनानी प्रभाव पड़ा था। पर कई पुष्ट प्रमाणों से, आचार्य प० बलदेव उपाध्याय ने अपने संस्कृत साहित्य का इतिहास (पञ्चम संस्करण) में इसे 'जवनी' या 'जवनिका' ही माना है और पर्दे के अर्थ में इसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ भी दिया है, जिससे उपर्युक्त मत निर्मूल हो जाता है (दे० पृ० ५११)।

(कांचनमाला) और प्रधान रूप से पूजा के योग्य सामग्री हाथ में लिए रत्नावली (सागरिका) द्वारा अनुगत राजपुत्री वासवदत्ता उपस्थित हुई ॥९०९॥

अथ दृष्ट्वा सागरिकां प्रमादिता परिजनस्य निन्दित्वा ।
कांचनमालामवदन्नृपमहिषी जातसंक्षोभा ॥९१०॥

सागरिका को देखकर उसने अपने परिजनों की असावधानी की निन्दा की और उद्विग्न होकर कांचनमाला से बोली ॥९१०॥

प्रेषयस्व कन्यामेनामवरोधे त्वं गृहाण कुसुमादि ।
यावन्न भवति विषये वीक्षणयोर्भूमिनाथस्य ॥९११॥

'इस लड़की को अन्तःपुर में भेज दे और इसके हाथ से फूल आदि तू अपने हाथ में ले ले, जब तक कि वह राजा की आँखों के सामने न हो ॥९११॥

उपगम्य ततश्चेटी तामभ्यवदत्किमर्थमायाता ।
मेधाविनीं विमुच्य व्रज तस्मिन्मा विलम्बस्व ॥९१२॥

तब चेटी सागरिका के पास जाकर उससे बोली—'तू यहाँ मेधाविनी सारिका को छोड़कर क्यों आई है? जा वहीं, देर मत कर ॥९१२॥

विहिते देव्यादेशे मनसेदं संनिधाय सा तस्थौ ।
विहगी सुसंगतायाः हस्ते निहिता मनोभवसपर्याम् ॥९१३॥

देवी का इस प्रकार आदेश होने पर वह मन में यह सोचकर ठहर गई कि सारिका तो मैंने सुसंगता के हाथ में सौंप रखी है अब तक ॥९१३॥

अवलोकयामि तावत्तिरोहिता सिन्दुवारविटपेन ।
तातान्तःपुरिकाभिर्यथार्च्यते किं तथैतदुत नेति ॥९१४॥

सिन्दुवार की डाली की आड़ में छिपकर कामदेव की पूजा देखती हूँ कि पिताजी के अन्तःपुर की स्त्रियाँ जैसे पूजन करती हैं वैसा यहाँ होता है अथवा नहीं ॥९१४॥

पिण्डीकृतमिव रागं कुसुमायुधमिव सम्प्राप्तविग्रहोत्कर्षम् ।
समुपेत्य वत्सराजं जगाद सा जयतु जयतु देव इति ॥९१५॥

वह (वासवदत्ता) मानो उसका राग (स्नेह) एक पिण्ड के रूप में (वत्सराज) हो गया हो, या कामदेव ही शरीर का उत्कर्ष प्राप्त कर चुका हो, ऐसे वत्सराज के समीप जाकर बोली—'देव आपकी जय हो' ॥९१५॥

परिभुक्तमपि नवत्वं शृङ्गाररसं मदनपर्वणानीतम् ।
भजमानो भजमानां स्वागतवचसाभिनन्द्य तामूचे ॥९१६॥

पहले उपभोग किए हुए भी मदनोत्सव के कारण नवीनता को प्राप्त शृङ्गार का उपभोग करते हुए राजा ने उपभोग करती हुई उस वासवदत्ता को स्वागत वचन से अभिनन्दन करके कहा ॥९१६॥

भर्गविलोचनपावकदाहाभ्यधिकां मनोभवो मन्ये ।
प्राप्स्यति तव करसङ्गमसुखविरहसमुत्थितां पीडाम् ॥९१७॥

'मैं मानता हूँ कि कामदेव शिवजी के नेत्र की अग्नि के दाह से भी अधिक तुम्हारे हाथ के सङ्गमसुख के विरह से उत्पन्न पीड़ा का अनुभव प्राप्त करेगा' ॥९१७॥

अथ मन्मथमभ्यर्च्य क्षितिनाथं तदनु समधिकं तस्याम् ।
परमां मुदं वहन्त्यां विग्रहव मदनमनसि कन्यायाम् ॥९१८॥

तब वासवदत्ता ने कामदेव की फिर बाद में राजा की अर्चना की। (इस दृश्य को देखकर) वह कन्या (नागरिका) अतिशय आनन्दित हुई और उनके मन में राजा के रूप में शरीरधारी कामदेव प्रवेश कर गया ॥९१८॥

शृङ्गाररससमुद्रे सोत्कलिके निपतिते तथा नृपतौ ।
तारमधुरस्फुटार्थं मगधार्यं पपाठ नेपथ्ये ॥९१९॥

उस समय राजा भी उत्कलिकाओं (तरंगों पक्ष में अभिलाषाओं) से भरे शृंगार-रस के समुद्र में डूब गया। इसी समय वैतालिक (स्तुतिपाठक) ने नेपथ्य में ऊँचे मधुर और स्पष्ट स्वर में पाठ किया ॥९१९॥

नयनानन्दमखण्डितमण्डलमभिराममनुष्णरश्मिमिव ।
सायंतन आस्थाने क्षितिपतयस्तस्थुरुदयनं द्रष्टुम् ॥९२०॥

'सायंकाल राजसभा में चन्द्र की भांति नेत्रों को आनन्दित करने वाले, अखंडित मण्डल वाले, अभिराम, महाराज उदयन के दर्शन के लिए राजा लोग विद्यमान हैं'॥९२०॥

उच्चारितेऽन्य नाम्नि प्रियतमतो तत्क्षणं व्यपेतायाम् ।
उत्पन्नविस्मयरतिर्निदध्यौ नरपतिरत्नजा हृदये ॥९२१॥

तत्काल (वैतालिक मुख से) निकल पड़ने वाली भाषा में राजा के दूसरे नाम के उच्चारित होने पर विस्मय और प्रेम के भावों से भरी राजपुत्री ने हृदय में यह विचार किया ॥९२१॥

'अयमुदयनः स राजा तातः सत्कृत्य मां ददौ यस्मै ।
हन्त परप्रेषणमपि न निष्फलं साम्प्रतं जातम् ॥९२२॥

'यही वह उदयन राजा है जिसके लिए सत्कारपूर्वक पिताजी ने मुझे अर्पित किया है। वाह!! दूसरे की सेवा भी इस समय निष्फल न हुई ॥९२२॥

यावन्न वेत्ति कश्चित्तावदितस्त्वरितमेव निर्यामि' ।
इति कथमपि नायकतो हृत्वा चक्षुरुत्ससर्ज रङ्गभुवम् ॥९२३॥

जब तक मुझे कोई नहीं देख लेता तब तक मैं जल्दी से निकल जाऊँ'।
यह कहकर किसी प्रकार नायक (उदयन) से आँखें हटाकर उसने रङ्गभूमि को छोड़ दिया ॥९२३॥

कंदर्पमहमहोत्सवहृतहृदयैर्नावधारितोऽस्माभिः ।
संध्यातिक्रमकालः पश्य त्वं प्रियवयस्यक तथाहि ॥९२४॥

(वत्सराज उदयन ने अपने मित्र विदूषक से कहा—)

'मदन-महोत्सव में हम लोग इस तरह तल्लीन हो गए कि सन्ध्याकाल के गुजर जाने का पता ही न रहा। प्रियवयस्य, देखो ॥९२४॥

उदयतटान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ् निशानाथम् ।
परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी ॥९२५॥

यह पूर्वदिशा उदयाचल से छिपे चन्द्र को उस प्रकार सूचित करती है जैसे कोई रमणी अपने हृदय में स्थित प्रिय को पीले पड़े हुए मुख से सूचित करती है ॥९२५॥

देवि त्व मुखपद्म पद्मान्विदधाति पश्य विच्छायान् ।
मलयोऽपि लज्जिता इव शनैः शनैस्तदुदरेषु लीयन्ते ॥९२६॥

देवि, यह तुम्हारा मुख कमल कमलों को कान्तिहीन कर रहा है और भौंरे भी लजाए जैसे धीरे-धीरे उनके उदरों में घुसे जा रहे हैं' ॥९२६॥

एवमभिधाय चित्रैश्चरणन्यासैः परिक्रमं कृत्वा ।
निष्क्रामिकया ध्रुवया विनिर्ययौ नायकोऽपि सह सर्वैः ॥९२७॥

इस प्रकार कहकर परम सुन्दर पग-विक्षेपों द्वारा परिक्रमा करके जब (नेपथ्य में) निष्क्रमण के अवसर की ध्रुवा (गीति) गाई जाने लगी, नायक (उदयन) समस्त पात्रों के साथ निकल गया ॥९२७॥

अंके जाते समाप्तौ गीतातोद्यध्वनौ च विश्रान्ते ।
प्रेक्षणकगुणग्रहणं नृपसूनुः प्रववृते कर्तुम् ॥९२८॥

नाटक के अंक (भेद) के समाप्त हो जाने पर तथा गीत एवं वाद्य की आवाज के बन्द हो जाने पर राजकुमार ने नाटक के गुणों का बखान करना आरम्भ किया ॥९२८॥

नाट्यप्रयोगतत्त्वे मतयो न विशन्ति मादृशां प्रायः ।
वाहनयानपदातिग्रामादिककार्यदत्तहृदयानाम् ॥९२९॥

'हम-जैसों की जो वाहन, सवारी पैदल सिपाही ग्राम आदि के कार्यों में दिल लगाए रहते हैं, बुद्धियाँ प्रायः नाटक के प्रयोग के तत्त्व में प्रवेश नहीं कर पाती ॥९२९॥

भास्ते लिखितो ग्रामो गृहाण तं सप्रदेशबहुभूमिम् ।
वासय दत्वा वासं भवसि ततष्ठक्कुरो दिवसैः ॥९३०॥

इस (दानपत्र में) गाँव लिख दिया है, अच्छा प्रदेश और बहुत भूमि से सम्पन्न उस गाँव को ले लो। वहाँ आवास बनाओ, तब कुछ दिनों में वहाँ के ठक्कुर हो जाओगे ॥९३०॥

कृतजीवनसंस्थो हि त्वमपि किमर्थं करोषि विज्ञप्तिम् ।
अर्पय वा यदि नेच्छसि कुरु स्थितिं हस्तदानेन ॥९३१॥

जब कि तुम्हारे जीवन की व्यवस्था की जा चुकी है तो क्यों व्यर्थ ही (वेतनवृद्धि के लिए) विज्ञापन करते हो। अगर नहीं चाहते हो तो (नौकरी) वापस कर दो और मजदूरी (हस्तदान) करके निर्वाह करो ॥९३१॥

न च पत्तयो न सप्तिर्न च पोष्यजनस्तथाप्यसंतुष्टः ।
सममानोऽपि सदायं चिरंतनस्वामिमानेन ॥९३२॥

न तो इसके सिपाही हैं, न घोड़ा रखता है और न परिवार ही है फिर भी अपने पुराने स्वामी के अभिमान से सदा असन्तुष्ट रहता है ॥९३२॥

विज्ञप्तिकोन्मुखस्त्वं दूरत एवावधारितो भवता ।
तूष्णीं क्रियतामस्माच्छ्रोष्यसि कार्यं प्रतीहारात् ॥९३३॥

मैंने तो दूर ही से समझ लिया कि आप (वेतन बढ़ाने के लिए) विज्ञप्ति देने के लिए उन्मुख हैं। चुप रहो, इस प्रतीहार से अपना कार्य सुन लो ॥९३३॥

यूयं कुटुम्बमध्ये मम गम्यते गोत्रपुत्रसामान्यम् ।
आदाय संविभागं गृह एव स्थीयतां यथासौख्यम् ॥९३४॥

तुम लोग तो मेरे कुटुम्ब में ही हो। वहाँ जाओ। बन्धु और बाल-बच्चे के साधारण परिवार के लिए भाग लेकर अपने घर पर ही सुखपूर्वक रहो ॥९३४॥

अभ्यन्तरव्ययाय प्रविलम्बो यो मया महाट्टंग¹ ।
तत्रापि तेऽनुबन्धो नो जाने किं करोमीति ॥९३५॥

भीतरी व्यय के लिए जिस महोट्टङ्ग¹ को मैं काम में नहीं लाया उस पर भी तेरी यह चाह ! मेरी समझ में नहीं आता क्या करूँ ? ॥९३५॥

प्रथमतरमेव कल्पितमनल्पसुलजीवनं प्रदेशस्यम् ।
तथापि ते न जाने प्रयोगिनां पश्य मत्सरताम् ॥९३६॥

मैंने सबसे पहले ही जिस प्रदेश में अधिक द्रव्यलाभ होता है उसे तुम्हें लिख दिया है आज भी तुमने उसे नहीं अपनाया, अफसरों (नियोगियों) की ढिठाई तो देखो ! ॥९३६॥

एवंप्रायैरनुदिनलाभोदयमोहकारिभिर्वचनैः ।
फलशून्यैरनुजीवी प्रतारितः कः कियत्कालम् ॥९३७॥

इस प्रकार की लाभ तथा उदय (तरक्की) के मोह उत्पन्न करने वाली व्यर्थ की बातों से कोई सेवक कब तक ठगा जा सकता है ? ॥९३७॥

१—महोट्टङ्ग—तत्पुरुषराम के अनुसार 'महोट्टमामो ढक्क' इस समास मे 'ट्टङ्ग' का नगरी विशेष अर्थ है।

'कर्कटादधमो ट्टङ्ग' पतनाद्युत्तमश्च सः ।
उट्टमश्च निवेशश्च स एव ट्टङ्ग इत्यपि ॥ कायस्थतिरस्कार

तदनुसार 'पतन' की अपेक्षा छोटी बस्ती होता है उससे बड़ा और 'कर्कट' की अपेक्षा भी छोटी बस्ती नगर होता है उससे बड़ा नगर को उट्टङ्ग निवेश या ट्टङ्ग कहते हैं। कश्मीरीशब्द के अनुसार महाट्टङ्ग पाठ स्वीकृत है जिसका अर्थ ? कश्मीर में कर या चुंगी वसूलने के लिए मार्गों पर स्थापित 'नाकों' के अर्थ में होता है जिसका कश्मीरी का मूलगत अर्थ 'विताड़' है। कल्हणी के इस पद्य में ट्टङ्गाधिकारी ट्टङ्गिक, ट्टङ्गिक, ट्टङ्गी प्रभृति शब्द एवं राजतरंगिणी में ट्टङ्गेश का प्रयोग प्राप्य उपलब्ध हैं। मार्गिक विक्रिमस्य ने 'काव्य अपमारतत्त्व' और राजतरंगिणी के मिले प्रमाणों के आधार पर इस शब्द का अर्थ 'चुंगी नाका' किया है।

एतद्विषये नैपुण्यमत्र तु भूमिभर्ता समाश्रित्य ।
मुखरतया कथयामो जडमतिसामाजिकोचितं किंचित् ॥९३८॥

यहाँ इस नाटक के विषय में राजाओं की निपुणता की स्थिति में स्थित हुए स्वयं मुखर होने के कारण जड़मति सामाजिक (दर्शक) जनों के लिए ही उचित कुछ बातें हम कहते हैं ॥९३८॥

स्थानाश्रयः षडङ्गा शारीरस्त्रि प्रमाणपरिणामः ।
सस्थानविचयाज्ज्येष्ठो व्यस्तसमस्तैस्त्रिभिर्विधिनिष्पाद्य ॥९३९॥

'नाट्य का यह प्रयोग स्थान पर आश्रित रहनेवाला, छः अंगों वाला, शरीर द्वारा सम्पन्न, तीनों प्रमाणों के परिमाण वाला, स्थान के अधिक होने के कारण उत्तम व्यस्त और समस्त तीन विधियों से सम्पादन योग्य ॥९३९॥

सुकुमाराविद्धक्रिय उपरंजकरंजितो विविधवृत्त ।
आदेयहेयमध्यैर्भावै सम्पादित प्रयोगोऽयम् ॥९४०॥

सुकुमारता से आविद्ध क्रियाओं वाला, रंजकपूर्ण वर्णों से भरा, नाना प्रकार की वृत्तियों वाला तथा ग्रहण के योग्य, त्याग के योग्य एवं मध्य उभयविध भावों से सम्पादित है[1] ॥९४०॥

१—कवि ने इन दो पद्यों (९३९–९४०) में समासोक्ति की शैली में वीणावादन का कथन किया है। जैसे—

स्थानाश्रय (स्थान पर आश्रय रहने वाला)—नाट्य पक्ष में षड्ज ऋषभ गान्धार मध्यम पञ्चम धैवत निषाद इन सात स्वरों अथवा स्वर ग्राम आदि सप्तविध मार्गों पर आश्रित; वीणावादन में—[illegible] इन सात धातुओं पर आश्रित।

षडङ्गा (छः अंगों वाला)—नाट्य पक्ष में मुख्य [illegible] मधुरता [illegible] और [illegible] ; वीणावादन में [illegible] इन छहों से विशिष्ट।

शारीर (शरीर द्वारा सम्पन्न)—नाट्य पक्ष में तीन मुख्य आदि शरीर द्वारा ही सम्पन्न होते हैं ; वीणावादन पक्ष में शरीरधारी।

त्रिप्रमाण— नाट्य पक्ष में [illegible] ।

गम्भीर मधुर शब्दं परिरक्षितगीतविविधभंगयुतम् ।
दर्शयतो वैचित्र्यं न भ्रष्टो मादकस्य लयकाल ॥९४१॥

जिसमें गम्भीर और मधुर शब्द हैं एवं गाये हुए गीत के नानाविध भावों से युक्त है, ऐसी विचित्रता (करामात) दिखाता हुआ वादक लयकाल[1] में स्खलित नहीं हुआ है ॥९४१॥

शास्त्रवेदस्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम् ।
लोकाध्यात्मपदार्थेषु प्रायो नाट्यं व्यवस्थितम् ॥

(भरत २५।१२३)

जीवात्मा पक्ष में प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द ।

सत्व के अधिक होने के कारण उत्तम—नाट्य पक्ष में नाट्य प्रयोग में सत्वाभिनय (अव्यक्त रूपसत्वातिरिक्त यत्राद्भवेत् सत्वम्); जीवात्मा पक्ष में सत्व रज तम इन तीन गुणों में सत्व को उत्तम मानते हैं ।

व्यस्त और समस्त तीन विधियों से निष्पादन योग्य नाट्य पक्ष में समाकोतोबद्धा गोपुच्छा इन नामों के तीन यतों के आश्रय और प्रकार विधियों से सम्पादित; जीवात्मा पक्ष में स्थूल सूक्ष्म कारणादि समष्ट्यात्मक विराट हिरण्यगर्भ एवं प्राज्ञ तैजस और विश्वात्म नामक व्यष्ट्यात्मक द्वारा निष्पादित ।

सुकुमाराविद्धक्रिय—नाट्य पक्ष में गायन वाद्य, नृत्य अभिनय आदि कोमल क्रियाओं से ओत-प्रोत; जीवात्मा पक्ष में दयादि सुकुमार क्रियाओं से ओत-प्रोत ।

उपरंजक रंजित—नाट्यपक्ष में व्यंजक या व्यंग्यपूर्ण भावनाओं से युक्त; जीवात्मा पक्ष में रमणीय द्रव्य के दर्शन और भोगादि द्वारा रंजित ।

विविधवृत्ति—नाट्यपक्ष में भारती कैशिकी सात्वती और आरभटी वृत्तियों से युक्त; जीवात्मापक्ष में काम क्रोध आदि वृत्ति या चित्तविकार से युक्त—

भावयहैमर्म्यौ भवि॰ सम्पादित॰—

नाट्यपक्ष में जो समस्त भाव मन में उदय और विलय प्राप्त होते हैं अर्थात् व्यभिचारी भावों द्वारा सम्पादित; जीवात्मापक्ष में कोई भाव अर्थात् पदार्थ अनुकूल होने के कारण ग्राह्य होते हैं कोई प्रतिकूल होने के कारण त्याज्य होते हैं एवं कोई मध्य अर्थात् औदासीन्य सहित उदासीन होते हैं ऐसे भावों द्वारा सम्पादित ।

१—लयकाल—अर्थात् वादक न ताल के बीच समय को गलत रूप से नहीं निभाया । 'लय' वह काल है जो ताल के बीच द्रुत मध्य और विलम्बित भेद से

अपरित्यक्तस्थानकरसकाकुव्यंजितस्फुटार्थपदम् ।
अभिरामाविश्रान्तं पठितं निरवद्यमखिलभावयुतम् ॥९४२॥

अनन्य भावकों में उच्चारण के स्थानों को न छोड़ते हुए अर्थात् उनकी रक्षा करते हुए, रस एवं ध्वनिविकार के द्वारा व्यंजित अर्थ और शब्द को स्फुट करते हुए, बिना किसी दोष के अभिराम एवं अविश्रान्त पाठ किया¹ ॥९४२॥

नियमितदीपनशमनं द्रुतमध्यविलम्बितलयसंयुक्तम् ।
रसवत्स्वरोपपन्नं कृतसाम्यं साधुगातृभिर्गीतम् ॥९४३॥

गाने वालों ने अच्छे ढंग से गान किया, वह गान स्वर को उतार-चढ़ाव से नियमित, द्रुत, मध्य और विलम्बित, ताल एवं लय से युक्त रसमय सुस्वर समता लिए हुए था ॥९४३॥

प्रकृतिविशेषावस्थाप्रतिपादकनेपथ्यरचनसामग्र्या ।
अनुकरणमभ्यतीतं सिद्धिद्वयसम्पदाधारम् ॥९४४॥

स्वभाव-विशेष की अवस्था को व्यक्त करने वाली वेषरचना की सामग्री से प्राप्त दोनों प्रकार की (शब्द और निष्पत्ति) सिद्धियों द्वारा अनुकरण (अर्थात् नाट्य) ने स्तुति का भी अतिक्रमण कर लिया है ॥९४४॥

भरतसुतैरुपदिष्टं क्षितिपतिनहुषावरोधनारीणाम् ।
मन्ये ता अपि नाट्ये शोभासन्दोहमीदृशं नापुः ॥९४५॥

भरतपुत्रों ने राजा नहुष के अन्तःपुर की नारियों को नाट्य का उपदेश दिया था, मैं मानता हूँ कि वे भी अपने नाट्य में शोभासमूह न प्राप्त कर सकीं¹ ॥९४५॥

तीन प्रकार का होता है। नायक ने द्रुत को मध्य या मध्य को द्रुत एवं विलम्बित को द्रुत या मध्य आदि करके गलत ढंग से पाठ नहीं किया।

१ ललितं काकुसमन्वितमुज्ज्वलमर्थवशात् परिणतम् ।
श्रुतिसुखदविकलवर्णं कवयः पाठं प्रशंसन्ति ॥

१—चन्द्रवंशी राजा नहुष के स्वर्ग में जाकर अप्सराओं द्वारा अभिनीत नाट्य

सुश्लिष्टसन्धिबन्धं सर्वाङ्ग सुवर्णयोजितं सुभगम् ।
निपुणपरीक्षकदृष्टं राजति रत्नावलीरत्नम् ॥९४६॥

यह रत्नावली रूप रत्न जो सुनियोजित सन्धिबन्ध से युक्त है, सुन्दर पात्र एवं सुवर्ण से योजित एवं निपुण परीक्षक द्वारा देखा गया है—शोभित हो रहा है ॥९४६॥

एवंविधगुणकथनप्रसङ्गिनि विभाविस्तारमनपत्तनये ।
पठतिस्मार्यामन्यां स्मृतिविषयमुपागतां प्रसङ्गेन ॥९४७॥

राजपुत्र दत्तचित्त होकर इस प्रकार गुणकथन कर ही रहे थे कि किसी के प्रसंग से ध्यान में आई आर्या का पाठ किया ॥९४७॥

'संग्रामादनपसृतिः प्रेक्षाभिज्ञा सुभाषिताभिरतिः ।
आस्फोटनाभियोग कुलविद्या राजपुत्राणाम्' ॥९४८॥

'संग्राम से न भागना, नाट्य के विषय में ज्ञान, सुभाषितों में प्रेम और शिकार खेलने का अभ्यास यह राजपुत्रों की कुल विद्या है' ॥९४८॥

एतद्वस्तुनि याते श्रुतिमार्गं नृपतिनन्दनो रभसात् ।
आरब्धकथाविच्छेदकमाखेटकवर्णनं चक्रे ॥९४९॥

इस बात के कान तक पहुँचने पर राजपुत्र ने वेग से प्रस्तुत नाट्य के सम्बन्ध की चर्चा का विच्छेद करने वाला आखेट-वर्णन आरम्भ किया ॥९४९॥

चललक्ष्यवेधकौशलमश्वप्रजवे स्थिरासनाभ्यसनम् ।
भूमिविभागज्ञानं भवति मृगयाभियोगेन ॥९५०॥

'आखेट के अभ्यास से चंचल लक्ष्य को वेध देने का कौशल, घोड़े के

देगा। पृथ्वी पर उन्होंने अपनी राजधानी में उसे देखने की इच्छा से देवताओं से प्रार्थना की। देवराज इन्द्र के अनुरोध पर भरत मुनि ने नहुष के अन्तःपुर की सुन्दरियों को नाट्यशिक्षा देने के लिए भेज दिया। उसी समय से पृथ्वी पर नाट्य का प्रचलन हुआ ऐसी मान्यता है।

तब रफ्तार में दौड़ने पर निश्चल दृढ़ता से बैठने का अभ्यास और पृथ्वी के विभागों का ज्ञान प्राप्त होते हैं ॥९५०॥

वहति जवन तुरंगे निविडस्थितपादकटकपादाग्र ।
तिर्यग्विनिहितकायो निम्नोन्नतमग्रतो भुव पश्यन् ॥९५१॥

जब घोड़ा बहुत तेजी से दौड़ने लगता है तब धन्य शिकारी अपने पैर के अगले हिस्से को रकाब में कस कर जमा लेता है, शरीर टेढ़ा कर लेता है और जमीन को निरखता देखता हुआ ॥९५१॥

यावत्प्राणं धावत्याकुलिते विरचकद्रुमिर्भीत्या ।
गोचरपतिते जीवे लघुभिः क्षिपति मार्गणं धन्यः ॥९५२॥

शक्ति भर दौड़ता है और शिकारी कुत्तों के डर से घबराए, आँखों के सामने पड़े जानवर पर तेजी से बाण छोड़ता है ॥९५२॥

मूले स्थितस्य निभृतं मृगयुभिरुच्चाटय ढौकिते निकटे ।
पातयतो मृगमुत्प्लुतमप्यपदेशं सुखं किमपि ॥९५३॥

शिकारियों द्वारा उद्वेजित करके निकट में पहुँचाए, चौकन्नी भरते हुए मृग को मारते हुए, पेड़ के एकान्त मूल में बैठे शिकारी के सुख का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥९५३॥

गीतश्रवणोत्कर्णं निश्चलतृणकवलगर्भमुखहरिणम् ।
उपवेशितमस्पन्दं स्पृहणीया एव गृह्णन्ति ॥९५४॥

कानों को उठा कर गीत सुनते हुए, मुँह में निश्चल पड़े घास के ग्रास वाले, निश्चल भाव से बैठे हुए हिरन को स्पृहणीय लोग ही पकड़ा करते हैं ॥९५४॥

दावानलसंतापान्निर्यातं गहनवीरुधोऽभिमुखम् ।
यो निरुणद्धि स धन्यः सूकरमेकप्रहारेण ॥९५५॥

जो शिकारी वनाग्नि के सन्ताप के मारे निकले हुए, घनी झाड़ी की ओर भागे जाते हुए बनैले सूअर को एक ही प्रहार से गिरा कर लेता है वह धन्य है ॥९५५॥

घनकक्षोदरसुप्तं समुपेत्य स्वैरमकृतपदशब्दम् ।
व्याधवर एव कुरुते निर्बोधं हेलया शशकम् ॥९५६॥

धीरे धीरे पैर की आवाज किए बिना ही पहुँच कर व्याधश्रेष्ठ ही घने पेड़ के खोड़ले में बैठे खरगोश को अनायास मार डालता है ॥९५६॥

इति विदधति सिंहभटाखेटकथासिन्धुवारश्लाघाम् ।
हृदयागतामगायत्प्रसंगतो गोतिकामपरः ॥९५७॥

इस प्रकार सिंहभट का शिकार में जो शक्ति में तेजी का बखान कर ही रहा था कि किसी ने प्रसंग में हृदय में आई इस गीतिका का गान किया ॥९५७॥

'आस्तां व्यापाररसः प्रवर्तिता संकथापि मृगयायाः ।
अन्तरयति स मनसामाहारादिक्रियोचितं कालम्' ॥९५८॥

'शिकार के व्यापार में जो रस है उसकी प्रस्तुत कथा रहने दो, उसमें जिनका मन रम जाता है उन्हें भोजन आदि के समय का ध्यान नहीं रहता' ॥९५८॥

अवधार्य गीतिकार्थं स्नाने प्रति धन नियुक्तमभिधाय ।
उत्तस्थौ समरभटो मंजरिकां समवलोकयन्प्रेम्णा ॥९५९॥

गीति का तात्पर्य समझ कर और अपने कार्याधिकारी को स्नान देने के लिए कह कर समरभट मञ्जरी को प्रेम से देखता हुआ उठ खड़ा हुआ ॥९५९॥

गत्वाथ स्वावसथं निर्वर्तितभोजनादिकर्तव्यः ।
मंजरिसाकृष्टमना अभिदध्यौ सचिवसंनिधावेवम् ॥९६०॥

अनन्तर अपने निवास-स्थान पर आकर भोजन आदि कार्य सम्पन्न कर मञ्जरी के प्रति आकृष्ट मन वाला वह मंत्री के समीप इस प्रकार विचार करने लगा ॥९६ ॥

भ्रूभंगस्मितवीक्षितमृदुपदक्रमपाणिहारगमनेषु ।
कुसुमप्रहरण एको युगपद्विहिताश्रयः कथं तस्याः ॥९६१॥

एक कामदेव उस मञ्जरी के भ्रूभङ्ग, मुस्कान, दृष्टिपात, मृदु एवं वक्र

मथन, अवयव-विमर्द तथा गमन में एक ही समय में कैसे निवास करता है[1]। ॥६६१॥

सुन्दोपसुन्दनाशः फलमात्मभुवस्तिलोत्तमासृष्टेः ।
जनमृतये तां सृजता किं दृष्टं सुरहितं तेन ॥६६२॥

ब्रह्मा को तिलोत्तमा अप्सरा के निर्माण करने का लाभ यह मिला कि सुन्द और उपसुन्द नाम के असुर मारे गए लेकिन लोगों की मृत्यु के लिए उस मञ्जरी को रचते हुए उसने देवताओं का कौन-सा कल्याण देखा है[2]। ॥६६२॥

सुमनोभिः परिकरिता मृगशावकतरलचक्षुषस्तस्याः ।
कामोचितफलहेतुर्देहभृतां दीर्घिका वेणी ॥६६३॥

मृगशिशु की तरल आँखों के समान आँख वाली उस मञ्जरी की लम्बी वेणी देहधारियों को कामोचित फल देने वाली है ॥६६३॥

कमलमिव वदनकमलं पिबन्ति तस्यास्त्रिविष्टपभ्रष्टाः
सदलिकमपेतदोषं सविभ्रमं मधुमदाताम्रम् ॥६६४॥

अलिकयुक्त, दोषरहित, विलासपूर्ण, मधु-भरे एवं लाल कमल के समान उसके मुखकमल को स्वर्ग से च्युत हुए प्राणी ही पान करते हैं[3]। ॥६६४॥

१—अर्थात् मंजरी के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर लग-लगकर काम भावना उत्पन्न करने में समर्थ हैं।

२—तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार तिलोत्तमा के उत्पन्न करने से सुन्द-उपसुन्द असुरों के मारे जाने के कारण देवताओं को राहत मिली उसी प्रकार मंजरी के कारण जो इतने लोग कामार्त अवस्था (मृत्यु) तक पहुँचते हैं इससे देवताओं का क्या उपकार हो रहा है? सुन्द उपसुन्द की कथा महाभारत के आदिपर्व (२०९—२११) में वर्णित है और संक्षेप में कथासरित्सागर में भी मिलती है।

३—कहते हैं कि जब पुण्य क्षीण हो जाते हैं तब प्राणी स्वर्ग से पृथ्वी पर पुनः लौट आते हैं (क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति)। तात्पर्य यह कि स्वर्गभ्रष्ट होकर

य शैलेन्द्रनितम्बं सुरताप्त्यै सेवते तपोनिरतः ।
स्पृहयति सोऽपि नितम्बं सुरताप्त्यै समवलोक्य तन्वंग्याः ॥९६५॥

जो व्यक्ति सुरताप्ति के लिए (सुर-भाव प्राप्त करने के लिए, तपस्या में निरत होकर हिमालय के नितम्ब का सेवन करता है वह भी सुरताप्ति (सुरत की प्राप्ति) के लिए कृश अङ्गों वाली मञ्जरी के नितम्ब की स्पृहा करता है[1] ॥९६५॥

त्रिकरो मध्यविभागो बाहूभ्यु गतं करद्वयोपेतम् ।
जनयति तदपि मृगाक्षी सहस्रकरतोऽधिकं तापम् ॥९६६॥

उसका मध्यभाग तीन करों (वलियों) वाला है और उसकी दोनों बाहें दो करों वाली हैं तथापि वह मृगाक्षी सहस्र करों वाले (सूर्य) से भी बढ़ कर ताप उत्पन्न करती है ॥९६६॥

भी पुष्पवान् होने का कारण है। इस प्रकार इस मञ्जरी के कमल सदृश मुख का पान करने वाले पुष्पवान् ही होते हैं। कमल पर जिस प्रकार अलिसमूह बैठते हैं उसके मुख-कमल पर उसी प्रकार अलिक का चूर्णकुन्तल है। जिस प्रकार कमल दोषा अर्थात् रात्रि के रहते विकसित नहीं होता उसी प्रकार उसका मुख भी दोष रहित है। कमल वायु से हिलता हुआ विभ्रमयुक्त है और मुख भ्रमरश्रेण्या रूप विभ्रम-युक्त है (नागरसर्वस्व के अनुसार 'विभ्रम' का लक्षण—

क्रोधः स्मितं च कुसुमाभरणादियाञ्चा तद्वर्जनं च सहसैव विमण्डनं च ।
आक्षिप्य कान्तिवचनं लपनं सखीभिर्निष्कारणस्मितगतेन ॥ विभ्रमः स्यात् ॥

मञ्जरी के पक्ष में 'मधु' अर्थात् उसका 'अधरामृत' और कमल के पक्ष में मकरन्द। सुरतपक्ष में 'कामात् ईषद् स्खलनम्। कमलपक्ष में 'रजः' स्खलनात् रक्त' अर्थात् रक्तोत्पल कोकनद।

1—'स नागराजन्यः' का यह श्लोक प्रासंगिक है—

'मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्' ॥

सा स्रग्धरा सुवदना प्रहर्षिणी सैव सैव तनुमध्या ।
न करोति कस्य विस्मयमिति रुचिरा मंजुभाषिणी सैव ॥९६७॥

स्रग्धरा, सुवदना, प्रहर्षिणी, तनुमध्या, रुचिरा एवं मंजुभाषिणी यह सुन्दरी किस आश्चर्य में नहीं डाल देती¹ ? ॥९६७॥

अनुकुर्वंत्या कन्यां तया तया नायकस्तथा दृष्टः ।
येन जरत्स्वप्यटनी धनुषः स्पृष्टा दशार्धबाणेन ॥९६८॥

कन्या रत्नावली का अभिनय करती हुई मालती ने उस उस प्रकार नायक वत्सराज को देखा जिससे कामदेव ने अपने धनुष की कोटि का वृद्धजनों के लिए भी स्पर्श किया अर्थात् वृद्धजन भी काममोहित हो गए ॥९६८॥

रूपे यौवनविजितमनंगविस्फूर्जितानि नाट्यदीप्तानि ।
शमिनामपि शमगर्वं मुष्णन्त्यविकल्पितं तस्याः ॥९६९॥

उसका यौवन-विजित रूप और नाट्य के अवसर पर दीप्त काम चेष्टाएँ अविकल रूप से शमप्रधान जितेन्द्रिय जनों के भी शमगर्व का अपहरण करती हैं ॥९६९॥

दग्धेऽपि वपुषि भीतिं न विमुंचति भाललाटितसमुत्थाम् ।
दर्शने वसति मतः प्रमदारूपेण शंबरध्वंसी ॥९७०॥

कामदेव अपने शरीर के दग्ध हो जाने पर भी ललाटनेत्र भगवान्

१—यहाँ कवि ने स्रग्धरा आदि छन्दों के नामों में श्लेष द्वारा अभेद बताया है। वह सुवदना अर्थात् शोभन वदन या मुख वाली, प्रहर्षिणी अर्थात् हर्ष या आनन्द करने वाली, तनुमध्या अर्थात् पतली कटिभाग वाली, रुचिरा अर्थात् मनोहरा, मंजुभाषिणी अर्थात् मधुर बोलने वाली। स्रग्धरा आदि छन्दों के लक्षण जैसे—

'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ।
'ज्ञेया सप्ताश्वषड्भिर्मरभनययुता म्लौ गः सुवदना' ॥

'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्'। 'त्यौ त्यौ तनुमध्या'। 'जभौ सजौ गिति रुचिरा चतुर्ग्रहैः'। 'सजसा जगौ च यदि मंजुभाषिणी'।

शङ्कर से उत्पन्न मद को नहीं छोड़ रहा है, जिस कारण वह प्रमदा का रूप धारण करके उस मञ्जरी के शरीर में निवास करता है ॥९७०॥

यदि वः परलोकमतिः शृणुत श्रेयस्तपोधना मत्तः ।
उत्सृज्य यात तूर्णं वारवधूदूषितं स्थानम् ॥९७१॥

हे तपस्वियो, यदि तुम्हें परलोक (स्वर्ग) की इच्छा है तो मुझसे कल्याण की बात सुनो सब कुछ छोड़ कर शीघ्र ही वेश्याजनों से कलंकित स्थान पर पहुँच जाओ ॥९७१॥

चिरमपि विकल्प्य निश्चितिरियमेव स्थाप्यते न गतिरन्या ।
तन्निर्माणे जाता लावण्यमयाः कणा विधेरणवः ॥९७२॥

देर तक सोच-विचार करके हम यह निश्चय करते हैं, कोई दूसरी गति नहीं है कि विधाता ने उस मञ्जरी के निर्माण में लावण्य के बने हुए कणों को परमाणु बनाया है ॥९७२॥

आसाद्य समुच्छ्रायं तस्याः स्तनयुगलमविहतप्रसरम् ।
क्षपयति यज्जनमेवं कः स्प्रक्ष्यति तद्विवेकवान्पतितम् ॥९७३॥

उन्नति प्राप्त करके प्रतिदिन बढ़ते हुए उसके दोनों स्तन जो लोगों को दुर्बल किए जा रहे हैं उन्हें पतित होने पर कोई विवेकशील व्यक्ति कैसे स्पर्श करेगा[1] ? ॥९७३॥

स कथं न स्पृहणीयो विषयरतैस्तन्नितम्बविन्यासः ।
शान्तात्मनापि विहितं विश्वसृजा गौरवं यस्य ॥९७४॥

विषयासक्त लोगों द्वारा उसके नितम्ब की गठन क्यों न स्पृहणीय हो

१—यहाँ कवि ने समासोक्ति के अनुसार मंजरी के स्तनयुगल में उस राजकर्मचारी की तुलना की है जो क्रमशः उन्नति प्राप्त करके लोगों को पीड़ित करता है और जब उसका पतन या पदच्युति हो जाती है तब उसे कोई भी स्पर्श तक नहीं करता। इसी प्रकार स्तन भी क्रमशः पीन और उन्नत होकर लोगों को पीड़ित करते हैं किन्तु पतित होने पर उन्हें कोई स्पर्श न करेगा।

[illegible] [illegible] (नरेन्द्र [illegible] [illegible]) को [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सर्व [illegible] [illegible] है ।।९७४।।

स्मरणाद्यस्योत्पत्तिः कुसुमान्यस्त्राण्यबलाश्रया शक्तिः ।
सोऽपि स्वयं प्रहरति धातुरहो चित्रमाचरितम् ।।९७५।।

स्मरण से ही जिसकी उत्पत्ति हो जाती है पुष्प जिसके बाण हैं और जिसकी शक्ति अबलाओं पर आश्रित रहती है वह भी स्वतन्त्र होकर प्रहार करता है, विधाता का कार्य कितना आश्चर्यमय है ।।९७५।।

तिष्ठन्त्वन्ये दृष्ट्वा सारं जगतस्तदंगनारत्नम् ।
नष्टपद्मासनावधानो भवति ब्रह्मा च सनिर्वेदः ।।९७६।।

दूसरों को जाने दो, ब्रह्मा जी भी संसार के सारभूत उस स्त्री रत्न को देखकर वैराग्ययुक्त मन में ध्यान के नष्ट हो जाने से [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] लगेंगे ।।९७६।।

यदि पश्यति तां शर्वस्तदपररामासमागमाद्विमुखः ।
निन्दति मूर्धनि सोमं स्मराग्निसंधुक्षणं शरीरं च ।।९७७।।

यदि शिवजी उसे देख लें तब उसके अतिरिक्त दूसरी रमणी के समागम से विमुख होकर अपने मस्तक पर वर्तमान, कामाग्नि को बढ़ाने वाले चन्द्र तथा कामाग्नि के [illegible] के [illegible] अपने शरीर की निन्दा करने लगेंगे ।।९७७।।

केशव इह संनिहितः सापि मनोहारिरूपसम्पन्ना ।
तद्वक्षस्थ्यवनभुवं भयमुज्झति [illegible] राघवी [illegible] ।।९७८।।

यह [illegible] भी मनोहर रूप वाली है उसका [illegible] भी [illegible] (शोभा) के कारण [illegible] है [illegible] [illegible] में केशव (विष्णु) [illegible] होकर [illegible] (उस [illegible] को देख कर उसके) [illegible] (लक्ष्मी) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] त्याग कर सकते हैं ।।९७८।।

उत्पत्ति न [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।।९७९।।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है ।

नहीं उत्पन्न करती । क्योंकि इसमें नवीन अवस्था वाले पुरुषों के क्रियायोग के बिना ही उपसर्ग दिखाई देते हैं[1] ॥९७९॥

श्रुतिकुवलयमीक्षणतां कुवलयतां वा विलोचनं यायात् ।
हरिणदृशो यदि न स्यात्कनकोज्ज्वलकेसरं मध्ये ॥९८०॥

यदि सोने के समान पीतवर्ण का केसर समूह न होता तो उस हरिणाक्षी का कर्णस्थ नीलोत्पल नेत्र कहा जाने लगता और नेत्र कुवलय कहा जाने लगता ॥९८०॥

ललनास्तदतुल्यतया पुरुषा अपि तदुपभोगविरहेण ।
गच्छन्ति शोषमनिशं प्रकृतिद्वयवर्जिता स्वस्थाः ॥९८१॥

ललनाएँ तो उसकी बराबरी नहीं कर पातीं और पुरुष उसका उपभोग नहीं प्राप्त करते, इस प्रकार दोनों निरन्तर (चिन्ता से) क्षीण होने लगे हैं और जो न स्त्री हैं न पुरुष अर्थात् जो हिजड़े (नपुंसक) हैं वे ही स्वस्थ हैं ॥९८१॥

दुर्वृत्तयोर्न वृत्तं श्लाघास्पदमेति तत्पयोधरयोः ।
यौ धृत्वामलमूर्तिं मध्ये हारं जनक्षयं कुरुतः ॥९८२॥

दुष्ट आचरण वाले उसके स्तनों का व्यवहार प्रशंसा के योग्य नहीं है क्योंकि वे दोनों स्तन अमलमूर्ति (निर्मल) हार को बीच में करके लोगों का नाश करते हैं ॥९८२॥

१—इस आर्या के दो अर्थ हैं पहला क्रियायोग अर्थात् समागम का व्यापार एवम् उपसर्ग अर्थात् पीड़ा । दूसरा 'क्रियायोग' अर्थात् व्याकरण का धातुयोग, एवम् 'उपसर्ग' अर्थात् प्रादि उपसर्ग । यहाँ विरोधाभास यह है कि उपसर्ग क्रिया से भिन्न नहीं रहता बल्कि उसके साथ ही रहता है । एक पुराना श्लोक है —

'उपसर्गाः क्रियायोगे पाणिनेरिति सम्मतम् ।
निष्क्रियाऽपि तनारातिः सोपसर्गः सदा कथम् ॥

भूमण्डलेऽत्र सकले नात परमपरमद्भुतं किञ्चित् ।
नो जाता यदपार्था कृशोदरा धार्तराष्ट्रयातापि ॥९८३॥

अरे पृथ्वी मण्डल में इससे बढ़ कर कोई आश्चर्य नहीं है कि धार्तराष्ट्र (दुर्योधन) को प्राप्त करके भी कृश उदर वाली यह अपार्था (अर्थों अर्थात् पाण्डवों से रहित) नहीं हुई (परिहार यह कि धार्तराष्ट्र अर्थात् हंस के समान गमन करने वाली अपार्था अर्थात् व्यर्थ नहीं बनी) ॥९८३॥

कृश एव मध्यदेशस्तन्व्या नाहार्यमण्डनं वोढुम् ।
शक्त इति कृतं विधिना रोमावलिभूषणं सहजम् ॥९८४॥

इस तन्वी का कृश मध्य भाग आहार्य (बाहर से धारण के योग्य) आभूषण धारण करने में समर्थ नहीं है इस लिए ब्रह्मा ने उसके मध्य भाग में स्वाभाविक आभूषण के रूप में रोमावलि उत्पन्न कर दी ॥९८४॥

सापेक्षेऽप्यर ईक्षणयुगलस्याघोरता भ्रुवोश्च ।
तन्वंग्या बसमोऽप्यजयति जगत्तदपि निर्लेपम् ॥९८५॥

उस कृशाङ्गी का अधर रमणीय दीखता रहता है आँखें अधीर रहती हैं तथा भौंहें में भङ्ग है इस तरह का उसका मन है तथापि यह सारे जगत् पर विजय प्राप्त करती है ॥९८५॥

वहतु नितम्बः स्थूलो रशनां हारं च कुचयुगं पीनम् ।
बाहुमृणालिकयोः सापायं कटकयोजनमयुक्तम् ॥९८६॥

उसका स्थूल नितम्ब रशना को और पीन स्तनयुग हार को धारण करे किन्तु उसकी बाहों की मृणालिकाओं का अनपकार कटकयोजन (कटक अर्थात् वलय का लगाना अन्दर से पतले मध्यभाग में रख डालना) ठीक नहीं ॥९८६॥

सहसोपायाभिज्ञा गुणविषये सततमाहितप्रीतिः ।
वनिताः स्थापयति बधो करमोर्वग्रहणे मृदुनेव ॥९८७॥

मृदु म उसकी की अजन करने, गुणों के विषय में इच्छा प्रीति रखन

वाली यह करभोरु अपने कोमल शरीर से ही वज्रपातों को वश में रखती है ॥९८७॥

इति तत्स्तुतिमुखरमुखे राजसुते मीनकेतुनाकुलिते ।
समुपागता प्रगल्भा मंजरिकाचोदिता दूती ॥९८८॥

इस प्रकार काम पीड़ित राजपुत्र मञ्जरी की स्तुति कर ही रहा था कि मञ्जरी की भेजी हुई ढीठ दूती पहुँची ॥९८८॥

सा सप्रणति पुरतः सुमनस्ताम्बूलपटलकं निदधे ।
व्यज्ञापयच्च तदनु स्वावसरे सहचरीकार्यम् ॥९८९॥

उसने प्रणति-पूर्वक आगे पान और फूल की टोकरी रख दी, तत्पश्चात् अवसर पाकर सहचरी ने मञ्जरी के काम को निवेदन किया ॥९८९॥

मुररिपुनाभिसरोरुहमवतंसीकर्तुं मोहते मुग्धा ।
नक्षत्रराजमंडलमिच्छति वियतः समादातुम् ॥९९०॥

मुग्ध मञ्जरी विष्णु के नाभि-कमल को अपने कान का अवतंस बनाना चाहती है, आकाश से चन्द्रमण्डल को ग्रहण करना चाहती है ॥९९ ।

निःशेषमभिकांक्षति पीयूषं त्रिदिवसद्मनामशनम् ।
अभिलषति शयनमुष्णे नवचन्दनपल्लवास्तरणे ॥९९१॥

वह स्वर्ग वालों के भोजन अमृत की इच्छा करती है, उष्णता में नये चन्दन के पल्लवों के बिछावन को शय्या बनाना चाहती है ॥९९१॥

विदधाति पारिजातकसुमनोनिर्व्यूहधारणश्रद्धाम् ।
दुर्व्यवसिता जिघृक्षति नारायणवक्षसो रत्नम् ॥९९२॥

पारिजात (स्वर्गीय वृक्ष) के फूलों के गुच्छे धारण करने में श्रद्धा रखती है कष्टकर व्यवसाय में लगी वह नारायण के वक्ष पर रहने वाले कौस्तुभ रत्न का ग्रहण करना चाहती है ॥९९२॥

अनियतपुरुषस्पृश्या पापा वयमन्यया क्व हीनकुला ।
क्व च भूपमिन्द्रकल्पा मनस्यमनघो गुणाभरणा ॥६६३॥

कुछ अपने साथ पुरुषों के साथ ही रमण के योग्य, पापिन एवं नीच कुल वाली हम कहाँ और इन्द्रतुल्य वह मन पाप एवं गुणों से भूषित आप लोग कहाँ ! ॥६६३॥

दुष्पूरत्वे प्रकृतिरियं तस्य तु दग्धात्मजन्मनः कापि ।
अगणितयुक्तायुक्तो लगयति चेतो यदस्थाने ॥६६४॥

उस जघन्य स्वभाव वाले जले कामदेव की यह घोर प्रकृति है कि उचित और अनुचित का विचार किए बिना ही चित्त को अस्थान में लगा देता है ॥६६४॥

या हसति सरोजवतीं रसान्विता सहजरागरक्तोऽपि ।
ध्यानमिव आत्मवृत्ति निन्दत्येकत्र पुरुष आसक्ताम् ॥६६५॥

जो मञ्जरी भाव में स्थित मुग्ध होकर सहज अनुराग शालिनी सरोजिनी का उपहास करती है, एक पुरुष (भ्रमर) में आसक्त योगी की वृत्ति की निन्दा करती है ॥६६५॥

स्निग्धति नाभिनन्दति जन्मशतेनापि चपिनो धाराम् ।
पंचासवद्गवति मानर्यम्रमणसंगता स्तौति ॥६६६॥

सैकड़ों जन्मों में भी स्निग्ध रहने वाली भूत की धारा को वह अभिनन्दन नहीं करती, [illegible] राग से नहीं [illegible] होने वाली पांच कौड़ियों [illegible] ईरा को वह प्रशंसा नहीं करती ॥६६६॥

न स्तौति चन्दनलतां भुजंगपरिवेष्टितां रसार्द्रोऽपि ।
न शृणोति कीर्त्यमानां स्वप्नेऽप्यपि मदनमूर्छितां मत्तीम् ॥६६७॥

भुजंगों से परिवेष्टित चन्दनलता को [illegible] कर स्तुति नहीं करती, कामपूर्छित [illegible] की कीर्ति स्वप्न में भी नहीं सुनती ॥६६७॥

विद्वेष्टि करणमध्ये रसनां ताम्बूलरागरक्तेति ।
शंसति मतिं मुमुक्षोरविशिष्टां शशवृषाश्वपुरुषेषु ॥९९८॥

ताम्बूल के राग से युक्त समझ कर इन्द्रियों में रसना से विद्वेष करती है। शश वृषभ, अश्वजातीय पुरुषों में भेदभाव न रखने वाली मुमुक्षु जन की बुद्धि की वह सराहना करती है[1] ॥९९८॥

नो बहु मनुते रम्भां नलकूबरमभिसृतेति कामार्ता ।
गर्हति च देवगणिकामनुरक्तामुर्वशीं पुरूरवसि ॥९९९॥

जो कामार्ता होकर भी नलकूबर का अभिसरण करने वाली रम्भा को

१—जिस प्रकार मुमुक्षु प्राणी ब्राह्मण और हाथी कुत्ते चाण्डाल आदि में कोई भेद-भाव नहीं रखता उस प्रकार वह भी कामशास्त्र के अनुसार शशादिजातीय पुरुषों में समान रूप से अनुराग है। तथा—

मृदुचपलसुशीलः क्षेमभागः सुवेषः सकलगुणनिधानं चित्तहारी शशोऽसौ ।
वदति मधुरवाणीं नृत्यगीतानुरक्तो द्विजगुरुसुरभक्तो बन्धुसुखे कलाढ्यः ॥

धीजितो गायनश्चैव नारीसत्यपरः सुखी
षडङ्गुलशरीरश्च श्रीमांश्च शशको मतः ॥
उदरस्फटिकशाखः शीघ्रगामी नतांसः
कमलकठिनदेहः स्पष्टवादी वृषोऽसौ ।
भ्रमणतरुणबुद्धिः तीव्रः चीर्णविलासो
बहुगुणबहुतेजा दीर्घनेत्रोऽभिमानी ॥
उपकारपरो नित्यं तीव्रः श्लेष्मलस्तथा
दशाङ्गुलशरीरस्तु मेदस्वी वृषभो मतः ।
उदरस्फटिकशाखो दीर्घकण्ठाधरोष्ठो
दशनवदननेत्रे तस्य दीर्घोऽपि नाभिः ॥
सुस्वरश्चपलश्चैव मिथ्यावादी च निर्भयः ।
द्वादशाङ्गुललिङ्गस्तु तुरङ्गोऽपि हयो मतः ॥
मीननाथकृत स्मरदीपिका

बहुमान प्रकट नहीं करती, पुरुरवा में अनुरक्त मेनका उर्वशी की निन्दा करती है ॥९९९॥

हरति मनो नो ह्रियते रंजयति न रज्यते कदाचिदपि ।

गृह्णाति चित्रचरितैरप्रकृतिभिर्गृह्यते न वल्लभाभिः ॥१०००॥

वह (दूसरों के) मन को हर लेती है पर (तुम्हारे प्रति आसक्त होने के कारण किसी के द्वारा उसका मन) हरण नहीं किया जाता, दूसरों का प्रसन्न करती है पर खुद कभी भी प्रसन्न नहीं होती वरन सहज विचित्र विलास द्वारा दूसरों को वशीभूत कर लेती है पर दूसरों के अनुनय उपचारों द्वारा भी स्वयं वशीभूत नहीं होती ॥१०००॥

प्रेममयीवाभाति प्रेम तु नाम्नैव केवलं वेत्ति ।

कण्टकिता भवति रते रतभोगसुखं शृणोति लोकात् ॥१००१॥

प्रेममयी वैसी प्रतीत होती है लेकिन प्रेम को केवल नाम से ही जानती है । रतिकाल में रोमाञ्चित हो जाती है पर लोगों से रति-भोग के सुख को श्रवण करती है ॥१००२॥

कुरुते विविधकचाटून् शिल्पविशेषेण न तु रसावेशात् ।

अनभिज्ञा मदनरुजामाकल्पकवेदना समावहति ॥१००२॥

कला के एक भेद ज्ञान के कारण विविध प्रिय वचन बोलती है न कि प्रेम के आवेश से बोलती है उसे काम सम्बन्धी रोगों का पता नहीं वरन प्रमप्रसाधन-सम्बन्धी क्रियाओं (कल्पनाओं) की वेदना का अनुभव करती है ॥१००२॥

बालैवार्जवरहिता स्फुरत्यम्बरमेत्य चन्द्रलेखेव ।

हृतधनपतिमाहात्म्या प्रवृत्तिरिव राक्षसां पत्युः ॥१००३॥

अभी बाला एवं आर्जवरहित (कुटिल वक्र) चन्द्रलेखा की भाँति यह बाला (अम्बर वस्त्र की उम्र वाली) अम्बरस्था और धनी ईश्वर (किसी पद में धन सम्पन्न व्यक्ति) को पाकर स्फुरित हो उठी है, राक्षसराज रावण की प्रवृत्ति के

समान जिसने धनपति (कुबेर, पक्ष में धनवानों) के माहात्म्य को हरण कर लिया है ॥१००३॥

नरनाथ किं ब्रवीमि त्रिपुरान्तकनयनवह्निदग्धोऽपि ।
दुःसाध्यसाधनग्रहमुत्सृजति न पापकुसुमास्त्रः ॥१००४॥

हे नरनाथ, क्या कहूँ, त्रिपुर के नाशक शिवजी की नेत्राग्नि से जला भी पापी कामदेव दुःसाध्य कार्य के साधन की हठकारिता का त्याग नहीं करता ॥१००४॥

त्वद्दर्शनावकाशं संप्राप्य यतो दुरात्मना तेन ।
चिरसम्भृतकोपेन प्रारब्धा सापि हन्तुमिषुधारैः ॥१००५॥

जिस कारण तुम्हारे दर्शन का अवसर पाकर बहुत दिनों से संचित कोप वाला वह दुरात्मा उसे भी बाणों की वर्षा से मारने लगा है ॥१००५॥

अवहेलयैव भवता संस्पृष्टा येन नेत्रदण्डेन ।
जातः स एव तस्या अनन्यभवमार्गणः प्रथमः ॥१००६॥

आपने खेल में ही जिस नेत्र दण्ड से उसे स्पर्श कर लिया है वही उसके लिए कामदेव का पहला बाण हो गया है ॥१००६॥

विज्ञानार्जितदर्पो निभृतं हसितः समानधिष्ण्याभिः ।
त्वयि सस्पृहया सख्या विसंष्ठुले नाट्यनिर्माणे ॥१००७॥

(नाट्य के प्रसंग में) जब वह तुम्हारी ओर स्थिर दृष्टि से देखने लगी तब अभिनय का काम बिलकुल गड़बड़ हो गया और नाट्यकला में उसकी बराबरी करने वाली औरों ने उसके विज्ञान द्वारा अर्जित दर्प का उपहास किया ॥१००७॥

अवधीर्याचार्यत्वं भरतोदितदोषकरणसम्भूताम् ।
विस्तारितः प्रयोगस्त्वदवस्थितिसाक्ष्या तन्व्या ॥१००८॥

भरतमुनि के बताए हुए दोषों के करने से उत्पन्न आचार्यत्व के गौरव की

परवाह न करके तुम ठहरे रहो इस इच्छा से उन्होंने अपने अभिनय का विस्तार कर दिया ॥१००८॥

भग्नेऽपि प्रेक्षणके तदनन्तरभूमिकाश्रयावस्थाः ।
गृह एव निरवसानं वितनोति न नाट्यधर्मेण ॥१००९॥

नाट्य के समाप्त हो जाने पर भी उसके बाद की भूमिका की अवस्थाओं को निरन्तर घर ही पर सम्पन्न करती है न कि अभिनय का अनुकरण करती है ॥१००९॥

ध्यायन्त एकं पुरुषं परमात्मविदः शशंस या न पुरा ।
ताननुकुरुते सैव ध्यायन्ती त्वां महापुरुषम् ॥१०१०॥

जो पहले एक पुरुष (अधिष्ठानभूत ब्रह्म) का ध्यान करते हुए अध्यात्मज्ञानियों की प्रशंसा नहीं करती थी वही अब महान् पुरुष तुमको ध्यान करती हुई उन (ब्रह्मज्ञानियों) का अनुकरण करती है ॥१०१०॥

गतमेवमेवमासितमालोकितमेवमेवमालपितम् ।
इति विस्मृतान्यकार्या स्मरति कृशाङ्गी त्वदीयलीलानाम् ॥१०११॥

इस प्रकार वे चलते हैं, इस प्रकार बैठते हैं, इस प्रकार बोलते हैं इस प्रकार तुम्हारी लीलाओं को यह कृशाङ्गी सब कुछ भूल कर याद करती रहती है ॥१०११॥

नलकूबरो वराको रतिरमणो रमण एव किं तेन ।
अनिरुद्धोऽपि न शुद्धो विदग्धविहितासु सुरतगोष्ठीषु ॥१०१२॥

नलकूबर बेचारा अपेक्षा हीन है, रतिरमण कामदेव नाम मात्र का ही रमण है, उससे क्या होगा ? अनिरुद्ध भी विदग्ध-जनोचित सुरतगोष्ठियों में परिष्कृत नहीं है ॥१०१२॥

न जयन्तोऽनन्तगुणो न कुमारो मारकर्मणोत्साहः ।
येन समतां नयामस्तमिति सखी वहति मानसं क्लेशम् ॥१०१३॥

जयन्त अनन्त गुणशाली नहीं है एवं कुमार (कार्तिकेय) भी मारक्रिया में

अनभिज्ञ है, हम इस राजपुत्र की तुलना किससे करें, इस प्रकार सखी मन में क्षोभ धारण करती है ॥१ १३॥

आगतमागच्छन्तं पुरतः पार्श्वे प्रसन्नमथ कुपितम् ।
पश्यति भवन्तमेकं सङ्कल्पनिवेशितं बाला ॥१०१४॥

कभी आए हुए कभी आते हुए, कभी सामने, कभी बगल में, कभी प्रसन्न और कभी कुपित अपने सङ्कल्प से उपस्थापित एक ही आपको, वह बाला देखा करती है ॥१ १४॥

रम्यः शान्तो हृद्यः सुभगः सुखदो मनोहरो रमणः ।
इष्टः स्वामी दयितः प्राणेशः केलिकरणनिपुण इति ॥१०१५॥

मुक्तान्यसमारम्भा वरतनुरनुपप्लुतेन चित्तेन ।
जपति समीहितसिद्ध्यै त्वद्वाचकनामकं महास्तोत्रम् ॥१०१६॥

वह वरतनु अन्य समस्त चेष्टाओं को त्याग करके इष्टसिद्धि के लिए एकाग्र चित्त से 'रम्य, शान्त, हृद्य, सुभग, सुखद, मनोहर, रमण, इष्ट, स्वामी, दयित, प्राणेश और केलिकरणनिपुण' इन वाचकनामों वाले महामन्त्र का जप करती रहती है ॥१ १५,१ १६॥

तामेव गच्छ यस्यामासक्त्या विलम्बितोऽसि गतलज्ज ।
वेलामियतीमलमसमेतैरधुना शठानुनयैः ॥१०१७॥

'निर्लज्ज, उसी के पास जाओ, जिसमें आसक्त होकर देर कर रहे हो, इस समय इतनी देर तक इन शठ अनुनयों से कोई लाभ नहीं ॥१ १७॥

वक्ष्यामि सापराधं कोपस्फुरदधरमञ्चितभ्रूकम् ।
इति विदधाति सुमध्या हृदयेन मनोरथावलिम् ॥१०१८॥

यह अपराधयुक्त के अपराधी उससे कहूँगी, इस प्रकार वह शोभन मध्यभाग वाली अपने हृदय में मनोरथों को दुहराती रहती है ॥१ १८॥

दत्सहते न द्रष्टुं प्रतिबिम्बितमाननं कुतः शशिनम्।
का संकथा मृणाले क्षिपति भुजौ सर्वतो व्यथिता ॥१०१९॥

दर्पण में प्रतिबिम्बित अपना मुख भी वह देखने का उत्साह नहीं करती, 'फिर चन्द्र की बात क्या?' व्यथित वह अपनी बाँह चारों ओर फेंकती रहती है, फिर मृणालों पर अपनी बाँहें स्थापित करेगी यह प्रश्न नहीं उठता ॥१ १९॥

दूरे कदलीदण्डा ऊर्वोरपि न सहते समाश्लेषम्।
करसम्पर्कोद्विमुखी विश्राम्यति पल्लवेष्विति विरुद्धम् ॥१०२०॥

वह अपने ऊरुओं का भी सम्पर्क सहन नहीं कर पाती ऐसी स्थिति में कदलों के दण्डों की बात तो दूर रहे, वह जब कि अपने हाथ के सम्पर्क से भी विमुख रहती है तो 'पल्लवों पर विश्राम करती है' यह कथन सर्वथा विरुद्ध है ॥१०२०॥

अयि मंजरि सैव त्वं विदग्धजनमण्डिता पुरी सैव।
कुसुमायुधः स एव व्यसनं कुत एतदायातम् ॥१०२१॥

'अयि मञ्जरि, तू वही है, विदग्धजनों से मण्डित नगरी वही है, कामदेव वही है, फिर यह व्यसन कहाँ से आया है? ॥१ २१॥

यस्याः कामः कृपणो रागाकृष्टिस्तृणोपनमस्या।
सापि गता भूमिमिमां जीवन्त्या नेष्यते किमिह ॥१०२२॥

जिसको कामदेव कृपण है (अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता) जिसका (किसी के प्रति) राग में आकर्षण तृण के समान (तुच्छ) है वह भी तू इस अवस्था को पहुँच चुकी है संसार में जीवित प्राणी क्या नहीं देखता ॥१ २ ॥

अभियोगशिक्षितानामशिक्षितानां च मदनचेष्टानाम्।
सुतनु विशेषग्रहणे सामर्थ्यं सहिदामेन ॥१०२३॥

हे सुतनु अभ्यासपूर्वक सीखी हुई (अर्थात् कृत्रिम) और अनभ्यस्त मदन-

चेष्टाओं में अन्तर समझने की सामर्थ्य उन्हें ही होती है जो उन चेष्टाओं को जानने वाले होते हैं ॥१०२३॥

व्यथयन्नपि सच्छायः परिजनचिन्ताकरोऽपि रमणीयः ।
आधत्ते त्वयि लक्ष्मीमभिनवरागाश्रयो रागः ॥१०२४॥

यह नये राग से उत्पन्न तेरा क्षोभ कष्ट देता हुआ भी कान्तिमान लगता है, परिजनों को चिन्तित करने पर भी रमणीय लगता है तथा तुझमें अधिक शोभा का आधान करता है ॥१०२४॥

एक स एव जातो भुवनेऽस्मिन्नसमसायकस्पर्धी ।
तेन शशिबिम्बफलके स्वजन्मना लेखितं निजं नाम १०२५॥

इस संसार में कामदेव के साथ स्पर्धा करने वाला एक ही वह पैदा हुआ है। उस सुजन्मा ने चन्द्रमण्डल के फलक पर अपना नाम लिखवाया है ॥१०२५॥

पादस्तेन सलीलं विन्यस्तः सुभगमानिनां मूर्ध्नि ।
सौभाग्ययशःकुसुमं धनपतिसूनोः कदर्थितं तेन ॥१०२६॥

अपने को सुभग मानने वालों के सिर पर उसने चरण रख दिया है तथा उसने धनपति कुबेर के पुत्र नलकूबर के सौभाग्य के यशःपुष्प को मसल डाला है ॥१ २६॥

नरवञ्चनपटुबुद्धि सम्पादितकपटचाटुसङ्घटना ।
त्वमपि विलासिनि नीता गतिमियतीं येन सुभगेन ॥१०२७॥

हे विलासिनि, जिस सुभग पुरुष ने लोगों को ठग लेने में समर्थ बुद्धि वाली एवं कपटपूर्ण प्रियवचनों की घटना रचने वाली तुझे भी इस अवस्था तक पहुँचा दिया है ॥१०२७॥

सुहृदः तस्य स्थानं मतामहे कार्यसाधनायाशु ।
कुर्वंत एव हि यत्नं भिषग्जना कृच्छ्रसाध्यरोगेऽपि ॥१०२८॥

मैं उसका निवास स्थान बता, हम कार्य-सिद्धि के लिए अत्यधिक

चिकित्सा करेंगे, क्योंकि वैद्य लोग कष्टसाध्य रोग में भी यत्न करते ही हैं' ॥१०२८॥

इति गदिते सख्या सा तदभिमुखं चक्षुषी समुन्मील्य ।
वितरति कृच्छ्रेण चिरादुच्चावचविस्पष्टहुङ्कारम् ॥१०२९॥

इस प्रकार सखी के कहने पर उसने उसकी ओर आँखें खोल कर, देर तक चुप रह कर कष्ट के साथ थोड़ा 'हुँ' कह कर उत्तर दिया ॥१०२९॥

का पुरुषार्थसमीहा द्योतयतः शर्वरीं शशाङ्कस्य ।
तपयतो भुवमखिलां सलिलमुचां कोऽभिकाङ्क्षितो लाभः ॥१०३०॥

चन्द्र जो रात्रि को उद्भासित करता है, इसमें उसे किस पुरुषार्थ को प्राप्त करने की इच्छा है? सारी धरती को तृप्त करने वाले मेघों का कौन इष्ट लाभ है? ॥१०३०॥

मण्डयितुं वियदुदयति पुरुहूतधनुर्विनैव फलवाञ्छाम् ।
अनपेक्षितात्मकार्यः परहितकरणग्रहः सतां सहजः ॥१०३१॥

बिना फल की इच्छा रखे भी आकाश की शोभा बढ़ाने के लिए इन्द्रधनुष उदय होता है, इस प्रकार अपने स्वार्थ की अपेक्षा न करके दूसरे का भला करने का आग्रह सज्जनों को स्वाभाविक होता है ॥१०३१॥

प्रायेण यन्निदानं तत्सेवनमुपशमाय रोगाणाम् ।
स्मरमान्द्यं तु यदुत्थं तदेव खलु भेषजं यतस्तस्य ॥१०३२॥

प्रायः करके रोगों का जो निदान (आदि कारण) होता है उसके सेवन से वे रोग दूर हो जाते हैं इसलिए जिससे स्मरमान्द्य का रोग उत्पन्न हुआ है वही उसकी दवा है ॥१०३२॥

तेन स्पृहयति सुतनुस्त्वत्पादयुगाग्ररेणुसङ्गतये ।
आशीर्विषयोपेते सम्भोगसुखोदये तु नाकाङ्क्षा ॥१०३३॥

इसलिए वह सुतनु तुम्हारे चरण-कमलों की रेणु के सम्पर्क की स्पृहा करती

है, उसे लोगों के आशीर्वाद से मिलने वाले सम्भोग-सुख की आकांक्षा नहीं है ॥१०३३॥

प्रमदमुपैति मयूरी परमं शब्देन वारिवाहस्य ।
अनिमिषविलोकितेन प्राप्नोति भ्रमी कृतार्थतामेव ॥१०३४॥

मेघ का गर्जन सुनकर मोरनी परम आनन्द का अनुभव करती है तथा मछली (प्रिय को) एक टक से देखते रहने से कृतार्थता प्राप्त करती है ॥१०३४॥

न वृथास्तुतिमुखरतया न च युष्मल्लोभनाभियोगेन ।
विदधामि तद्गुणाख्यां स्वस्वभावप्रश्नेन ॥१०३५॥

न ही वृथा स्तुति करने में मुखर होने के कारण अथवा न तो तुम्हें लुभाने के अभिनिवेश से मञ्जरी के गुणों का बखान कर रही हूँ, बल्कि उसके स्वभावादि से परिचय कराने के लिए उसके गुणों का बखान कर रही हूँ ॥१०३५॥

सद्भावबद्धमूले स्मितदृष्टिभ्रूविकारपल्लविते ।
सेवन्ते हृदयरसा रागतरौ मञ्जरीं धन्याः ॥१०३६॥

भाग्यशाली लोग सद्भाव रूप सुदृढ मूल के ऊपर प्रतिष्ठित स्मित, दृष्टि, भ्रूविलास रूप पल्लव से समन्वित अनुराग-वृक्ष की हृदयरसवासिनी मञ्जरी का सेवन करते हैं ॥१०३६॥

तिष्ठतु तदंगसङ्गो विलोकिता येन झगिति वरगात्री ।
तस्यान्यो युवतिजनः प्रतिभाति मनुष्यरूपेण ॥१०३७॥

उसके अङ्गों का जिसे सम्पर्क हुआ है उसकी बात तो रहने दीजिए, जिसने उस वरगात्री का झिक देख लिया है उसे दूसरी स्त्रियाँ पुरुष के आकार की प्रतीत होती हैं ॥१०३७॥

सकृदपि यैरनुभूतस्तत्तनुपरिरम्भसुखरसास्वादः ।
विद्धि नराधिप तेषां दूरीभूतं प्रजाकार्यम् ॥१०३८॥

हे नराधिप एक बार भी जिन्होंने उसके शरीर के आलिङ्गनसुख के रस का आस्वाद लिया है जानो कि व प्रजा का कार्य बिल्कुल छोड़ बैठे ॥१०३८॥

आस्था का खलु तस्या विषयग्रहदुर्बलेषु पुरुषेषु ।
यस्या विलासजालकपतितः शकुनायते कपिलः ॥१०३९॥

जिसके विलासों के फन्दे में पड़े कपिल (सांख्यशास्त्र के रचयिता) पक्षी की भाँति आचरण करने लगते हैं, विषयों में पड़े रहने से दुर्बल पुरुषों को वह यूँ ही समझती है ॥१०३९॥

दग्ध्वा पुनरपि दग्धा नूनमनङ्गो हरेण तां तन्वीम् ।
दृष्ट्वापि येन तिष्ठसि निराकुलः स्वस्थवृत्तेन ॥१०४०॥

शिवजी के द्वारा जला दिया गया भी अनङ्ग निश्चय ही फिर से (दुबारे) जला दिया गया, जिस कारण उस तन्वी को देख कर भी निराकुल रहते हो ॥१०४०॥

अथ विरतोक्तौ तस्यामुत्कण्ठितमानसे च नृपतौ च ।
कश्चिदगायद्गीतिं स्मृतिसङ्गतिमागतां प्रसङ्गेन ॥१०४१॥

अनन्तर उस दूती के चुप हो जाने पर और राजा के अत्यन्त उत्कण्ठित होने पर किसी ने प्रसङ्ग से याद आई गीति का गान किया ॥१०४१॥

अन्योन्यगाढरागप्रचलाकृतचित्तजन्मनोर्यूनोः ।
कालात्ययो मनागपि समागमानन्दविघ्नकरः ॥१०४२॥

'तरुण और तरुणी के परस्पर गाढ़े स्नेह के कारण कामदेव के प्रबल हो जाने पर थोड़ा भी समय का अतिक्रमण समागम के आनन्द में विघ्न करने वाला होता है' ॥१०४२॥

श्रुत्वा सिंहभटसुतः प्रियाप्रियो गीतिमान्स्मितप्रश्रयम् ।
निजगाद चारुभाषिणि गीतिरियं समयसम्मतं कथितम् ॥१०४३॥

उस गीति को सुन कर प्रणय-पूर्वक हँसते प्रिया का प्रिय उस दूती से मुस्कुराते हुए बोला—हे चारुभाषिणि, गीतिका ने सामयिक कहा है ॥१०४३॥

अभिनन्द्य सा तथेति प्रययौ प्रमदावती निजं भवनम् ।
अकरोच्च विदितकार्यां युक्तेऽवसरे मनोरमां गणिकाम् ॥१०४४॥

प्रथम वह दूती उसे 'तथा' कहने से अभिनन्दन करके अपने घर चली गई और ठीक समय में उस सुन्दरी गणिका को विज्ञापित किया ॥१०४४॥

अथ सा कृतसंकल्पा सत्वरमादाय रुचिरविच्छित्तिम् ।
प्रासाद्य नृपनिशान्तं विवेश सञ्चारिकासहिता ॥१०४५॥

अनन्तर उस मञ्जरी ने मन में निश्चय कर शीघ्र ही थोड़ा रुचिर साज-सिंगार कर, राजा के घर पहुंच कर पहुँचाने वाली दूती के साथ प्रवेश किया ॥१०४५॥

विहितनमस्कृति रासनमधितष्ठौ नायकेन निर्दिष्टम् ।
पृष्टे च देहकुशले विनयान्वितमभ्यधाद्दूती ॥१०४६॥

नमस्कार करके नायक के द्वारा निर्दिष्ट आसन पर वह बैठी, फिर नायक ने शरीर का आरोग्य पूछा। तब दूती ने विनय-पूर्वक कहा ॥१०४६॥

श्रीमन्नद्य श्रेयः सम्पन्ना गुरुजनाशिषोऽशेषाः ।
अद्य मदनः प्रसन्नो भाग्यचयैरद्य परिणतं फलतः ॥१०४७॥

'श्रीमन्, आज गुरुजनों के समस्त आशीर्वाद सफल हुए, आज कामदेव प्रसन्न है एवं हमारे भाग्य फलीभूत हुए ॥१०४७॥

अद्य जननी प्रसूता सौभाग्यगुणोदयोऽद्य निष्पन्नः ।
त्वयि वितरति सस्नेहं निरामयप्रश्नमारतीं तस्याः ॥१०४८॥

आज माता का पैदा करना सफल हुआ, आज सौभाग्य गुण का उदय हुआ, जब कि आपने उसके निरामय के प्रश्न की वाणी को वितरण किया ॥१०४८॥

उत्कलिकाकुलमनसामुद्रिक्तरिरंसयाभिभूतानाम् ।
औदासीन्यं भजता समा यतो भवति नायिका यूनाम् ॥१०४९॥

उत्कण्ठाओं से आकुल मन वाले, उद्र रमणेच्छा से अभिभूत होने पर

अपने कलरव में उदासीन होते हुए युवक-युवतियों के बीच जो नारी उपस्थित रहती है वह मूर्ख है ॥१०४९॥

धृतकुसुमशरधनुषा सहायवांस्तिष्ठ दयितया सार्धम् ।
यामो वयं न राजति विजनस्थितिमिथुनसन्निधावपरः ॥१०५०॥

कुसुमशर कामदेव को धारण की हुई प्रियतमा के साथ यहाँ ठहरो हम जाते हैं, क्योंकि एकान्त में बैठी जोड़ियों के समीप दूसरा आदमी अच्छा नहीं लगता ॥१०५०॥

एषा नृत्यभ्रान्ता मदनेनायासितातिसुकुमारा ।
त्वमपि रतिश्रमरपूरः स्वर्गभुवः सन्तु कुशलाय ॥१०५१॥

यह मञ्जरी नृत्य करने से थकी हुई, मदन द्वारा आयासित एवं अति सुकुमार है, तुम भी रतिपुत्र के सदृश हो, पितर तुम्हारा कल्याण करें ॥१०५१॥

यावद्यावदशक्तिं प्रथयति ललनाऽहि मोहनाक्रान्ता ।
तावत्तावत्पुंसामुत्साहः पल्लवान्समुत्सृजति ॥१०५२॥

सुरत के आनन्द से अभिभूत ललना जैसे-जैसे अपनी अशक्तता प्रकट करती है वैसे-वैसे पुरुषों का उत्साह पल्लवित होता रहता है ॥१०५२॥

इति शून्यीकृतवेश्मनि हरति शनैः सहजमंशुकं तस्मिन् ।
दर्शितसाध्वसलज्जा जगाद सा किं करोषीति १०५३॥

जब भागकर मित्रयुक्त सूना हो गया तब उसने सहज भाव से धीरे से अंशुक को हटाया तब भय और लज्जा प्रकट करके गणिका ने कहा—'मुझे क्या करते हो ॥१०५३॥

अयि मुग्धे तत्क्रियते पुरुषार्थचतुष्टयस्य यत्सारम् ।
इति निगदितसस्मरः स्मरविधुरित आवतान रतिजन्महम् ।१०५४॥

'अयि मुग्ध, वह (काम) करता हूँ जो चारो पुरुषार्थों का सार है' यह मुसकराते हुए बार बार स्मर पीड़ित उस राजपुत्र ने रतियुद्ध प्रारम्भ कर दिया ॥१०५४॥

नानासुरतविशेषैराराध्य चकार भुक्तसर्वस्वम् ।
गणिकासौ राजसुतं त्वगस्थिशेषं मुमोच नातिचिरात् ॥१०५५॥

फिर उस गणिका ने नाना प्रकार के सुरतविशेषों से आराधना करके उसका सर्वस्व ऐंठ लिया और बिना विलम्ब उसे मांस-हड्डी शेष करके छोड़ दिया ॥१ ५५॥

तद्यन्मयोपदिष्टं कामिजनार्थाप्तिकारणं तेन ।
महतीं समृद्धिमेष्यसि कामुकलोकाहृतेन वित्तेन ॥१०५६॥

तो जोकि मैंने कामुक जनों के धन लेने का उपाय बताया है उससे कामुक जनों के हरण किए हुए धन से तू महती समृद्धि प्राप्त करेगी ॥१०५६॥

इत्युपदेशश्रवणप्रबोध तुष्टा जगाम धाम स्वम् ।
मालत्यपगतमोहा विकरालापादवन्दनां कृत्वा ॥१०५७॥

इस प्रकार के उपदेश के श्रवण से उत्पन्न प्रबोध से सन्तुष्ट एवं मोहरहित मालती विकराला की चरणवन्दना करके अपने घर गई ॥१०५७॥

काव्यमिदं य शृणुते सम्यक्काव्यार्थपालनेनासौ ।
नो वंच्यते कदाचिद्विटवेश्याधूर्तकुट्टनीभिरिति ॥१०५८॥

इस काव्य को जो व्यक्ति का काव्यार्थ का सम्यक प्रकार से पालन करते हुए (स्मरण करते हुए) श्रवण करता है वह कभी विट, वेश्या, धूर्त एवं कुट्टनी से ठगा नहीं जाता ॥१ ५८॥

—( )—